

# योगसार-प्रवचन

(पू. गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के योगसार पर प्रवचन)

प्रस्तावना व पद्यानुवाद :

**डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल**

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी-एच.डी.

हिन्दी अनुवादिका :

**ब्र. विमला बैन, जबलपुर**

प्रकाशक :

**जिनश्रुत प्रकाशन समिति, जयपुर**

**एवं**

**पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर**

प्रथम दो संस्करण : 4 हजार 200  
( 6 नवम्बर, 1991 से अद्यतन )  
तृतीय संस्करण : 2 हजार  
( 1 जनवरी, 1999 )

---

---

योग : 6 हजार 200

---

---

मूल्य : बीस रुपए



मुद्रक :

जे. के. ऑफसेट प्रिन्टर्स  
जामा मस्जिद, दिल्ली

## Thanks & Our Request

This shastra has been kindly donated by Dakshaben Sanghvi, Geneva, Switzerland who has paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

- 1) Great care has been taken to ensure this electronic version of [Yogsaar Pravachan \(Hindi\)](#) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on [rajesh@AtmaDharma.com](mailto:rajesh@AtmaDharma.com) so that we can make this beautiful work even more accurate.
- 2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

## Version History

Version Number	Date	Changes
001	9 December 2009	First electronic version

## प्रकाशकीय ( तृतीय संस्करण )

आचार्य योगीन्दुदेव कृत 'योगसार' पर आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का यह तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

योगीन्दुदेव आचार्य कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक परम्परा के आचार्य थे, जिन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत जैसी विद्वत ग्राह्य भाषा के स्थान पर सरल व सुबोध शैली में अपभ्रंश जैसी जन सामान्य की उनकी अपनी प्रचलित भाषा में आत्महितकारी बात को बतलाया है।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने अपने प्रवचनों के माध्यम से इसे जन सामान्य की भाषा में उपलब्ध कराकर महान उपकार किया है। स्वामीजी के इस ग्रंथ पर हुए प्रवचन को प्रकाशित करने की प्रेरणा ब्र. यशपालजी की रही है। उन्होंने ब्र. विमला बहन द्वारा गुजसती से हिन्दी अनुवाद करवाने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है; इस कार्य के लिए दोनों बधाई के पात्र हैं। साथ ही डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का भी हम हृदय से आभार मानते हैं जिन्होंने उक्त ग्रंथ की प्रस्तावना लिखकर ग्रंथ को और भी अधिक उपयोगी बना दिया है। डॉ. भारिल्लजी के पद्यानुवाद ने ग्रंथ में चार-चांद लगा दिए हैं।

अन्त में पुस्तक की मुद्रण व्यवस्था हेतु विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने कागज, मुद्रण एवं बाइण्डिंग का कार्य समय पर कराने में सहयोग दिया है।

ग्रंथ के विषय में अधिक क्या लिखें विस्तृत जानकारी भूमिका में प्रकाशित है ही। आप सभी ग्रंथ का अध्ययन-मनन कर अपने भविष्य को सफल बनावें इसी भावना के साथ –

महामंत्री  
जिनश्रुत प्रकाशन समिति, जयपुर

महामंत्री  
पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

## अनुवादकीय

अध्यात्मरस से ओतप्रोत यह योगसार नामक ग्रन्थराज आज से लगभग १३००, १४०० वर्ष पूर्व आचार्य श्री योगीन्दुदेव द्वारा रचा गया था। ग्रन्थराज स्वयं में तो अद्भुत है ही, और अध्यात्मरस के रसिक युगपुरुष श्री कानजी स्वामी के हाथ में आ गया तो फिर क्या कहना ! मानो सोने में सुगंध की उक्ति चरितार्थ हो गई।

अध्यात्मरस निर्मित ग्रन्थों रूपी कमलों का पराग चूसने के लिए श्री कानजी स्वामी जी भ्रमर ही थे। उनने इस ग्रन्थ का अध्ययन करके उसके मर्म को आत्मसात तो किया ही, साथ ही उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों का मर्म अपने उपदेशों में भी खोला। उनके द्वारा प्रदत्त गूढ रहस्यों को मैंने साक्षात् श्रवण करके अपने को धन्य माना था। उस समय तो ऐसा लगता था कि आचार्यदेव अभी-अभी स्वरूप की गुप्त गुफा में जाकर अतीन्द्रिय आनंद का आस्वादन करके आये हों, और जो आस्वादन में आया है वही ताजा का ताजा रच दिया हो। इसमें कोई शंका की गुंजाइश भी नहीं है, क्योंकि वीतरागी संतों की ऐसी दशा तो स्वाभाविक होती ही है। वीतरागी संत जहाँ रमते हैं, वहाँ ही रमने की जगत को प्रेरणा भी देते हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री के उपदेशों को सोनगढ़ संस्था ने संचित करके उसे गुजराती भाषा में “हूँ परमात्मा” के रूप में छपाया था। लेकिन गुजराती भाषा सभी हिन्दीभाषी जन नहीं पढ़ सकते। इसलिए श्री स्वामीजी के प्रवचनों के रसिक जयपुर निवासी, श्री निहालचंद जी ने योगसार के प्रवचनों को हिन्दी में छापने की भावना ब्र. यशपाल जी के समक्ष व्यक्त की। ब्र. यशपाल जी द्वारा यह जानकारी मुझे मिली। उनकी भावना का मैंने सहर्ष सत्कार किया।

इस अनुवाद में पू. गुरुदेव श्री के भावों पर अर्थात् पू. गुरुदेव जहाँ जो अपेक्षा से वजन देना चाहते हैं उस पर पूरी तरह से ध्यान रखा गया है।

ग्रन्थराज के जिन मर्मों को अल्पवय में श्रवण किये थे, उन्हीं को अति नजदीकी से समझने का पुनः सुअवसर मिला, जिस कारण अन्दर की परिणति को अतिबल मिला और सुसुप्त चेतना जागृत हो उठी। उसी के परिणामस्वरूप यह अनुवाद वाचकों के समक्ष प्रस्तुत कर रही हूँ। आशा है वाचकगण इसका भरपूर लाभ लेंगे तो मुझे अत्यंत प्रमोद होगा। इसी भावना के साथ जय जिनेन्द्र।

ब्र. विमलाबेन, जबलपुर

## प्रस्तावना

— डॉ. हुकमचन्द भारेल्ल

मुनिराज श्री योगीन्दुदेव कृत योगसार विशुद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ पर आचार्य कुंदकुंद के समयसार की छाया स्पष्ट देखी जा सकती है। ग्रन्थाधिराज समयसार के समान इस ग्रन्थ में भी शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार, एक ज्ञायक स्वभावी निज भगवान आत्मा के ही गीत गाये हैं और उसमें ही जमने-रमने की पावन प्रेरणा दी गई है। यही कारण है कि इस युग के महान आध्यात्मिक उपदेष्टा श्री कानजी स्वामी समयसार के समान इस पर भी मंत्र-मुग्ध थे। उन्होंने समयसार के समान इस पर भी प्रवचन किये हैं। अध्यात्म रसिकों के लिए अत्यन्त प्रिय यह ग्रन्थ स्वामीजी के सरस प्रवचनों का स्पर्श पाकर अध्यात्म जगत का हृदय-हार ही बन गया है।

ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में स्वामीजी अपने उद्गार इसप्रकार प्रगट करते हैं :—

“दिगम्बर संत श्री योगीन्दुदेव ने सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकर भगवान द्वारा कहा गया मार्ग ही इस योगसार ग्रन्थ में बताया है। इसमें उन्होंने निजस्वभाव में स्थिरता करके धर्माभूत रूपी अमृत पिलाकर अमर होने का उपाय जगत को बताया है।”

मूल ग्रन्थ और स्वामीजी के प्रवचनों का आनन्द तो पाठकों को ग्रन्थ के आद्योपान्त अध्ययन से ही प्राप्त होगा; तथापि यहाँ उसकी विषय-वस्तु का सिंहावलोकन अपेक्षित है।

तत्कालीन लोक के सन्दर्भ में ग्रन्थकार का जो आकलन है, वह आज की परिस्थितियों में भी उतना ही सटीक एवं वास्तविक प्रतीत होता है, जितना कि तत्कालीन युग में रहा होगा। ग्रन्थकार की दृष्टि में सम्पूर्ण जगत की स्थिति तो यह है, या तो वह अपने धंधे-व्यापार में उलझा रहता है, आजीविका जुटाने में ही लगा रहता है, या फिर उपलब्ध भोग सामग्री के भोगने में ही मग्न रहता है।

यदि थोड़ी बहुत धर्मबुद्धि हुई तो भी धर्म के मूल स्वरूप तक नहीं पहुँचता है या तो पोथियों को पढ़-पढ़कर पण्डित बन जाता है या फिर मठ-मन्दिर में रहने लगता है और मठाधीश बन जाता है या फिर केशलुंच करके साधुओं की जमात में शामिल हो जाता है; पर आत्मा को जानने में अपने पुरुषार्थ को नहीं लगाता है। इसकारण जहाँ का तहाँ ही रहता है, आत्मकल्याण के मार्ग पर नहीं बढ़ पाता है, मुक्ति के मार्ग पर नहीं चल पाता है। ऐसी स्थिति में मुक्ति की प्राप्ति कैसे संभव है ?

उक्त स्थिति का चिन्तन करने वाली योगीन्दुदेव की मूल गाथाएँ इसप्रकार हैं :—

धंधे पड़ा सारा जगत निज आत्मा जाने नहीं।

बस इसलिए ही जीव यह निर्वाण को पाता नहीं ॥५२॥

शास्त्र पढ़ता जीवजड़ पर आत्मा जाने नहीं।

बस इसलिए ही जीव यह निर्वाण को पाता नहीं ॥५३॥

पोथी पढ़े से धर्म ना ना धर्म मठ के वास से ।  
ना धर्म मस्तक लुँच से ना धर्म पीछी ग्रहण से ॥४७॥  
जो होयेंगे या हो रहे या सिद्ध अब तक जो हुए ।  
यह बात है निर्भ्रान्त वे सब आत्मदर्शन से हुए ॥१०७॥  
सागार या अनगार हो पर आत्मा में बास हो ।  
जिनवर कहें अति शीघ्र ही वह परमसुख को प्राप्त हो ॥६५॥

उक्त छंद योगसार की मूल गाथाओं के हिन्दी पद्यानुवाद हैं । पाठकों को अर्थ समझने में सुविधा रहे-इसलिए मूल गाथाओं के स्थान पर इन्हें दिया गया है । जिन्हें मूल गाथाएँ देखना हों, वे मूल ग्रन्थ का अवलोकन करें ।

उक्त गाथाओं में आत्मदर्शन, आत्मज्ञान और आत्मा में वास अर्थात् आत्मलीनता को ही मुक्ति प्राप्त करने का एक मात्र उपाय बताया गया है । यहाँ तक लिखा गया है कि आज तक जितने भी जीव सिद्ध हुए हैं; वे सभी आत्मदर्शन से ही हुए हैं और जिन जीवों को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई है, वह भी आत्मज्ञान के अभाव के कारण ही नहीं हुई है और आत्मा में वास करने वालों को अति शीघ्र ही परमसुख की प्राप्ति होगी ।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में आद्योपांत देह देवल में विराजमान निज भगवान आत्मा की आराधना की बात कही गई है । उनका कहना है कि यदि भगवान आत्मा की खोज करनी है तो देह-देवल में करो, तन मंदिर में करो; अन्यत्र करने से कोई लाभ होने वाला नहीं है । उक्त संदर्भ में उनका कथन इसप्रकार है :—

सारा जगत् यह कहे श्री जिनदेव देवल में, रहें ।  
पर विरल ज्ञानी जन कहें कि देह-देवल में रहे ॥४५॥  
देव देवल में नहीं रे मूढ़ ! ना चित्राम में ।  
वे देह-देवल में रहें सम चित्त से यह जान ले ॥४४॥  
श्रुतकेवली ने यह कहा ना देव मन्दिर तीर्थ में ।  
बस देह-देवल में रहें जिनदेव निश्चय जानिये ॥४२॥  
जिनदेव तनमन्दिर रहें जन मंदिरों में खोजते ।  
हंसी आती है कि मानो सिद्ध भोजन खोजते ॥४३॥  
जिस भाँति बड़ में बीज है उस भाँति बड़ भी बीज में ।  
बस इस तरह त्रैलोक्य जिन आत्म बसे इस देह में ॥७४॥

देह-देवल में विराजमान देह से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा को जानना-पहिचानना ही धर्म है । निज भगवान आत्मा को जाने-पहिचाने बिना कितना ही तप-त्याग करो, कितना ही व्रत-शील-संयम धारण करो; कुछ भी होने वाला नहीं है । यदि आत्मकल्याण करना है तो अपनी पूरी शक्ति निज भगवान आत्मा के जानने-पहिचानने में ही लगाओ, अन्यत्र उपयोग भटकाना कुछ भी कार्यकारी नहीं है । योगसार में साफ-साफ लिखा है :—

जब तक न जाने जीव परम पवित्र केवल आत्मा ।  
तब तक सभी व्रत शील संयम कार्यकारी हों नहीं ॥३१॥  
जिनदेव ने ऐसा कहा निज आत्मा को जान लो ।  
यदि छोड़कर व्यवहार सब तो शीघ्र ही भवपार हो ॥३७॥  
परभाव को परित्याग कर अपनत्व आत्म में करे ।  
जिनदेव ने ऐसा कहा शिवपुर गमन वह नर करे ॥३४॥  
आत्मा को जानकर इच्छारहित यदि तप करे ।  
तो परमगति को प्राप्त हो संसार में घूमे नहीं ॥१३॥  
निज आत्मा जाने नहीं अर पुण्य ही करता रहे ।  
तो सिद्ध सुख पावे नहीं संसार में फिरता रहे ॥१५॥  
निज आत्मा को जानना ही एक मुक्तिमार्ग है ।  
कोइ अन्य कारण है नहीं हे योगिजन ! पहिचान लो ॥१६॥  
तुम करो चिन्तन स्मरण अर ध्यान आत्मदेव का ।  
बस एक क्षण में परमपद की प्राप्ति हो इस कार्य से ॥१६॥  
यदि चाहते हो मुक्त होना चेतनामय शुद्ध जिन ।  
अर बुद्ध केवल ज्ञानमय निज आत्मा को जान लो ॥२६॥  
ज्यों मन रमें विषयानि में यदि आत्मा में त्यों रमें ।  
योगी कहें हे योगिजन ! तो शीघ्र जावे मोक्ष में ॥५०॥  
ना जानते-पहिचानते निज आत्मा गहराई से ।  
जिनवर कहें संसार-सागर पार वे होते नहीं ॥५६॥

उक्त कथनों में सर्वत्र ही एक मात्र निज भगवान आत्मा को जानने-पहिचानने और उसी का ध्यान करने की बात कही गई है । योगीन्दुदेव का पूरा वजन एक मात्र निज भगवान आत्मा की आराधना करने पर ही है । ग्रन्थाकार मुनीराज श्री की दृष्टि का वजन एकमात्र आत्मा पर ही है— यह बताने के उद्देश्य से ही यहाँ इतनी गाथाओं को उद्धृत किया गया है ।

निज भगवान आत्मा की आराधना पर इतना अधिक बल देने का कारण यह तो है ही कि वही एकमात्र मुक्ति का मार्ग है; दूसरा कारण यह भी है कि इस जगत में ऐसे पुरुष बहुत विरल हैं, जो निज भगवान आत्मा को जानते हैं, आत्मा की बात ध्यान से सुनते भी हैं। निज आत्मा का ही ध्यान करने वालों की विरलता तो और भी अधिक है । उन्हीं के शब्दों में :—

विरले-पुरुष ही जानते निज तत्व को विरले सुने ।

विरले करें निज ध्यान अर विरले पुरुष धारण करें ॥६६॥

जिनअध्यात्म में निज भगवान आत्मा की आराधना पर तो सर्वाधिक वजन दिया ही जाता है, साथ में पुण्य को पाप के समान ही हेय बताया जाता है । आचार्य कुंदकुंद ने तो अपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ समयसार में एक पूर्ण अधिकार ही पुण्य-पाप की एकता के लिए रखा है । सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी के उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया गया है । प्रवचनसारादि ग्रन्थों में भी यथा-स्थान इस संदर्भ में चर्चा की गई है । ठीक उसी लाइन पर इस योगसार ग्रन्थ



में भी पुण्य-पाप की मीमांसा की गई है। जगत की मान्यता से ज्ञानीजन की मान्यता की भिन्नता को बताते हुए लिखा गया है :—

हर पाप को सारा जगत ही बोलता यह पाप है।

पर कोई विरला कुछ बुध कि पुण्य भी तो पाप है ॥७१॥

लोह और सुवर्ण की बेड़ी में अन्तर है नहीं।

शुभ-अशुभ छोड़े ज्ञानिजन दोनों में अन्तर है नहीं ॥७२॥

पुण्य से ही स्वर्ग नर्क निवास होवे पाप से।

पर मुक्तिरमणी प्राप्त होती आत्मा के ध्यान से ॥३२॥

आध्यात्मिक दृष्टि से जिसप्रकार पुण्य एवं पाप में अन्तर नहीं है, उसीप्रकार आत्मा और परमात्मा में भी कोई अन्तर नहीं है। योगसार में तत्सम्बन्धी मूल कथन इसप्रकार हैं :—

हे आत्मा परमात्मा परमात्मा ही आत्मा।

हे योगिजन यह जानकर कोई विकल्प करो नहीं ॥२२॥

सिद्धान्त का यह सार माया छोड़ योगी जान लो।

जिनदेव अर शुद्धात्मा में कोई अन्तर है नहीं ॥२१॥

जिनदेव जो मैं भी वही इस भाँति मन निभ्रान्त हो।

हे यही शिवमग योगिजन ! ना मंत्र एवं तंत्र है ॥६५॥

अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठी पण।

सब आत्मा ही हैं श्री जिनदेव का निश्चय कथन ॥१०४॥

यह आत्मा ही विष्णु है जिन रुद्र शिव शंकर वही।

बुद्ध ब्रह्मा सिद्ध ईश्वर है वही भगवंत भी ॥१०५॥

इन लक्षणों से विशद लक्षित देव जो निर्देह है।

कोई अन्तर है नहीं जो देह-देवल में रहे ॥१०६॥

योगसार की विषयवस्तु के सम्बन्ध में किये उक्त अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विशुद्ध आध्यात्मिक ग्रंथ है; अतः अध्यात्मप्रेमी पाठकों को यह वैसे ही रुचिकर होगा; तथापि स्वामीजी के प्रवचनों के माध्यम से इसके रहस्य भी जब पाठकों के सामने खुलेंगे तो उनका आनंद कई गुना बढ़ जायेगा। इसलिए अध्यात्म प्रेमी पाठकों से इस ग्रन्थ का गहराई से अध्ययन करने का विनम्र अनुरोध है।

इस ग्रन्थ की रचना भवभय से भयभीत योगीन्दुदेव ने स्वयं को संबोधित करने के लिए ही की है; जैसा कि इस ग्रन्थ की अन्तिम गाथा से स्पष्ट है। यही कारण है कि इसमें उत्कट आत्मभावना भायी गई है। इस ग्रन्थ के निर्माण के हेतु को स्पष्ट करने वाला छन्द इस प्रकार है :

भवदुखों से भयभीत योगीचंद्र मुनिवरदेव ने।

ये एकमन से रचे दोहे स्वयं को संबोधने ॥१०८॥

मुनिराज श्री योगीन्दुदेव द्वारा स्वयं को संबोधन करने के लिए रचा गया यह ग्रन्थ यदि हमारे भी दैनिक पाठ की वस्तु बने तो हम सब का इससे बड़ा सौभाग्य और कुछ भी नहीं होगा।



श्री परमात्मने नमः

\* \* \* \* \*

योगसार-प्रवचन

श्री योगीन्दुदेव नाम के वनवासी दिगम्बर संत-आचार्य लगभग १३००-१४०० वर्ष पूर्व इस भारत भूमि को अपने चरण कमलों से पवित्र कर रहे थे । उन्होंने अपने स्वानुभव से उपयोग रूप कलम को डुबो-डुबोकर इस योगसार नामक ग्रन्थ की रचना की है । निज शुद्ध आत्म-स्वरूप में योग-जुड़ान करके, सार अर्थात् आत्मा की निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करना ही योगसार है ।

दिगम्बर सन्तों ने तत्त्व का दोहन (मंथन) करके सब सार-सार ही भर दिया है। योगसार तो पर्याय है; परन्तु उसका विषय त्रिकाली, ध्रुव, शाश्वत, शुद्ध सत् आत्मा है ।

*प्रथम, मंगल स्वरूप सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करते हैं :*

**णिम्मल-ज्ञाण-परिद्धिया, कम्म-कलंक डहेवि ।**

**अप्पा लद्धउ जेण परु, ते परमप्प णवेवि ॥१॥**

**सब कर्ममल का नाशकर अर प्राप्त कर निज-आतमा ।**

**जो लीन निर्मल ध्यान में नमकर निकल परमातमा ॥१॥**

**अर्थ :** जिन्होंने शुद्ध ध्यान में स्थित होते हुए कर्मों के मल को जला डाला है तथा उत्कृष्ट परमात्म पद को पा लिया है । उन सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करता हूँ ।

प्रत्येक आत्मा शुद्ध चिदानन्द मूर्ति सिद्ध परमात्मा के समान ही है । उसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र्य द्वारा, सार अर्थात् सिद्ध दशा प्राप्त करना, उसे योगसार कहते हैं । आचार्य श्री योगीन्दु देव महान संत हुये । उन्होंने योगसार ग्रंथ का प्रारम्भ करते ही मंगल रूप में सिद्ध परमात्मा को स्मरण किया है ।

प्रत्येक आत्मा को सर्वज्ञ देव ने सिद्ध समान ही देखा है । ऐसे शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा में एकाग्रता ही निर्मल ध्यान है । निर्मल ध्यान से ही मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है, और अंत में सिद्ध दशा प्राप्त होती है ।

प्रभु तुम जानत रीति सब जग देखता हो लाल ।  
निज सत्ता समान शुद्ध सबको पेखता हो लाल ॥

हे सर्वज्ञ देव ! आप अपने को शुद्ध सत्ता रूप देखते हो और सभी आत्माओं को भी अपने समान ही शुद्ध सत्ता रूप देखते हो तथा जो कोई आत्मा इस प्रकार शुद्ध स्वरूप में निर्मल ध्यान द्वारा एकाग्र होता है, वह सिद्ध हो जाता है । ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के क्षय होने पर सिद्ध होते, ऐसा नहीं कहा; परन्तु ध्यान द्वारा पूर्णरूप से स्वरूप में स्थिर हुए तब सिद्ध हुए हैं, ऐसा कहा ।

शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा की एकाग्रता के समय ही आंशिक धर्म दशा प्रगट होती है वही सम्यक्दर्शन है । वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है । साधक ने धर्म का प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् पूर्ण धर्म दशा प्राप्त करने के लिए क्या किया ? यह बात यहां चल रही है । जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द ही भरा पड़ा है, ऐसी निज सत्ता के अस्तित्व में ही आत्मा का सुख है, अन्य चाहे सर्वज्ञ परमेश्वर की सत्ता क्यों न हो, परन्तु उसमें तेरा सुख नहीं है । सर्वज्ञ परमेश्वर ने त्रिकाली निज आत्मा में केवल आनन्द ही देखा है । इस अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि करके विशेष रूप से उसमें ही स्थिरता रूप ध्यान करके बाहर की सर्वथा उपेक्षा द्वारा सिद्ध परमात्मा हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में भी इसी विधि से होंगे । मोक्ष प्राप्त करने के लिए मोक्षमार्ग की यह विधि है बीच में दया दानादि के विकल्प आते हैं; परन्तु वह मोक्षमार्ग की क्रिया नहीं है, आत्मा में उपयोग का जुड़ान होना, यही मोक्षमार्ग है, पर में जुड़ान होना यह तो बंध मार्ग है ।

सिद्धि प्राप्त करने वालों ने प्रथम शुद्ध स्वरूप की प्रतीति करके आत्मानुभव किया । पश्चात् पूर्णता के लिए अंतर स्वरूप में ध्यान लगाकर कर्म-कलंक को भस्म कर दिया । कर्म भस्म हुए इसलिए ध्यान हुआ ऐसा नहीं है । कर्म बिचारे कौन ? ये

तो जड़ हैं, निमित्त हैं। तू विकार करे तो कर्म का आवरण विकार में निमित्त हो और आत्म ध्यान करे तो कर्म टल जाते हैं। कर्म ध्यान करने को रोकते नहीं। कर्म कहीं हाथ पकड़ कर विकार नहीं कराते।

कर्म कलंकरूपी मैल को ध्यान द्वारा नष्ट किया है ऐसा नहीं, परन्तु जो कर्म रूप पर्याय थी वह अकर्म रूप या अन्य पुद्गल रूप हो गई; यह उसका अर्थ है। आत्मा जब सिद्ध परमात्मा हुआ तब कर्म कलंक को जलाया, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। कर्म तो अकर्म रूप होने की योग्यता से ही नष्ट हुए हैं, आत्मा उन्हें जलाए-हटाये ऐसा कभी नहीं बनता; क्योंकि कर्म तो जड़ हैं। कर्म का कर्त्ता हर्त्ता आत्मा नहीं। यहां तो यह कहा है कि विकार का संग था तब कर्म का निमित्त रूप आवरण था, विकार का संग छूटा तब कर्म का आवरण अन्य दशा रूप हो गया; उसे यहां कर्म कलंक को जलाया, ऐसा कहने में आया है।

भगवान आत्मा शक्तिपने परमात्मा तो था ही उसका ध्यान करके वर्तमान पर्याय में भी सिद्ध पद को प्राप्त किया। ऐसे परमात्मा को पहिचान कर अपने लक्ष में लेकर मैं सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करता हूँ।

समयसार में कहा है कि सिद्ध परमात्मा को कौन नमस्कार कर सकता है ? जिसने अपने हृदय में, श्रद्धा-ज्ञान में विकार आदि मेरे में नहीं, मैं पूर्णानन्द सिद्ध समान शक्ति रूप से हूँ—इस प्रकार सिद्धों को स्थापित किया है वही सिद्धों को वास्तविक नमस्कार कर सकता है। सिद्ध ऊपर सिद्धालय में होने पर भी उन्हें सिद्धों को नीचे उतारा है—प्रभो ! पधारो ! पधारो ! मेरे आंगन में पधारो !

अहा हा ! सिद्धों को आदर देने वाला आंगन कितना उज्ज्वल होगा ? राजा आवे तो भी आंगन कितना साफ करते हैं ? अनंत-अनंत सिद्धों को मैं वंदन करता हूँ, आदर करता हूँ अर्थात् इनके अलावा राग का, अल्पज्ञता का, निमित्त का आदर मैंने दृष्टि में से छोड़ दिया है। हमारा आंगन हमने उज्ज्वल किया है प्रभो ! आप पधारो न ! अपनी ज्ञान कला की प्रगट दशा में अनंत सिद्धों को स्थापित करता है, आओ प्रभु ! निर्विकल्प पर्याय में प्रगट होओ ! आओ पधारो ! ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है, वह अनन्त सिद्धों को अपनी पर्याय रूपी आंगन में पधराता है; उसी ने भगवान को नमस्कार किया कहलाता है। जिसे नमस्कार करता है वह कौन है ? तू नमन करने वाला किस भाव से आदर करता है ? क्या तेरे भावों में शुद्धता आई है ? उसकी खबर बिना णमो अरिहंताणम् के गीत तो अनन्तकाल से गाये; परन्तु उससे कुछ हुआ नहीं।

अन्य सबको भूलकर सिद्धों को याद किया मानों अकेले सिद्ध ही नजरों में झूल रहे हों। रागादि कोई भी नमने लायक चीज नहीं, नमने लायक तो अनन्त सिद्धों का समूह अर्थात् सिद्ध पर्याय ही है; ऐसी जिसकी अन्तर दृष्टि हुई है, वही अनन्त सिद्धों को अपने ज्ञान में पधराता है प्रभो ! आपने तो निर्मल ध्यान के द्वारा अनन्त आनन्दादि शक्तियों को पर्याय में प्रगट किया है, इसलिए आप परमात्मा हो। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। ऐसा प्रथम गाथा में महा मांगलिक किया।

सर्वज्ञ परमात्मा ने सौ इन्द्रों की उपस्थिति में फरमाया है कि हे भाई ! हम तुझे सिद्ध समान देखते हैं। तू भी ऐसा ही देखना-सीखना। तीनलोक का नाथ अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति, दर्शन, ज्ञान और चारित्र से पूर्ण ऐसे आत्मा को हाड़-मांस मय अशुचि शरीर में रहना पड़े, जन्म मरण करना पड़े, ये कलंक है। इसलिए यहां अशरीरी होने के लिये प्रथम ही सिद्धों को याद किया। अब हमको शरीर नहीं, एक दो भव में हम अशरीरी होंगे; ऐसा कौल करार करके आचार्य देव ने सिद्धों को नमस्कार किया है।

*अरहंत भगवान को नमस्कार*

**घाइचउक्कहँ किउ विलउ, णंतचंउक्क पदिटतु ।  
तहिं जिणइहँ पय णविवि, अक्खमि कव्वु सुइटतु ॥२॥**

**सब नाशकर घनघाति अरि अरिहंत पद को पा लिया ।  
कर नमन उन जिनदेव को यह काव्यपथ अपना लिया ॥२॥**

**अर्थ :** जिसने चार घातिया कर्मों का क्षय किया है तथा अनन्तचतुष्टय का लाभ प्राप्त किया है, उन जिनेन्द्र के पदों को नमस्कार करके सुन्दर प्रिय काव्य को कहता हूँ।

भरतक्षेत्र में अभी अरहंत नहीं हैं; परन्तु महाविदेह क्षेत्र में वर्तमान में ही सीमंधर भगवान तथा लाखों केवली विराजमान हैं। इनकी सत्ता को स्वीकार करके अन्दर में नमे, यह अति अपूर्व बात है। अहो ! अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण पर्याय को जिसने जाना, उन्हें जानकर मैं भी उनकी ही जाति का हूँ, ऐसा अरहंत परमात्मा के साथ अपने स्वरूप का मिलान करके अन्दर जाकर पूर्णस्वरूप की प्रतीति करता है, तहां तो उसे समकित हो जाता है, समकित हुआ अर्थात् अब वह केवलज्ञान लेकर ही रहेगा।

जिसने ध्यान द्वारा चार घाति कर्मों का पूर्णतः नाश करके अनन्त चतुष्टय प्राप्त किया, उन्हें अरहंत कहते हैं। प्रवचनसार की प्रारम्भिक गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्द

कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं आपको वंदन करता हूँ, तो आप कौन हो और मैं वंदन करने वाला कौन हूँ ? इन दोनों का मुझे भान है; प्रभु ! वंदन करने वाला मैं ज्ञान-दर्शन मय भगवान आत्मा हूँ। मैं मनुष्य नहीं, राग वाला, कर्म वाला नहीं, मैं तो जानन-देखन स्वरूप भगवान आत्मा हूँ। ज्ञाता दृष्टापन यह मेरी सत्ता है। आप पूर्ण परमात्मा हो, मैं आपको नमस्कार करता हूँ, ऐसा विकल्प उठा, यह व्यवहार नमस्कार है और स्वरूप में एकाग्रता हुई, यह निश्चय नमस्कार है। अनन्तकाल से आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य जो शक्ति रूप में है उन्हें आपने पर्याय में व्यक्त किया; इसका मुझे ज्ञान है। अरहंत ऐसे ही होते हैं, उनकी सत्ता को स्वीकार करके ही मैंने नमस्कार किया है, अंधविश्वास से नमस्कार नहीं किया।

त्रिलोकीनाथ, वीतराग, सर्वज्ञ देव द्वारा कहे गये मार्ग के सिवाय अन्यत्र यह मार्ग नहीं है। परन्तु उनके मार्ग में जन्म लेने वालों को भी उसकी खबर नहीं। ऐसे ही भगवान-भगवान रटते हैं। जो अरहंत परमात्मा का आत्मा है उसे भी अनादि से आठ कर्मों का सम्बन्ध था। उन्होंने घाति चतुष्क को नाश करके अनन्त चतुष्टय प्राप्त किये, ऐसे जिनेन्द्र देव के चरण कमलों में नमस्कार करके मैं प्रियकारी, आत्महितकारी मार्ग को कहने वाले सुन्दर दोहे कहता हूँ।

*ग्रन्थ को कहने का निमित्त व प्रयोजन :*

**संसारहं भयभीयाहं, मोक्खहं लालसियाहं ।**

**अप्पासम्बोहणकयइ, कय दोहा एकमणाहं ॥३॥**

**है मोक्ष की अभिलाष अर भयभीत हैं संसार से ।**

**समर्पित यह देशना उन भव्य जीवों के लिए ॥३॥**

**अर्थ :** संसार का भय रखने वालों के लिये व मोक्ष की लालसा धारण करने वालों के लिये आत्मा का स्वरूप समझाने के प्रयोजन से एकाग्र मन से दोहों की रचना की है।

आचार्य श्री योगीन्दु देव कहते हैं, इस काव्य में जो जीव संसार से भयभीत हैं अर्थात् जिन्हें चार गति का भय लगा है, चाहे स्वर्ग सुख हो, या चक्रवर्ती का राज्य हो, प्रतिदिन अरबों रुपयों की पैदायश वाला सेठ हो, या इन्द्र पद प्राप्त हो; ये सब कल्पनायें हैं; दुःख है। इन दुखों से जो संतुष्ट है, ये दुःख अब मुझे नहीं चाहिये; चार गति में जन्म-मरण करना, संयोगों का मिलना सब दुखरूप है। ऐसी जिनकी चाहना है; उनके लिए इस काव्य की रचना करता हूँ।

धर्मात्मा को भी आराधना अधूरी रहने से ये सब संयोग मिलते हैं; उसका उन्हें खेद है। वह विचारता है—हमारा आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्ण ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति करे, ऐसी शक्ति वाला है। और उसी को अरेरे ! ये संयोग मिले, उसका खेद है। जैसे किसी को फांसी देने का निश्चय हो गया हो, उसे जैसा त्रास लगता है, ऐसे ही जिसे संसार से डर लगा हो, उसके लिए इस योगसार का उपदेश है। जिसे एकाध भव स्वर्ग का चाहिये हो, जन्म-मरण के त्रास से त्रस्त न हुआ हो, उसके लिये हमारा उपदेश नहीं है।

हम खारी जमीन में बीज नहीं बोते। मात्र मोक्ष की जिसे अभिलाषा हो व मुझे तो छूटना ही है, ऐसे जीवों को मुझे एक बात कहनी है। क्या कहना है प्रभो ! हे जीव ! आत्म स्वरूप समझने के लिये अपनी जाति पहिचान। तेरे स्वरूप में क्या भरा है ? उसे समझ। विकार यह तेरी जाति नहीं। ऐसे आत्म स्वरूप को समझाने के लिये मैं एकाग्र चित्त से दोहों की रचना करूंगा।

*संसार का कारण - मिथ्यादर्शन :*

**कालु अणाइ जीउ, भवसायरु जि अणं तु ।  
मिच्छादंसणमोहियउ, ण वि सुह दुक्ख जि पत्तु ॥४॥**

अनन्त है संसार-सागर जीव काल अनादि हैं।

पर सुख नहीं, बस दुःख पाया मोह-मोहित जीव ने ॥४॥

अर्थ : काल अनादि है, संसारी जीव अनादि है। संसार सागर भी अनादि अनन्त है। मिथ्यादर्शन के कारण मोही होता हुआ जीव सुख नहीं पाता, दुःख ही पाता है।

काल अनादि है, जीव अनादि के हैं और संसार में भ्रमने वाले अर्थात् निगोद से लेकर नवमी ग्रैवेयक पर्यंत चारों गति में भ्रमण करने वाले दुःखी जीव भी अनादि से हैं। थोड़ीसी प्रतिकूलता में दुःखी दुःखी हो जाते हैं और थोड़ीसी अनुकूलता में हर्षित हो जाते हैं; परन्तु वास्तव में ये सभी जीव दुःखी ही हैं।

जैसे गन्ने में रस और छिलका साथ-साथ हैं, खदान में सोना और किट्टिमा अनादि से साथ-साथ हैं, तिल में तेल और खली साथ-साथ हैं, चकमक में पत्थर और अग्नि अनादि से हैं, वैसे ही आत्मा शुद्ध द्रव्य और उसकी मलिन दशा भी अनादि से है।

आत्म-वस्तु तो शुद्ध चिदानन्द स्वरूप होने पर भी पर्याय में मलिनता कहां से आई ? जैसे जीव अनादि से है, वैसे ही उसकी मलिन पर्याय भी अनादि से है। कर्मों

के कारण मलिनता नहीं आई है। यदि मलिनता अनादि की न हो तो उसे आनन्द आना चाहिए ना ? और मलिनता है ही नहीं तो फिर उसे टालने का पुरुषार्थ क्या करना ? सच्ची श्रद्धा आदि करना कुछ रहता ही नहीं। इससे जीव तथा उसकी मलिनता का अनादिपना सिद्ध हुआ।

मिथ्याश्रद्धा से मोहित होता हुआ भवसागर में भ्रमता है।

अपने को आप भूल हैरान हो गया। अन्दर में आनन्दकंद, अतीन्द्रिय महापदार्थ भगवान है, उसकी खबर नहीं, उसका महात्म्य नहीं और कर्मजन्य उपाधि के लक्ष से उसमें ही अपना अस्तित्व स्वीकार कर, बहिर्मुख दृष्टि में जो इन्द्रियां, अल्पज्ञता, राग-द्वेष आदि का अस्तित्व दिखता है, उसे अपना मानता है। इस मिथ्या मान्यता के कारण अनन्त बार नरक निगोद में जन्मा-मरा। अनन्त बार पशु हुआ; अनन्त बार देव और मनुष्य पर्याय धारण की। जहां सुख नहीं, वहां सुख माना अर्थात् दुःख में सुख माना। यह सब मिथ्यात्व से मोहित होने के कारण ही हुआ है।

उपजे मोह विकल्प से समस्त ये संसार। कर्म के कारण संसार है यह बात तो की ही नहीं है। पर में, राग में और उसके फलस्वरूप इन्द्रिय भोगों में सुख की कल्पना यह मिथ्यादर्शन है। यही संसार है। भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकंद, सच्चिदानंद प्रभु है; ऐसा अन्दर अवलोकन करते ही संसार का नाश होकर मोक्ष होने में देर ही नहीं लगती। परन्तु मिथ्यात्व के कारण अनादि से मोहित है।

मोही प्राणी बाहर में जरा से अनुकूलता के साधन मिले, सौ पचास रुपया वेतन में बढ़े, जरा सी प्रतिकूलता आ जावे तो उसमें हर्ष विषाद करने लगता है।

श्रीमद् रायचन्दजी तो १६ वर्ष की उमर में पुकारकर कहते हैं :

“लक्ष्मी बढी अधिकार भी, पर बढ गया क्या बोलिये।  
कुटुम्ब और परिवार से, वृद्धि कुछ नहीं मानिये ॥”

पहले तो मेरा व्यापार साधारण था। अभी खूब बढ़ गया है। मूर्ख है न ? कषाय की अग्नि में जल रहा है। व्यर्थ की मिथ्या मान्यता करके संसार खड़ा किया है। बाहर में कहां सुख या दुःख ? जिसमें व्यर्थ अनुकूलता प्रतिकूलता कल्प रहा है।

काल, जीव और भवसागर तीनों अनादि के हैं। उनमें से अभी वर्तमान की बात कहते हैं। जहां जहां तू है, वहां वहां उल्टी श्रद्धा से तू मोहित है। बाहर में इन्द्रिय



संयम और त्याग करता है। अंदर में दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव को धर्म मानता है। एक समय के राग विकल्प को स्वभाव मानता है। यही विपरीत मान्यता संसार का मूल कारण है। यह सात व्यसन से भी बड़ा पाप है।

मिथ्यादृष्टि को राग का त्याग ही नहीं है। राग का विवेक तो सम्यग्दर्शन होने पर ही होता है। मिथ्यादर्शन में तो राग का अविवेक वर्तता है।

भाई ! तेरा आत्मा राग बिना का ही है। उसके बदले “मैं राग बिना नहीं रह सकता” यह तो मूढ़ बहिरात्मपन है, अथवा बाहर के दया दान आदि राग भाव-पुण्य भाव से निश्चय धर्म प्राप्त होगा, ऐसा मानने वाला राग का त्याग करना नहीं चाहता। यह मिथ्यादर्शन से मूर्च्छित जीव सुख को प्राप्त नहीं करता। क्योंकि स्वभाव में सावधान नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्दकंद प्रभु को भूलकर विकल्पों में सावधान होने से सुख के बदले दुःख ही पाता है। सांसारिक सुख-दुःख वास्तव में दोनों दुःख ही हैं। यहां जो सुख की बात है वह तो अतीन्द्रिय सुख की बात है।

अपना निज स्वरूप—अखण्ड ज्ञायक स्वरूप, जिसमें राग के कण (अंश) का भी मिश्रण नहीं; दया, दान, पंच महाव्रत का भाव और स्वभाव इन दोनों का मेल नहीं है। फिर भी अज्ञानी रागभाव को अपना स्वरूप मानकर, अर्थात् राग मेरे से पृथक् होने लायक नहीं है, ऐसा मानने वाला मिथ्यादर्शन से दुःखी ही हो रहा है। वह आत्मा के आनन्दको पाता नहीं है।

मिथ्यादर्शन से मोहित जीव ८४ लाख योनियों में भ्रमता है।

**मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो ।**

**पै निज आत्म-ज्ञान बिना सुखलेश न पायो ॥**

दिगम्बर साधु हुआ, २८ मूलगुणों का पालन किया, परन्तु यह तो राग है। उसमें हित मानने वाला मोहित प्राणी आत्मा के ज्ञान आनन्द की खबर बिना मरकर चार गति में रुलेगा। मिथ्या श्रद्धा अर्थात् क्या ? अपन कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु को तो मानते नहीं, अपन तो पंच महाव्रत पालते हैं; इसलिए अपन को मिथ्यात्व नहीं, परन्तु पंच महाव्रत यह तो राग है, उसे मैं पालूँ, ये मेरे हैं, ये भाव मुझे हितकर है, यह मान्यता स्वयं ही मिथ्याश्रद्धा है। इस कारण यह जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। उसे तो मिथ्यादर्शन का जहर चढ़ा है। उसे आत्मा के अमृत का जरा भी स्वाद नहीं आता।

मोक्षसुख का कारण : आत्म ध्यान—

जइ बीहउ चउगइगमणु, तउ परमाव चएवि ।  
अप्पा ज्ञायहि णिम्मलउ, जिम सिवसुक्ख लहेवि ॥५॥

भयभीत है यदि चतुर्गति से त्याग दे परभाव को ।  
परमात्मा का ध्यान कर तो परमसुख को प्राप्त हो ॥५॥

अर्थ : यदि चारों गतियों के भ्रमण से भयभीत है तो परभावों को छोड़ दे । निर्मल आत्मा का ध्यान कर जिससे मोक्ष के सुख को तू पा सके ।

शुभाशुभ राग, आत्म स्वरूप में नहीं है । उसे हितकर मानना ही मिथ्यात्व है । आत्मधर्म का कारण कौन है यही कहते हैं :

**\* चार गति का भय लगा हो तो परभावों को छोड़ \***

कितने ही लोग कहते हैं अभी व्रतादि पालन कर जिससे अपन स्वर्ग में जायेंगे। परन्तु अभी तो तू आत्मा का अनादर कर रहा है । भगवान ने तो कहा है कि दया, दान, व्रतादि आत्महित के कारण नहीं है, उसे तो तू मानता नहीं है । प्रत्यक्ष में भगवान की वाणी का भी अनादर कर रहा है, और कहता है कि स्वर्ग से आकर भगवान की वाणी सुनेंगे यह सब भ्रम है ।

किसी का एक बैल था, वह खो गया । उसका मालिक बैल ढूँढने लुहार के यहां गया और बोला—भाई ! एक बार हम बैल को खस्सी (बादि) करवाने के लिये आपके यहां लाये थे । इसलिए शायद वह बैल आपके यहां आया हो । लुहार बोला—भाई ! खस्सी करवाने में उसे बहुत दुःख होता है; जहां इतना दुःख मिला हो, वहां वह दुबारा झांकेगा भी नहीं । ऐसे ही जिसे चतुर्गति ८४ लाख योनियों का दुःख लगा हो, अब फिर से जिसे ये गति नहीं चाहिये, उसके लिए यह बात है ।

संक्षेप में कहते हैं, जो तुझे भव भ्रमण का त्रास लगा हो तो भगवान आत्मा सच्चिदानंद प्रभु के अलावा पुण्य-पाप भाव, व्रतादि का शुभ राग, अट्टाईस मूल गुण पालने का भाव तथा कषाय की मंदता में से शुद्धता होगी, यह सब मान्यता मिथ्यात्व है । तीर्थकर प्रकृति बंधे ऐसा भाव, व्यवहार रत्नत्रय का भाव, ये सब परभाव हैं; इन्हें छोड़ दे ये मोक्ष के कारण नहीं हैं ।

भाई ! चार गति का दुःख लगा हो तो शुभाशुभ भाव का त्याग कर । घरबार आदि तेरे थे ही कब; कि उनका त्याग करे ?

### मोक्ष का उपाय : शुद्धात्मा का ध्यान

भगवान आत्मा अनादि अनन्त, सच्चिदानंद, स्वसत्ता से बिराजमान, पूर्णानंद का नाथ, केवलज्ञान से भरा हुआ तत्त्व है; जिसमें अनन्त निर्मल गुण भरे हैं; उसका पर्याय में ध्यान कर । आत्मा वस्तु है, ध्यान पर्याय है । अपनी शुद्ध सत्ता का ध्यान करना, यही मोक्षमार्ग अर्थात् मोक्ष का उपाय है; यही संवर-निर्जरा तत्त्व है ।

तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः । ये तीनों आत्मा के ध्यान में समा जाते हैं । योगीन्दु देव कहते हैं कि आत्मा कौन है पहले इसे जान । पीछे उसका ध्यान कर । अर्थात् जो दृष्टि बाहर की ओर भटकती है, उसे पलटकर स्व की ओर कर; इससे ही शांति एवं शिवसुख पायेगा । इसके सिवाय मोक्ष सुख का दूसरा उपाय वीतराग परमेश्वर के मार्ग में नहीं है । अन्यत्र तो है ही नहीं ।

आत्मा की पर्याय तीन प्रकार की हैं । जो केवल निर्मल आत्मा ही अनादि से है ऐसा कहते हैं वे झूठे हैं और आत्मा केवल मलिन ही है ऐसा कहने वाले भी झूठे हैं ।

### आत्मा के तीन प्रकार

तिपयारो अप्पा मुणहि, परु अंतरु बहिरप्पु ।  
पर झांयहि अंतरसहिउ, बाहिरु चयहि णियंतु ॥६॥

बहिरात्मापन त्याग जो बन जाय अन्तर-आत्मा ।

ध्यावे सदा परमात्मा बन जाय वह परमात्मा ॥६॥

अर्थ : आत्मा के तीन प्रकार जानो; परमात्मा, अन्तरात्मा, बहिरात्मा । भ्रांति या शंका रहित होकर बहिरात्मापना छोड़ दे, अन्तरात्मा होकर परमात्मा का ध्यान कर ।

आत्मा, पर्याय अपेक्षा तीन प्रकार का जानो । द्रव्य अपेक्षा तो त्रिकाल एकरूप ही आत्मा है । पर्याय में भूल, भूल का टलना और पूर्ण निर्मलता की प्राप्ति—ये सब पर्याय में है ।

शक्ति-पने तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा है । परमात्मा की सादि अनन्त काल तक जो पर्यायें प्रगट होंगी उन सब की शक्ति तो वर्तमान में ही आत्मा में पड़ी है । परन्तु यहां तो प्रगट पूर्ण पर्याय में परमात्मा हुए हैं उनकी बात है ।

निर्विकल्प शुद्ध परमात्मा का स्वरूप अभी पर्याय में प्रगट नहीं; फिर भी मैं परमात्मस्वरूप ही हूँ; ऐसा जिसने श्रद्धा-ज्ञान और ध्यान में निश्चित किया है उसको वर्तमान में अपूर्ण निर्मल पर्याय की अपेक्षा अन्तरात्मा कहने में आता है।

भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध निर्मलानन्द है। इसके सिवाय दया-दान व्रत भक्ति के भावों को तथा देह की क्रिया को अपना मानकर उन्हें हितकारी मानना; कर्मजन्य उपाधि के संसर्ग में आकर कहीं भी उल्लसित वीर्य से उत्साहित होना; पर में विस्मयता लगनी, अन्दर के आनन्द में संतुष्ट न होकर शुभाशुभ भाव और उसके फल में, जो कि आत्म स्वभाव से विपरीत हैं, उनमें हर्ष-विषाद करना, अपनापन मानना ये सभी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि के लक्षण हैं।

सम्यक्दृष्टि चक्रवर्ती छह खण्ड का स्वामी ६६००० रानियों के वृन्द में पड़ा हो, बाह्य त्याग कुछ भी न दिखता हो, तो भी उसे अन्तर में आत्मा की एकता और राग की भिन्नता अर्थात् राग का त्याग वर्तता है। बहिरात्मा नग्न दिगम्बर मुनि होकर अट्टाइस मूल-गुण पालता हो, चमड़ी निकालकर खार छिडके तो भी क्रोध न करे परन्तु अन्तरंग में राग के साथ एकत्वबुद्धि होने से बहिरात्मा है।

रोग के समय शरीर में प्रतिकूलता थी, अब निरोगता हुई। पैसादि की अनुकूलता हो गई। अब मैं शांति से धर्मध्यान करूंगा। आत्मा को छोड़कर रजकण से लेकर बैमानिक की बाह्य ऋद्धि तक कहीं भी अनुकूलता की कल्पना की जावे तथा प्रतिकूलता के गंज में ठीक न लगे, उसकी बुद्धि बाह्य में रुकी होने से वह बहिरात्मा है।

शंका रहित होकर इस भ्रांति अर्थात् बहिरात्मपन को छोड़ दे। जगत की सम्पूर्ण सामग्री में अनुकूलता और प्रतिकूलता रूप उल्लसित वीर्य को छोड़ दे। श्रद्धा-ज्ञान में बहिरात्म बुद्धि का त्याग तथा अन्तरात्मा का ग्रहण करके परमात्मा का ध्यान कर। अन्तरात्मा का ध्यान कर ऐसा नहीं कहा; परन्तु परमात्मा का ध्यान कर ऐसा कहा इसी का नाम मोक्ष-मार्ग है।

### बहिरात्मा का स्वरूप

मिच्छादंसणमोहियउ परुअप्पा ण मुणेइ ।  
सो बहिरप्पा जिणमणिउ, पुण संसारु भमेई ॥७॥

मिथ्यात्वमोहित जीव जो वह स्व-पर को नहीं जानता ।  
संसार-सागर में भ्रमें दृगमूढ़ वह बहिरात्मा ॥७॥

**अर्थ :** मिथ्यादर्शन से मोहित जीव परमात्मा को नहीं जानता है, यही बहिरात्मा है। वह बारंबार संसार में भ्रमण करता है; ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।

मिथ्यादर्शन से मोहित हुआ जीव राग को, पुण्य-पाप को, उनके फल को अपना स्वरूप मानता है। पाप के फल में, मैं दुःखी हूँ। ज्ञान के क्षयोपक्षम का थोड़ा विकास हुआ कि अपने को पंडित मानने लगता है। कर्म के उदय से प्राप्त बाह्य-अभ्यंतर सामग्री में मिथ्या श्रद्धा के कारण अहंपना करता है, ये मैं हूँ, ये मेरे हैं, ऐसा मानता हुआ मिथ्यात्व से मोहित परमात्मा को नहीं जानता। एक समय में त्रिकाल शुद्ध, चैतन्य द्रव्य, अनंत ज्ञान-दर्शन और आनन्द आदि की समृद्धि वाला है उसे जानता नहीं; मात्र बाहर की अल्पज्ञ दशा, राग की दशा और अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों के अस्तित्व के स्वीकार में ही उसकी दृष्टि पडी है।

स्वयं अनन्त लक्ष्मीवाला है, उसे भूलकर अर्थात् अनाकुल आनन्द स्वरूप के स्पर्श बिना पैसा आदि से मैं पैसे वाला, अनंत प्रकार की बाह्य वस्तुओं तथा असंख्यात प्रकार का शुभाशुभ राग ये सब कर्मफल का साम्राज्य है। ये स्वभाव नहीं है। फिर भी मिथ्यादर्शन से मोहित प्राणी इनमें हर्षित होता है; उन्हें अपना स्वरूप मानता है; वह बहिरात्मा है।

जैसे शराब पीने से जितनी भी चेष्टायें होती हैं; उन्हें शराबी अपनी मानता है। उसी प्रकार कर्म के संयोग से जितनी भी चेष्टायें होती हैं, उन सबको मिथ्यात्व की शराब के कारण अपनी मानता है। भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्द का धाम, इतनी महान सत्ता को न श्रद्धता हुआ, न स्वीकारता हुआ अल्प अवस्था और बाह्य चीजों को अपनी मानता है, उसे मिथ्यादृष्टि-बहिरात्मा कहते हैं।

पुण्य-पाप की सामग्री हीनाधिक मिले, अन्दर शुभाशुभ भाव हीनाधिक हों, परलक्षी ज्ञान का हीनाधिक विकास हो, उसे ही आत्मा मानता है; परन्तु अन्दर परमात्म स्वरूप, ध्रुवस्वरूप, परिपूर्ण परमेश्वर है; उसका आदर करता नहीं, उस तरफ झुकाव करता नहीं; वह बहिरात्मा अनन्त काल से संसार में भ्रम रहा है।

एक ओर ज्ञान-आनन्द का पिण्ड परमात्मा स्वयं है। दूसरी ओर वर्तमान दशा में अल्पज्ञता, अल्पदर्शन, अल्पवीर्य, विपरीतता, संयोगों की अनुकूल-प्रतिकूलता का भाव है। वह स्वयं को नहीं जानता इसलिए इन सबको अपना मानता है; उसका नाम बहिरात्मा है, वह चार गति में पुनः-पुनः भ्रमण करेगा।

### अन्तरात्मा का स्वरूप

**जो परियाणइ अप्प परु, जो परभाव चएइ ।  
सो पंडिउ अप्पा मुणहिं, सो संसार मुएइ ॥८॥**

**जो त्यागता परभाव को अर स्व-पर को पहिचानता ।  
है वही पण्डित आत्मज्ञानी स्व-पर को जो जानता ॥८॥**

**अर्थ :** जो कोई, आत्मा और पर को अर्थात् आपसे भिन्न पदार्थों को भले प्रकार पहचानता है । तथा जो आत्मा के स्वभाव को छोड़कर अन्य सब भावों को त्याग देता है । वही पंडित, भेद-विज्ञानी, अन्तरात्मा है । वह अपने आपका अनुभव करता है, वही संसार से छूट जाता है ।

जो कोई पूर्णानन्द, पूर्णज्ञान स्वरूप आत्मा को जानता है; वह अपने से भिन्न अल्पज्ञान को, रागद्वेष को, पर को अच्छी तरह जानता है । आत्मा तथा विकार आदि पर-पदार्थों के बीच जिसे भेदज्ञान हुआ है वह अपने शुद्ध स्वभाव का आश्रय करता है और पर का आश्रय छोड़ता है । व्यवहार रत्नत्रय के विकल्प को भी छोड़ता है इसलिए वह परभावों का त्यागी है, पंडित है, शूरवीर है, वही भेद-विज्ञानी है ।

ज्ञान कम-अधिक हो, ग्यारह अंग भी पढ़ा हो या न पढ़ा हो, प्रश्नों का उत्तर दे सकता हो या न दे सकता हो, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं; मात्र अन्दर पूर्णानन्द का नाथ चैतन्यप्रभु का जिसे दृष्टि में आदर है, उसका आश्रय है, उसे ही सच्चा त्याग है । अन्दर स्वभाव के अवलंबन बिना राग का त्याग हो सकता नहीं और राग के त्याग बिना सच्चा त्याग होता नहीं ।

अन्दर में जिसे रागादि का आदर वर्तता है, उसे सम्पूर्ण संसार का ग्रहण है । उसे अंश मात्र भी राग का त्याग नहीं है । पूर्णानन्द प्रभु अनन्त गुणों का पिंड ऐसे आत्मा का श्रद्धा में आदर है, वेदन है, यही मैं हूँ ऐसा जिसे स्वभाव का ग्रहण वर्तता है; वह पंडित अन्तरात्मा, परमात्मा का लघुनन्दन है । फिर भले ही उसे बाहर में छह खण्ड का राज्य हो, ६६००० रानियां हों, ४८००० पाटन हों, ७२००० नगर आदि सामग्री हो, इन्द्र का इन्द्रासन हो परन्तु ये सब सामग्री उसकी दृष्टि में पररूप भाषित होती हैं, उसे तो पूर्ण आत्मा का ही आदर वर्तता है । रचमात्र भी पर को अपना नहीं मानता।

बहिरात्मा बाहर में नग्न हो, एक लंगोटी भी न हो; परन्तु पूर्णानन्द आत्मा का आदर नहीं, और जिसे राग के अंश का भी आदर है, उसे चौदह ब्रह्मांड का आदर

है, उसके परभाव छूटे ही नहीं। स्वभाव को जाने बिना परभावों से भिन्न कैसे होगा ? परभावों के आदरवन्त को तो परम स्वभाव परमात्मा का त्याग है।

ज्ञानी के चक्रवर्ती का राज्य हो या इन्द्र का इन्द्रासन हो; परन्तु अन्दर स्वभाव की अधिकता-महिमा के सामने बाह्य पदार्थ और उनके कारण रूप शुभाशुभ भाव, चाहे जिस भाव से तीर्थकर प्रकृति बंधे, उस भाव का भी दृष्टि में त्याग वर्तता है। स्वरूप में एकाग्र होऊंगा तो लाभ होगा ऐसा मानता है।

परभाव को जो दृष्टि में से त्यागता है और आत्मा को ग्रहण करता है अर्थात् श्रद्धा ज्ञान में आत्मा को प्रत्यक्ष किया है वह अन्तरात्मा संसार से छूट जावेगा। चौथे गुणस्थान से आत्मा का अनुभव करता हुआ “प्रगट लहे भव पार” शुद्ध चैतन्य वस्तु का अनुभव करने वाला क्रम-क्रम से संसार को छोड़ देगा, उसका संसार नहीं रहेगा, ऐसे जीव को पंडित, ज्ञानी, वीर और शूरवीर कहा जाता है।

### परमात्मा का स्वरूप

णिम्मलु णिक्क लु सुद्ध जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु ।  
सो परमप्पा जिण भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥६॥

जो शुद्ध शिव जिन बुद्ध विष्णु निकल निर्मल शान्त है ।

बस है वही परमात्मा जिनवर-कथन निभ्रान्त है ॥६॥

**अर्थ :** जो कर्ममल व रागादि मल रहित है जो नि कल अर्थात् शरीर रहित है जो शुद्ध व अभेद एक है, जिसने आत्मा के सर्व शत्रुओं को जीत लिया है, जो विष्णु है अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा सर्वलोकालोक व्यापी है सर्व का ज्ञाता है, जो बुद्ध है अर्थात् स्व-पर तत्त्व को समझने वाला है, जो शिव है, परम कल्याणकारी है, जो परमशांत व वीतराग है, वही परमात्मा है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है, इस बात को शंका रहित जान ।

अब परमात्मा का स्वरूप कहते हैं। मोह-राग-द्वेष के भावरहित परमात्मा होते हैं। अन्तरात्मा को पर में एकत्व बुद्धि न होने से दृष्टि में से तो राग-द्वेष छूट गये हैं; परन्तु स्थिरता द्वारा अभी पूर्ण राग-द्वेष नहीं छूटे हैं, परमात्मा को वे भी छूट गये हैं। आठ कर्मों के रजकणों को और पुण्य पाप के मलिन भावों को परमात्मा ने छोड़ दिया है।

कल अर्थात् शरीर जिसे नहीं वे निकल परमात्मा कहलाते हैं। बैकुंठ में जाकर भगवान की सेवा करेंगे ऐसा कहते हैं न ? परन्तु भगवान को शरीर ही नहीं होता। परमात्मा तो उसे ही कहते हैं जिसे शरीरादि नोकर्म व रागादि भावकर्म नहीं। जो शुद्ध अभेद एक है, उन्हें अशुद्धता नहीं, द्वैतपना नहीं। पहले कर्म रूपी शत्रु थे उन्हें जीतने के कारण जिनेन्द्रदेव कहलाये—ऐसे सिद्ध परमात्मा को विष्णु कहते हैं।

भगवान के ज्ञान में तीन काल, तीन लोक ज्ञात होते हैं, ऐसी सर्वज्ञ दशा का स्वीकार द्रव्य स्वभाव पर दृष्टि गये बिना होगा ही नहीं। भगवान आत्मा की एक समय की ज्ञान की पर्याय इतनी महान है कि तीन काल तीन लोक को युगपत् जानें—ऐसी ज्ञान पर्याय को स्वीकार क्या राग कर सकता है ? क्या राग के आश्रय से आत्म-स्वरूप का स्वीकार होगा ? पर्याय में स्वीकार होता है, परन्तु क्या पर्याय के आश्रय से स्वीकार होगा ? सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा का आश्रय लिये बिना पर्याय में सर्वज्ञपने का निर्णय नहीं होता। सर्वज्ञ स्वभावी आत्मस्वरूप का निर्णय होते ही उसे क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय हो जायेगा, और वीतराग पर्याय भी प्रगट हो जावेगी, इसका नाम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का अर्थ जमीन खोदना या भार- ढोना नहीं है। अन्तर की दशा जो पर कर्तृत्व रूपा थी वह अकर्तृत्व रूप ज्ञाता रूप हो गई ये ही पुरुषार्थ है।

अन्य मत में भगवान को विष्णु अर्थात् परमात्मा कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान एक समय में तीन काल और तीन लोक के पदार्थों को जानते हैं। अतः वे ही विष्णु हैं। स्व-पर तत्त्व को भेद पूर्वक जानते हैं वे ही बुद्ध हैं। सर्वज्ञ परमात्मा अपने स्वरूप को तथा लोकालोक को पूर्णरूप जानते हैं। अकेले क्षणिक को जाने वे बुद्ध नहीं। सर्वज्ञ भगवान ने अपना पूर्ण कल्याण किया है, अतः वे ही शिव कहलाते हैं। परमशांत धारा, परम वीतराग दशा रूप परिणम गये हैं इसलिए वे ही शिव हैं। वीतराग अकषाय स्वभावरूप परिणमन होने से शान्त हैं। जिनेन्द्र देव उन्हें ही परमात्मा कहते हैं। इसलिए तू भ्रान्ति रहित होकर अपने में ऐसा परमात्म स्वरूप जो शक्ति में पड़ा है, उसे जान और रागद्वेष को छोड़। इसके सिवाय और कोई सच्चा परमात्मा नहीं हो सकता।

**देहादिउ जे पर कहिया ते अप्पाणु मुणेई ।**

**सो बहिरप्पा जिणमणिउ पुणु संसार भमेई ॥१०॥**

**जिनवर कहें 'देहादि पर' जो उन्हें ही निज मानता ।**

**संसार-सागर में भ्रमं वह आत्मा बहिरात्मा ॥१०॥**



**अर्थ :** शरीरादि जिनको आत्मा से भिन्न कहा गया है, उन रूप ही अपने को मानता है वह बहिरात्मा है। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है कि वह बारंबार संसार में भ्रमण करता रहता है।

यह आत्मा शुद्ध चैतन्य अखंड अभेद पदार्थ है। उसे छोड़कर शरीर, धन, धान्य, मकान, कीर्ति, शरीर की क्रिया तथा अन्दर के पुण्य-पाप के भाव ये सब मेरे हैं; ऐसा मानने वाला बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। ज्ञान आनन्द आदि त्रिकाली शुद्ध स्वरूप में जो नहीं ऐसे शुभाशुभ विकल्प, चार गति, लेश्या, छह काय, कषाय आदि के भाव परभाव हैं। श्रावक के छह आवश्यक के भाव, मुनि के पंच महाव्रतादि के भाव ये आत्म-स्वरूप न होने से आत्मा से बाह्य हैं, ऐसा सर्वज्ञ परमेश्वर कहते हैं।

ज्ञानी के भी शुभाचरण के भाव तो होते हैं न ? होते हैं; परन्तु ज्ञानी उन्हें अपना स्वरूप नहीं जानते, उन्हें हितकर नहीं मानते; वे कल्याण के साधन नहीं। औदयिक भाव के इक्कीस भेदों में से कोई भी अपना स्वभाव नहीं, क्योंकि अन्तर स्वभाव में वे रहते नहीं। ज्ञानाचार, दर्शनाचार आदि के शुभ विकल्प ये पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभाव में नहीं और पूर्ण ज्ञानानन्द की प्राप्ति होती है तब भी ये रहते नहीं इसलिये वे भी बहिरभाव हैं।

एक समय में अखंड आनन्दकन्द अभेद चिदानन्द की मूर्ति ऐसा आत्म स्वभाव है। जैसा स्वभाव है वैसा स्वीकार करना यही सम्यक्दर्शन है। शुभ भाव तो विभाव हैं। पुण्य और उसके फल में मिले अनुकूल संयोगों को अपना मानने वाला अज्ञानी है। कहा भी है:—

**लक्ष्मी बढी अधिकार भी पर बढ गया क्या बोलिये ।**

**कुटुम्ब या परिवार से वृद्धि कुछ नहीं मानिये ॥**

एक सेठ के पूरे शरीर में सुपारी के बराबर गांठें थीं और वो मरण पर्यंत रहीं। ये गांठें मुझे हुई हैं ऐसा मानने वाला बहिरात्मा है। गांठे आत्मा में कहां हैं ? वे तो शरीर में, जड़ में है। शरीर की सुन्दरता, कोमलता वगैरह जड़ की दशा है। शुभभाव मेरा कर्तव्य है, जिसे अपना कर्तव्य माने, उसे कैसे छोड़े ? उसे परमेश्वर ने मिथ्यादृष्टि कहा है। चौदहवें गुणस्थान तक असिद्धत्व भाव है। ये असिद्धत्व भाव, अपूर्णभाव, मलिनभाव, विपरीतभाव, खंडखंड भाव उन्हें अपनी वस्तु माने, वे तो मूढ़ हैं।

आत्मा ज्ञायकमूर्ति, चैतन्य सूर्य, आनन्द का कंद, स्वयंसिद्ध स्वतत्त्व है, ये मैं हूँ और इससे बाह्य सब पर हैं। यह महान सिद्धान्त है। आत्मा जैसा है वैसा जाने और माने वह पंडित है; उससे विरुद्ध मानने वाला तो अपंडित अर्थात् अज्ञानी है।

एक ओर शुद्ध, ध्रुव, चैतन्य स्वरूप, परमात्मरूप, उसे अपना मानना यह धर्म दशा हुई। इससे विरुद्ध मंदिर जाने का भाव, पूजा-यात्रा के विकल्प ये विभाव दशा हुई। जहाँ तक पूर्णता नहीं होती, वहाँ तक ये व्यवहार भाव आये बिना नहीं रहते; परन्तु ये मुझे लाभदायक नहीं। जैसे चैतन्य-वस्तु है वैसे शरीरादि जड़ वस्तुयें भी हैं, वैसे ही स्वभाव भी है। और पर तरीके व्यवहार भी है। ज्ञानी उन्हें स्व में नहीं मानते। उन्हें कमजोरी के कारण ये भाव आते अवश्य हैं, परन्तु हितकारी नहीं मानते।

अज्ञानी अनादि से आत्मा का असली स्वरूप नहीं जानता और विकृत भाव को-पर को अपना मानता आ रहा है, इसलिए बारंबार संसार में भ्रमण कर रहा है। सत् स्वरूप को स्वीकार करने वाला ज्ञानी असत् को अपना नहीं मानता।

*ज्ञानी पर को आत्मा नहीं मानता है :*

**देहादिउ जे परकहिया ते अप्पाणु ण होहिं ।  
इउ जाणेविणु जीव तुहुं अप्पा अप्प मुणेहिं ॥११॥**

**'देहादि पर' जिनवर कहें ना हो सकें वे आत्मा ।**

**यह जानकर तू मान ले निज आत्मा को आत्मा ॥११॥**

अर्थ : शरीर आदि अपने आत्मा से भिन्न कहे गये हैं, वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते व उन रूप आत्मा नहीं हो सकता अर्थात् आत्मा के नहीं हो सकते, ऐसा समझकर हे जीव ! तू आत्मा को पहचान, यथार्थ आत्मा का बोध कर ।

बहुत ही कम शब्दों में सार ही सार भर दिया है। शुभाशुभ भाव, व्यवहार आचरण, क्रिया, देह, वाणी, मन ये सब ज्ञानमूर्ति, चैतन्य सूर्य प्रभु आत्मा से भिन्न जो पदार्थ कहे गये हैं वे आत्मा नहीं हो सकते। वे तो अनात्मा हैं, उन्हें बहिरात्मा अपना मानता है।

शुभराग का सूक्ष्मकण भी क्या स्वभाव हो सकता है ? परमाणु रजकण ये अजीव, क्या जीव हो सकते हैं ?

**ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव रे ।  
श्री जिन वीर ने धर्म प्रकाशिया, प्रबल कषाय अभाव रे ॥**

जैसे स्फटिक निर्मलता का पिण्ड है; वैसे ही भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का पिण्ड है। स्फटिक के पास लाल-पीले फूल पड़े हों, वे फूल कहीं स्फटिक रूप हो जाते हैं क्या? लाल-पीली झाँई वह कहीं स्फटिक रूप होगी? कदापि नहीं। इसी तरह स्फटिक के समान निर्मलानन्द भगवान आत्मा विभाव, शरीर, मन, वाणी आदि नहीं हो सकता। आ हा हा ! परभाव के मोह में भगवान स्वयं अपने को भूल गया। औदयिक भाव, पंचाचार रूप व्यवहार के विकल्प क्या आत्मरूप होंगे? नहीं होंगे। तू कहां है? यह जरा देख तो सही। जहां तू है वहां विकार नहीं और जहां विकार है वहां तू नहीं। सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा तीन काल में भी विकाररूप हो सकता नहीं।

चैतन्य गोला, ध्रुव, अनादि-अनंत, सत्त्व भगवान आत्मा स्वयं अजीव और आश्रव रूप नहीं होता। अजीव, आश्रव और आत्मा तीनों तत्त्व निराले हैं। हे जीव ! तू अपने को पहचान ! भगवान चैतन्य सूर्य आत्मा की ओर देख। तू यथार्थ आत्माका बोध कर। यह आत्मा अकेला ज्ञान का सागर, आनन्द की मूर्ति है—ऐसे आत्मा की श्रद्धा कर।

मैं पर की दया पाल सकता हूँ; पर का काम कर सकता हूँ—ऐसा मानने वाले ने स्व-पर को भिन्न नहीं माना और एक ही माना। परन्तु भाई ! तू भिन्न और ये पर-द्रव्य भिन्न हैं; तब उनकी दया कौन पाले? जो जुदे पदार्थ हैं उनकी अवस्था अन्य आत्मा किस तरह करे? शरीर, कर्म, कुटुम्ब, देश ये तो परवस्तु हैं। जो तू पर का काम कर सकता है तो दो वस्तुयें एक हो गईं। इससे अपने सत्त्व का नाश होकर तू पर रूप हो गया। इसलिए हैं जीव ! ऐसा समझकर तू अपने आत्मा को पहचान, यथार्थ आत्मा का बोध कर।

*आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता है :*

**अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि ।**

**पर अप्पा जइ मुणसि तुहुँ तहु संसार भमेहि ॥१२॥**

**तू पायगा निर्वाण माने आत्मा को आत्मा ।**

**पर भवभ्रमण हो यदी जाने देह को ही आत्मा ॥१२॥**

**अर्थ :** यदि आत्मा को आत्मा समझेगा, तो निर्वाण को पावेगा। यदि परपदार्थों को आत्मा मानेगा, तो तू संसार में भ्रमण करेगा।

यदि आत्मा को आत्मा समझेगा अर्थात् भगवान आत्मा ज्ञान आनन्द का पिण्ड, ज्ञाता दृष्टा है। यही मेरा स्वरूप है, ऐसा ही मैं आत्मा हूँ; ऐसा आत्मा को समझेगा तो

मुक्ति पावेगा । जिसने आत्मा जाना, उसमें दृष्टि लगाकर एकाकार हुआ, वह पूर्णानंद रूपी निर्वाण को पायेगा ।

तू भगवान आत्मा को अन्दर में ज्ञानानंद, चैतन्यसूर्य रूप जान और समझ । जुदे तत्व को जुदा जानते ही अल्पकाल में निर्वाण पद को पायेगा । आत्मा ही आत्मा का घोलन करते-करते निर्वाण को पा जायेगा । आत्मा चैतन्य ज्योति ज्ञायक है, ऐसा जानकर उसी में स्थिर होगा तो वीतरागता को पायेगा । बीच में व्यवहार आता है तथापि मोक्षमार्ग में उसकी कोई उपयोगिता नहीं ।

आत्मा को आत्मा माने तो मुक्ति, और आत्मा को पररूप जाने तो संसार भ्रमण; पुण्य-पाप के विकल्प रहित वस्तु ऐसा भगवान आत्मा, उसे जाना कि बस । चैतन्य प्रभु, प्रकाश की मूर्ति, प्रकाश का प्रकाशक, राग तथा जड़ का प्रकाशक, अपने स्वरूप का भी प्रकाशक ऐसा प्रकाशक स्वरूप आत्मा है । ऐसा जानकर उसमें स्थिरता करते-करते निर्वाण को पा जायेगा ।

अब इससे विपरीत कहते हैं—

“पर रूप माने आत्म को तो भव भ्रमण न जाय” आत्मा के सिवाय, कर्म शरीर, औदयिक भाव आदि परभावों को मलिन तथा क्षायिक भावों को आत्मा मानेगा वह उनसे नहीं छूटेगा अर्थात् संसार में ही भटकेगा । इस प्रकार मुक्ति और संसार दोनों की बात एक गाथा में समा दी ।

*इच्छा रहित तप ही निर्वाण का कारण है*

**इच्छारहित तप करहि अप्पा अप्प मुणेहि ।**

**तउ लहु पावइ परमगइ पुण संसार ण एहि ॥१३॥**

आत्मा को जानकर इच्छारहित यदि तप करे ।

तो परमगति को प्राप्त हो संसार में घूमे नहीं ॥१३॥

**अर्थ :** हे आत्मा ! यदि तू इच्छा रहित होकर तप करे व आत्मा का अनुभव करे तो तू शीघ्र ही परम गति को पावे, फिर निश्चय से कभी संसार में नहीं आवे ।

अपने पवित्र शुद्ध आनन्द स्वरूप को जानकर शुभाशुभ भाव अर्थात् इच्छा को रोककर अपने पवित्र स्वरूप में तपना अर्थात् लीन होना ही तप है और ऐसे तप से ही मुक्ति होती है ।

आत्म-वस्तु, स्वरूप से इच्छारहित ही है। आत्मा तो ज्ञानानंद स्वरूपी, अनन्त आनन्द की मूर्ति है। उसमें इच्छा है ही नहीं, इसलिए इच्छा का लक्ष, छोड़कर जिसमें इच्छा नहीं ऐसे ज्ञान-दर्शन-आनंदमय आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान और लीनता द्वारा शुद्ध स्वरूप में शुद्धोपयोग रूप लीनता से संवर-निर्जरा होती है।

अशुभ भाव हों तो पाप होता है, दया-दान आदि के शुभभाव हों तो पुण्य होता है; परन्तु धर्म नहीं होता। चिदानन्द स्वरूप आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा के भान बिना अकेले उपवास करे, उसमें भी राग की मंदता हो तो मिथ्यात्व सहित पुण्य बांधता है; परन्तु उसे धर्म कहने में नहीं आता। उससे जन्म-मरण का अन्त नहीं होता। आत्मा अपने वीतरागी, निर्दोष, अकषाय स्वरूप को जानकर उसमें लीन हो तो इच्छारहित तप होता है। उससे जन्म-मरण का अन्त आता है।

“मैं अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप हूँ”—ऐसा जिसे भान नहीं वह आत्म-स्थिरता कैसे करे? अपने में जिसे अतीन्द्रिय आनंद न भासे वह उसमें ललचायेगा कैसे? जिसे पुण्य-पाप के परिणामों में ठीक लगता हो वह वहां से हटेगा कैसे? इसलिए ज्ञान-दर्शन-आनन्द स्वरूप भगवान आत्माको जान! इच्छा को टाल कर वीतराग-स्वरूप आत्मा में लीन होना ही तप है।

इच्छा रोककर ऐसा कहना भी नास्ति से बात की है। ज्ञायक की सत्ता का भान करे उसमें दृष्टि और रमणता करते ही इच्छा स्वतः रुक जाती है; उस आत्म लीनताको परमात्मा तप कहते हैं; धर्म कहते हैं, मुक्ति मार्ग कहते हैं।

आत्म स्वरूप को जानने के पश्चात् ही तप होता है ऐसा कहा है, परन्तु हम तो आत्मा को जानने को ही तप कहते हैं। भाई! आत्मा को जाने बिना तप कैसे होगा? तुम्हारा नाम जानना है तो कितने उपवास करें कि जिससे तुम्हारा नाम जाना जाये? मुझे तुम्हारा नाम पूछना नहीं, उपवास करके तुम्हारा नाम जान लेना है। यह कैसे संभव है? तुम्हारा नाम और धाम क्या है? ज्ञान द्वारा ही अज्ञान का नाश हो सकता है। इसलिए पहले आत्म ज्ञान करे। ज्ञाता-दृष्टा वह आत्मा—ऐसा आत्मा का विश्वास अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान करे। पीछे राग से हटकर स्वरूप में स्थिर हो तो ही तप होता है।

मोक्ष स्वरूप भगवान आत्मा में लीन होने से अल्प काल में मोक्ष दशा को पाता है। इसके बाद चार गतियों में पुनः जन्म लेना नहीं पड़ता। अतीन्द्रिय आनन्द में पूर्ण

लीनता प्राप्त की, फिर वह सिद्धात्मा वहां से वापस लौटे ऐसा तीन काल में भी नहीं बनता। मक्खी जैसा प्राणी भी शक्कर की मिठास में लीन हुए पीछे उसकी पांख चिपक जाये, तो भी वह उस मिठास को छोड़ती नहीं, वहांसे उड़ती नहीं। वैसे ही आनन्द स्वरूप आत्मा का जिसे विश्वास आया, ज्ञान किया और उसी में रमणता की वह अल्पकाल में मुक्त दशा को पाता है और संसार में पुनः लौटकर नहीं आता।

*परिणामों से ही बंध व मोक्ष होता है :*

**परिणामे बंधुजि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि ।  
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ तह भावहु परियाणि ॥१४॥**

**परिणाम से ही बंध है अर मोक्ष भी परिणाम से ।**

**यह जानकर हे भव्यजन ! परिणाम को पहिचानिये ॥१४॥**

**अर्थ :** परिणामों से ही कर्म का बंध कहा गया है वैसे ही परिणामों से ही मोक्ष को जान। हे आत्मन् ! ऐसा समझकर तू उन भावों की पहिचान कर ।

भगवान सर्वज्ञ देव त्रिलोकीनाथ तीर्थकर परमात्मा ने परिणामों से ही बंध-मोक्ष कहा है। जीव की हिंसा से या दया से बंध नहीं। पर वस्तु के आश्रय से बंध नहीं होता; परन्तु शुद्ध स्वभाव की सन्मुखता छोड़कर जितने भी शुभ-अशुभ और मिथ्यात्व भाव रूप परसन्मुखता के परिणाम हैं मात्र वे ही बंध के कारण हैं। शुद्ध स्वरूपी आत्मा की सन्मुखता के परिणाम मोक्ष के कारण हैं।

जैसे अपने अशुद्ध परिणाम—मिथ्यात्व के परिणाम, शुभाशुभ भाव, अव्रत के भाव, प्रमाद-कषाय के परिणाम ये सब परिणाम ही बंध के कारण हैं। शुद्ध स्वरूपी आत्मा की सन्मुखता के परिणाम मोक्ष के कारण हैं। अपने शुद्ध स्वभाव की सन्मुखता रूप निश्चय रत्नत्रय के परिणाम ही मोक्ष के कारण हैं ऐसा तीर्थकर देव सौ इन्द्रों और गणधरों की उपस्थिति में कहते हैं।

अपनी शुद्ध सम्पदा को छोड़कर-उसका माहात्म्य छोड़कर, अपने से अधिक पर वस्तु की कीमत करने रूप मिथ्यात्व परिणाम के साथ जो शुभ-अशुभ भाव होते हैं, वे ही चार गति में भटकने के कारण हैं। नये कर्मबंध के कारण हैं। पर वस्तु से बंध नहीं, कोई जीव मरे या बचे, लक्ष्मी जाये या रहे, लक्ष्मी आने की क्रिया हो या जाने की क्रिया हो वे तुझे बंध के कारण नहीं; परन्तु उनकी तरफ की रुचि—आसक्ति पूर्वक

तेरे परिणाम ही बंध के कारण हैं। कर्म भी बंध के कारण नहीं। अपने परिणाम और कर्म ये दो बंध के कारण नहीं हैं। भले अन्य वस्तु निमित्त हो, परन्तु बंध का कारण तो एक जीव का परिणाम ही है।

अपने शुद्ध स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप भावों में सुख है ऐसी विपरीत मान्यता ही जीवको संसार बंध का कारण है। इससे विपरीत शुद्ध स्वरूपी भगवान आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता रूप परिणाम ही मोक्ष का कारण है। देह की क्रिया मोक्ष का कारण नहीं। स्वभाव की महिमा का ज्ञान, स्वभाव की महिमा का विश्वास, स्वभाव की महिमा में लीनता रूप स्व अभिमुख के परिणाम ही आत्मा को मुक्ति के कारण हैं। दो-चार लाख रुपया दान में देना यह शुभ परिणाम बंधका कारण है। ऐसे परिणाम आते हैं परन्तु हैं बंध के ही कारण। पर सन्मुखता के परिणाम आत्मा को बंध के कारण हैं और स्व सन्मुखता के परिणाम आत्मा को मुक्ति के कारण हैं।

सम्यक्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि परन्तु जितने अशुद्ध परिणाम हैं वे बंध के ही कारण हैं। सम्यक्दृष्टि को भी व्रतादि के जितने परिणाम आते हैं, वे परसन्मुखता के परिणाम हैं; उतना उन्हें भी बंध होता है। और जितने स्व सन्मुखता के परिणाम हैं, वे शुद्ध परिणाम ही मुक्ति के कारण हैं। ज्ञान तो दोनों का करना है।

अरे ! ज्ञान क्या न जाने ? तीन काल और तीन लोक को जानने वाला चैतन्य तत्त्व, साधक स्वभाव को और बाधक परिणाम को क्यों न जाने ? तीन काल और तीन लोक जिसकी एक समय की पर्याय में समा जाते हैं, ऐसा आत्मा साधकपने और बाधकपने को बराबर जानता है।

भाई ! तुझे जन्म-मरण रहित होना हो तो यह बात है। अन्यथा इन चार गतियों में अनादि से भटक-भटक कर हैरान हो ही रहा है। चार-छह घंटे बोलते या करवट बदले न बने तहां तो हाय-हाय, दुःख से बेचैन होता है। परन्तु यह बेचैनी किसकी ? आकुलता तो तेरे राग की है, करवट बदलना नहीं बना उसकी नहीं। शरीर जो जड़ है, पर है उसका करे कौन ? यहां तो कहते हैं कि जड़ का कुछ करने का अभिमान रूप परिणाम बंध का कारण है। तुझे खबर नहीं बापू ! भगवान आत्मा चिदानन्द की मूर्ति प्रभु है। उसके सन्मुख के परिणाम ही एक मात्र तुझे हितकर और कल्याण कर है। इसके सिवाय अन्य कोई तुझे हितकर और कल्याण का कारण नहीं।

*पुण्यकर्म मोक्षसुख नहीं दे सकता*

**अह पुणु अप्पा ण वि मुणहि पुणु वि करइ असेसु ।  
तउ वि ण पावइ सिद्धसुहु पुणु संसार भमेसु ॥१५॥**

निज आत्मा जाने नहीं अर पुण्य ही करता रहे ।  
तो सिद्धसुख पावे नहीं संसार में फिरता रहे ॥१५॥

अर्थ : यदि तू आत्मा को नहीं जानेगा सर्व पुण्य कर्म को ही करता रहेगा, तो भी तू सिद्ध सुख को नहीं पावेगा पुनः-पुनः संसार में ही भ्रमण करेगा ।

अपने शुद्ध आनन्द स्वरूप का ज्ञान-श्रद्धान के सिवाय सर्व प्रकार के ऊंचे से ऊंचे शुभ-भाव, दया-दान, व्रत, भक्ति, साधु के पंच-महाव्रत, बारह प्रकार के तप के भाव, एक लंगोटी भी न रखने के परिणाम, नवमी ग्रैवेयक जावे ऐसे शुभ परिणाम— ये सब बंध के कारण हैं । आत्म भान बिना का पुण्य मुक्ति का कारण नहीं । आत्म भान सहित ये हों तो इन्हें निमित्त कहने में आता है, परन्तु मुक्ति के कारण तो ये हैं ही नहीं ।

निज शुद्ध स्वभाव का भंडार अन्दर की महाराई में पड़ा है । उसे ज्ञेय बनाया नहीं, उसका श्रद्धान-ज्ञान किया नहीं । भगवान आत्मा ज्ञानानंद स्वभाव की कीमत की नहीं । भगवान आत्मा में आनन्द भरा है परन्तु उसका विश्वास ही नहीं किया, तो मुक्ति सुख भी नहीं पाया । चाहे चौथे काल में हो या पंचम काल में परन्तु शुभभाव तो बंध ही का कारण है; उससे जन्म-मरण का अन्त आता नहीं । पंचम काल है तो शुभभाव से कुछ तो लाभ होता होगा ? भाई । चार गति में पुनः-पुनः रुलने का लाभ होता है । आत्म-श्रद्धान के बिना पुण्य के भरोसे उल्टे चढ़ गया है; इससे मोक्ष सुख नहीं पावेगा । यह तो चार गति में परिभ्रमण का मार्ग है । इससे जन्म मरण का अंत होने वाला नहीं ।

*आत्मदर्शन ही मोक्ष का कारण है*

**अप्पादंसण इक्क परु अणु ण किं पि वियाणि ।  
मोक्खह कारण जोईया णिच्छह एहउ जाणि ॥१६॥**

निज आत्मा को जानना ही एक मुक्तिमार्ग है ।  
कोई अन्य कारण है नहीं हे योगिजन ! पहिचान लो ॥१६॥



**अर्थ :** हे योगी ! एक आत्मा का दर्शन ही मोक्ष का मार्ग है, अन्य पर कुछ भी मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा जान, निश्चयनय से तू ऐसा ही समझ ।

हे धर्मात्मा ! इस आत्मा का दर्शन ही एक मोक्ष-मार्ग है । यह आत्मा एक समय में अनन्त गुण सम्पन्न प्रभु है । उससे सर्वज्ञदेव के कथन द्वारा बताई हुई रीति से पहले जान । आत्मा मन, वचन और कार्य से भिन्न है । पुण्य-पाप के राग से तथा गुण-गुणी के भेद से भी रहित है, ऐसे आत्मा का दर्शन ही एकमात्र मोक्ष का उपाय है ।

आत्मा का दर्शन अर्थात् जहां मन की पहुंच नहीं, वाणी की गति नहीं, काया की चेष्टा जहाँ काम करती नहीं, विकल्प को जहां अवकाश नहीं, गुण-गुणी के भेद का अवलंबन नहीं, ऐसा अभेद अखंड एकरूप, चैतन्य आत्मा का दर्शन, अनुभव, प्रतीति करना वही एक सम्यक्दर्शन है । सम्यक्दर्शन और मोक्षमार्ग दो नहीं होते ।

एक आत्मा का ही दर्शन-ऐसा कहने से आत्मा सिवाय दूसरे द्रव्य भी हैं तो सही । मन-वचन-काय की चेष्टायें हैं, विचार करते समय मन भी है, बोलते समय वचन भी है, प्रत्यक्ष में हस्तादि की क्रिया भी है । आत्मा में जिनका अभाव है ऐसे पुण्य-पाप का राग भी है; परन्तु ये आत्म दर्शन में काम नहीं आते ।

कोई कहते हैं सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दो-दो प्रकार के हैं । उन्हें समझाते हैं, उनका कथन भले निश्चय और व्यवहार से दो प्रकार का आता है; परन्तु निश्चय सम्यक्दर्शन वह एक ही सम्यक्दर्शन है ।

छट्टे-सातवें गुणस्थान में झूलने वाले महासंत कहते हैं—आत्मा का दर्शन वह एक ही सम्यक्दर्शन है । इसके सिवाय नव तत्त्वों की श्रद्धा, देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा, छह द्रव्यों की श्रद्धा, भेद की श्रद्धा ये निश्चय सम्यक्दर्शन नहीं । एक समय में पूर्ण अनन्त गुणों से अभेद चिदानंद वस्तु आत्मा का अनुभव-प्रतीति वह निश्चय सम्यक्दर्शन है । बीच में पुण्य, दया-दान आदि व्यवहार आते जरूर हैं, परन्तु वे धर्म नहीं, वे तो बंध के ही कारण हैं । अनुकूलता से कहिये तो इस व्यवहार को अन्तर स्वभाव की दृष्टि में निमित्त कहने में आता है और प्रतिकूलता से कहिये तो ये बंध के कारण हैं ।

आत्मदर्शन के सिवाय अन्य को किंचित भी मोक्षमार्ग नहीं मानना चाहिये । आ हा हा ! त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर के मुख से निकली हुई दिव्य ध्वनि में यह आया

है। ऐसा ही संतो ने चारित्र सहित अनुभव किया और जगत के समक्ष रखा। वस्तु स्वरूप ही ऐसा है। आत्म दर्शन बिना जो कुछ भी है, उसे मोक्षमार्ग गिनने में नहीं आया है। आत्मा के अनुभव की दृष्टि बिना अन्य किसी वस्तु के द्वारा सम्यक्तव हो सकता नहीं और अन्य वस्तु में भी हो सकता नहीं।

भरत चक्रवर्ती जैसे चौथे गुणस्थान में हों तो भी उन्होंने आत्मा के साथ योगको जोड़ा है, और उन्हें अन्दर में सम्पूर्ण संसार से उदासीनता वर्त रही है। जिसे भोगों में रुचि नहीं, भोगों में सुख बुद्धि नहीं ऐसे सम्यक्दृष्टि को धर्मी और योगी कहा है।

यहां सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन की बात नहीं की; एक सम्यक्दर्शन की ही बात की है। क्योंकि अनुभव पर जोर देना है और अनुभव में तीनों आ जाते हैं। शांत शांत, धीर होकर अन्दर स्वभाव की एकता का अवलम्बन करने से सम्यक्दर्शन होता है; उसमें सम्यक्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्र का अंश भी साथ ही उत्पन्न होता है। इसलिए एक सम्यक्दर्शन ही को मोक्ष का कारण कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि सम्यक्दर्शन के साथ अनन्तानुबन्धी के अभावरूप स्वरूपाचरण भी होता है; कारण कि स्वभाव की रमणता रूप चारित्र के बिना सम्यक्दर्शन टिक नहीं सकता।

सम्यक्दर्शन एक को ही मोक्षमार्ग कहने में एकांत तो नहीं होता? नहीं, उसमें अनेकान्त रहता है। स्वरूप की दृष्टि, स्वरूप का ज्ञान और स्वरूपाचरण ये तीनों साथ-साथ हैं; उसमें विकल्पादि भावों की नास्ति है। व्यवहार सम्यक्तत्व तो राग है, उसका निश्चय सम्यक्दर्शन में अभाव है। ऐसे सम्यक्दर्शन बिना अन्य को सम्यक्दर्शन माने उसे तो मिथ्यादर्शन रूप पर्याय होती है।

सर्वज्ञ की वाणी में ऐसा आता है कि हमारे कहे शास्त्रों की श्रद्धा को हम सम्यक्दर्शन नहीं कहते। निज आत्मा के सन्मुख होकर प्रतीति और अनुभव करना, वह एक ही सम्यक्दर्शन है। दूसरे प्रकार का सम्यक्दर्शन हमने कहा नहीं, कहेंगे नहीं और है भी नहीं। भगवान ! तेरे में तू पूरा है। तुझे किसी की जरूरत नहीं। परसन्मुख ज्ञान की जरूरत नहीं। पर पदार्थ की श्रद्धा की जरूरत नहीं। पर के आश्रय से होने वाले दया-दान आदि राग भाव की भी जरूरत नहीं। ये तो ठीक; परन्तु यह आत्मा और ये उसके गुण ऐसे मनके साथ उत्पन्न हुए विकल्प की भी तुझे जरूरत नहीं।

योगीन्दुदेव आदेश देते हैं—हे आत्मन् । निश्चय सम्यक्दर्शन की यह ही रीति है । बाकी सब विकल्प, व्यवहार और निमित्त हैं ऐसा तू जान । व्यवहार श्रद्धा, शास्त्र ज्ञान, कषाय की मंदता ये मुक्ति के किंचित् भी कारण नहीं, ये तो बंध मार्ग हैं । गुणभेद की, राग की जितनी महिमा आती है, वह तो शल्य है । बापू ! वीतराग परमेश्वर का मार्ग जगत ने सुना नहीं और विपरीत रास्ते चढ़ गया । भगवान कहते हैं—भाई ! ये सब राख पर लीपने जैसा है, व्यर्थ है । आत्मदर्शन बिना भले सच्चे देव शास्त्र गुरु को मानता हो; परन्तु इतना मात्र ही मुक्ति का मार्ग नहीं ।

*मार्गणा व गुणस्थान आत्मा नहीं है :*

**मगगणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि ।  
णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिय पावहु परमेट्ठि ॥१७॥**

**मार्गणा गुणथान का सब कथन है व्यवहार से ।  
यदि चाहते परमेष्ठिपद तो आत्मा को जान लो ॥१७॥**

**अर्थ :** केवल व्यवहार नय की दृष्टि से ही जीव को मार्गणा व गुणस्थान कहा है । निश्चय नय से अपने आत्मा को आत्मरूप ही समझ, जिससे तू सिद्ध परमेष्ठी के पद को पा सके ।

भगवान सर्वज्ञदेव त्रिलोकीनाथ, परमात्मा दिव्यध्वनि द्वारा जो बात कहते हैं वही बात संतों के विकल्पों द्वारा वाणी में आ जाती है । जिनेन्द्र देव ने गुणस्थान और मार्गणा कही है । यह जीव किस गति में है, किस लेश्या में है, भव्य है कि अभव्य, किस ज्ञान में है इत्यादि, ये सब भेद व्यवहार नय के विषय होने से जानने योग्य तो हैं, किन्तु आदरने योग्य नहीं । इनके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता । सम्यग्दृष्टि की दशा, मुनिदशा, केवली की दशा कैसी होती है ? इसका जिसे ख्याल भी न हो, उनकी तो यहाँ बात ही नहीं करते । सम्यग्दृष्टि को ये सब जानने लायक हैं परन्तु इनमें सम्यक्दर्शन को उत्पन्न करने की ताकत नहीं है ।

ये गुणस्थान-मार्गणास्थानवर्तमान पर्याय में अस्ति रूप हैं, परन्तु ये मात्र व्यवहार नय का विषय हैं । निश्चय नय से अर्थात् त्रिकाल अभेद दृष्टि की अपेक्षा ये सब भेद अभूतार्थ, असत्यार्थ कहने में आते हैं । मैं भव्य हूँ, मति-श्रुतज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व,

पाँच इन्द्रिय वाला हूँ, ये सब पर्याय अपेक्षा से सत्य हैं, परन्तु ये भेद स्वभाव में नहीं हैं इसलिए आश्रय करने लायक नहीं, आश्रय करने लायक तो त्रिकाल अभेद स्वभाव ही है।

**अशेष कर्म का भोग है, भोगना अवशेष रे ।  
इससे देह इक धार के, जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे ॥**

श्रीमद् रायचन्द्रजी कहते हैं कि थोड़ा भी राग वर्तता है उससे जाना जाता है कि अभी उसका वेदन रहेगा और इस कारण एक दो भव करने पड़ेंगे। पर्याय का ज्ञान तो होता है पर वह आदरणीय नहीं।

भगवान् आत्मा को जान कि जो केवल-ज्ञान स्वभावी, अभेद, अनंत गुणमय प्रभु है, जिसमें “यह आत्म द्रव्य, ये गुण” ऐसा भेद भी नहीं। ऐसे आत्मा को आत्म रूप जान। इसे जानने का फल क्या है? अभेद, चिदानन्द आत्मा को जानेगा उसका आश्रय करेगा तो निश्चय से अरहंत, सिद्ध पद पावेगा। अपने आत्मा को जानने से सिद्ध होगा, व्यवहार को जानने से सिद्ध नहीं होगा।

कितने ही कहते हैं कि तीर्थंकर प्रकृति बंधी है, उससे मुक्ति मिलेगी, उन्हें समझाते हैं यह बात असत्य है, तेरा ज्ञान ही गलत है, आत्मा, आत्मा में ठहरेगा तो मुक्ति पावेगा। सम्यक्दृष्टि को विकल्प आया और तीर्थंकर प्रकृति बंध गई, उसका ज्ञान है; परन्तु यह सब मात्र जानने लायक है। एक ही बात है कि आत्मा, आत्मा को जानकर उसी में स्थिर होगा तो सिद्ध पद पावेगा। श्रेणिक राजा को भगवान् महावीर के दर्शन का विकल्प आया और भगवान् के पास समवसरण में गये। भगवान् की दिव्यध्वनि में आया—“हे श्रेणिक ! तू भविष्य में तीर्थंकर होगा।” ऐसा सुनकर श्रेणिक ने वहीं स्वभाव के अवलंबन से क्षायिक सम्यक्त्व पाया। क्षायिक सम्यक्त्व हुआ यह जाना। लेकिन क्षायिक सम्यक्त्व हुआ और तीर्थंकर होऊँगा ऐसा ज्ञान, उसे केवल ज्ञान का कारण नहीं। भगवान् की वाणी से ये निश्चित हो गया कि तीर्थंकर होऊँगा फिर भी ऐसा ज्ञान भी आश्रय करने लायक नहीं।

व्यवहार दृष्टि से जो कहा उसे जान। वस्तु स्वभाव से प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। उसकी अन्तरश्रद्धा, ज्ञान और आचरण से मुक्ति होती है। यह बात त्रिकाल सत्य

है—अफर है। अन्य की श्रद्धा-ज्ञान या आचरण मुक्ति का कारण नहीं। व्यवहार रत्नत्रय भी मुक्ति का कारण नहीं।

*गृहस्थी भी निर्वाण कार्य पर चल सकता है :*

**गिहिवावार परद्विआ हेयाहेउ मुणंति ।  
अणुदिणु झायहि देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति ॥१८॥**

**घर में रहे जो किन्तु हेयाहेय को पहिचानते ।  
वे शीघ्र पावें मुक्ति पद, जिनदेव को जो ध्यावते ॥१८॥**

**अर्थ :** जो गृहस्थ के व्यापार में लगे हुए हैं तथा हेय-उपादेय (त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य) को जानते हैं, तथा रात-दिन जिनेन्द्रदेव का ध्यान करते हैं वे भी शीघ्र निर्वाण को पाते हैं।

श्री योगीन्दुदेव कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में भी आत्मानुभव हो सकता है। घर में रहते हुए भी मोक्षमार्ग पर चलते हैं। मुनिराज उग्र पुरुषार्थ से शीघ्र ही मोक्ष का उत्कृष्ट साधन करते हैं, गृहस्थ सम्यक्दृष्टि अपने योग्य साधन करते हैं, उनका पुरुषार्थ मंद होता है। उनको भी प्रतिक्षण राग का हेयपना ज्ञान में वर्तता है।

आत्मा स्वयं निर्वाण स्वरूप है-मोक्ष स्वरूप है। उसका साधन आत्मा है। एक समय का विकार है वह हेय है, उसे छोड़कर अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड पूर्णानंद प्रभु उपादेय है। फिर गृहस्थाश्रम में ये काम क्यों नहीं हो सकता? अर्थात् अवश्य हो सकता है।

आत्मा स्वयं अनंतज्ञान-आनन्द आदि गुणों का पिंड है। उसे उपादेय क्यों नहीं किया जा सकता? गृहस्थाश्रम में आत्मा है कि नहीं? आत्मा है तो उपादेय क्यों नहीं कर सकते? आत्मा है, स्वयं शुद्ध स्वभाव को धारण किये हुए है, परमात्मा और आत्मा के स्वरूप में कुछ भी अन्तर नहीं। जब ऐसा अपना स्वरूप है तो उसे उपादेय क्यों नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं।

रागादि तो भिन्न हैं, तेरे में नहीं, जो तेरे में नहीं वह तेरे साधन कैसे हो सकते हैं? इसलिए रागादि तेरे साधन नहीं। जो तेरे में हैं वह तेरे साधन हैं। व्यापारादि हों, रागादि हों ये सब उनमें हैं। आत्मा, आत्मा में है। “मैं तो शुद्ध परमात्मा ही

हूँ”—ऐसा मानना इसका नाम ही उपादेय-पना है। अन्तर की रुचि-दृष्टि करके आत्मा को स्वीकारना, “आत्मा ही मैं हूँ” यह गृहस्थाश्रम में भी हो सकता है।

वस्तु शुद्ध है और उसका ज्ञान, श्रद्धान, आचरण—ये स्वभाव के साधन भी शुद्ध हैं। ये भी अपने स्वभाव में से आते हैं; कहीं दूर से, राग में से, पर में से नहीं आते। इसलिए गृहस्थाश्रम में मोक्ष का मार्ग प्रारम्भ हो सकता है।

“वस्तु स्वयं है, यही कीमती चीज है, अल्पज्ञता, राग या पर-वस्तु ये मेरी दृष्टि में कीमती नहीं।” ऐसे उपादेय रूप से वस्तु को दृष्टि में ग्रहण करना चाहिए।

भगवान आत्मा परमानंद स्वरूप रत्न स्वयं ही है, जहाँ दृष्टि में ऐसा आदर आया वहाँ साधन भी स्वयं ही है और उसमें एकाग्र होते ही साधक दशा प्रगट हुई वह भी अपने समीप ही है अर्थात् अपने में ही है।

तू स्वयं है और अपना कार्य न कर सके इसका अर्थ क्या? तू है तो अपना कार्य जरूर कर सकता है। गृहस्थाश्रम में हेय, उपादेय का विवेक जरूर हो सकता है। पहले शास्त्र से, गुरुगम से, तीव्र जिज्ञासा से हेय उपादेय का ज्ञान करे। पीछे इसकी दृष्टि में आवे कि अहो! अनंत गुण स्वरूप भगवान आत्मा तो मैं स्वयं हूँ।

गृहस्थाश्रम में व्यापारादि के समय में क्या आत्मा कहीं चला गया है? नहीं, तो यह आत्मा को उपादेय रूप श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण करे और रागादि को हेय जाने। रागादि को हेय रूप जानते ही व्यवसायादि का रस नहीं रहता।

यदि व्यापार में रस न रहे तो पैसा किस प्रकार कमावे? व्यापार में रस हो तो पैसा कमाता है या पुण्य से पैसा कमाता है? पुण्य हो तो पैसा मिलता है। यहाँ तो दो बातें कहते हैं, एक तू स्वयं और दूसरे तेरे से विरुद्ध विकार भाव व्यापारादि के परिणाम—ये दुःख रूप हैं, हेय हैं, आदर के योग्य नहीं, ऐसा ज्ञान करना चाहिये। विकारी भावों से भिन्न त्रिकाली ज्ञायक मूर्ति चिदानंद शुद्ध आत्मा का अन्तर्मुख होकर आदर करना चाहिए। इतना तो गृहस्थाश्रम में रहकर भी हो सकता है।

गृहस्थाश्रम में भी तू पृथक ज्ञायक तत्त्व है। उसके साधन द्वारा संसार से छूटने का उपाय हो सकता है। अर्थात् धंधे आदि के परिणाम और बाह्य क्रिया में रहने से यह नहीं हो सकता ऐसा नहीं है। परंतु पामर होकर इसने अपनी महिमा कभी की नहीं। वस्तु अपेक्षा तू जिनेंद्रस्वरूप ही है। परंतु अपने में जो है, उसे दृष्टि-श्रद्धा में न ले—महिमावान वस्तु होने पर भी उसे भूलकर हीन भाव रखे तो श्रीगुरु क्या करें?

अज्ञान करने में भी जीव स्वतंत्र है। ज्ञानानंद मूर्ति वस्तु को अंदर में स्वीकार करने के बाद जो विकल्प उठते हैं, वे इसके स्वरूप में न होने से उन्हें हेय जानकर गृहस्थाश्रम में भी हेयोपादेय का ज्ञान कर सकता है।

“सिद्ध समान सदा पद मेरो ” सिद्ध समान तेरा आत्म तत्त्व है; परन्तु इसकी खबर नहीं और कहता है मुझे धर्म करना है, परन्तु धर्म कहाँ से होगा। “धर्म करने वाला धर्मी महान पदार्थ है” ऐसी उपादेय बुद्धि गृहस्थाश्रम में करे तो धर्म हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा व्यापारादि के भाव रूप परिणमता हो या बाह्य क्रिया में निमित्त रूप उपस्थित दिखता हो तो भी उन्हें हेय जानकर आनन्द में रह सकता है। गृहस्थाश्रम में अन्तर में आनन्द स्वरूप आत्मा का स्वीकार और राग को हेय कर सकता है। और किसी समय आनन्द के अनुभव में वर्त सकता है। लेकिन बात यह है कि अज्ञानी को आत्मा कितना और कैसा है, इसकी खबर नहीं है।

दृष्टि में पूर्ण आत्मा का स्वीकार होते ही परमेश्वर का स्वीकार हो गया और हेय ऐसे रागादि का दृष्टि में त्याग हो गया। पैसा आदि से लाभ माने उसे स्वभाव का लाभ स्वीकार कैसे हो सकता है? एक तरफ पैसे की ममता का भाव दूसरी तरफ समता का पिंड-स्वभाव। ममता के समय में भी समता का पिंड प्रभु कहीं चला नहीं गया है; मात्र समता के पिंड का स्वीकार और ममता को अस्वीकार करे तो गृहस्थाश्रम में भी धर्म हो सकता है।

ध्यावे सदा जिनेश पद—रात दिन जिनेन्द्र देव का ध्यान करता है। जिनेन्द्र अर्थात् वीतराग, अन्दर में वीतराग की लगन लगी है। वीतरागी आत्मा और वीतराग देव में कुछ अन्तर नहीं है। समकिती गृहस्थाश्रम में हो, धंधे में पड़ा हो, हजारों रानियों के वृंद में पड़ा हो तो भी उसे दिन-रात वीतराग-वीतराग शुद्ध-शुद्ध आत्म स्वरूप ही आदरणीय है। अशुद्धता आदरणीय नहीं, ऐसा यदि समकिती को न हो तो सम्यक्दर्शन-ज्ञान ही न हो। पर को पर-रूप हेय रूप जाने बिना उपादेय रूप चिदानन्द भगवान आत्मा का ज्ञान यथार्थ हो ही नहीं सकता। आत्मा को उपादेय रूप जाना अर्थात् शुभाशुभ भावों को हेय रूप माना। शुभाशुभ भाव लाभ के हेतु नहीं, नुकसान के ही कारण हैं ऐसा माना।

मोक्ष का सर्वदेश साधन तो मुनि करते हैं, गृहस्थाश्रम में एकदेश साधन हो सकता है। मुनि अर्थात् बाहर का त्यागी वह मुनि, ऐसा नहीं। शुद्ध चिदानन्द आत्मा

के भान पूर्वक उसमें स्थिर हो खूब आनन्द को वेदे, वह मुनि, ऐसे मुनि मोक्ष का उत्कृष्ट साधन करते हैं ।

जहाँ अकेला पूर्णानन्द का नाथ चैतन्य प्रभु दृष्टि में पड़ा है वहाँ सम्पूर्ण संसार के उदय भाव का दृष्टि में त्याग वर्तता है । आत्मा का आदर हुआ, वहाँ मिथ्यात्व का त्याग हो गया, अर्थात् बड़ा त्यागी हो गया । ऐसे त्याग बिना बाहर की क्रिया को त्याग मानने वाले, दया-दान के भाव से लाभ होता है ऐसे मानने वाले त्यागी ने सम्पूर्ण आत्मा का ही त्याग किया है । उसने राग का त्याग नहीं किया, उसने आत्मा का ही त्याग किया । ज्ञानी को तो जिस भाव से तीर्थकर प्रकृति बंधे उस राग का भी त्याग वर्तता है ।

प्रभु अन्दर में बिराजता है और उसका साधन भी दूर नहीं, निकट में अर्थात् अन्दर में ही है । आत्मा में एकाग्र होना यह उसका साधन है । ऐसे साधन को और साधन के ध्येय को न जाने, ज्ञान में नहीं वर्ते, इसीसे उसकी दृष्टि में आत्मा का त्याग वर्तता है; परन्तु दृष्टि में राग का त्याग नहीं वर्तता ।

धर्मी जीव छयानवे हजार रानियों के वृंद में रहता हो तो भी उसे भोग के समय में भी दृष्टि में उसका त्याग वर्तता है । मेरा आनन्द मेरे पास है । परन्तु अरे रे ! समाधान नहीं होता अर्थात् राग आता है । परन्तु समकिती इस अस्थिरता को हेय रूप जानता है । इस अस्थिरता के राग के बाद दूसरे ही क्षण कदाचित ध्यान में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी कर ले । वासना के विकल्प में चला गया, परन्तु अन्दर तो सच्चिदानन्द प्रभु को दृष्टि में से छोड़ता नहीं ।

गृहस्थाश्रम में भी स्व स्वरूप तो मौजूद है; फिर भी उसे क्यों आदरणीय नहीं करता अपने स्वरूप की महिमा नहीं अर्थात् विकार की, पर की महिमा उसकी दृष्टि में पड़ी है । उस कारण मिथ्यात्व में पड़ा है । यदि गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी स्व की महिमा आ गई, यह अखंडानन्द प्रभु ही मेरा विश्राम धाम है, उसका रसास्वादन करना ही मेरा काम है, ऐसी अन्तर दृष्टि हुई वहाँ ज्ञानी पूजा भक्ति आदि के भावों को भी त्याग बुद्धि से देखता है ।

प्रभु तू है कि नहीं ? है तो कितना बड़ा है ?

अनंत गुणों का दरिया है, ज्ञान स्वरूप से भरिया है ।

आनंद का तू कंद है, वीर्य का घनपिंड है ।



शांति का तू सागर है। अनन्त पुरुषार्थ अर्थात् वीर्य से भरा पदार्थ है। स्वच्छता का धाम है, अनन्त गुणों में से प्रत्येक गुण की प्रभुता से भरा तू प्रभु है। ऐसे भगवान का अनन्त काल से जिसके त्याग वर्तता था; उसे उसका श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण हुआ और अनन्त काल से जिन रागादि पुण्य परिणामों को करने लायक मानकर ग्रहण किया था, उनका त्याग हुआ।

समकित्ती जिनेन्द्र देव का सदा ध्यान करता है, उसे उस समय भी आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान तो निरन्तर वर्तता है, कभी निर्विकल्प ध्यान भी गृहस्थी को होता है।

स्वरूप शुद्ध है ऐसा अनुभव पूर्वक सम्यक् दृष्टि को ज्ञान होने पर वह सामायिक में प्रयोग करता है "मैं परमात्मा हूँ" तो उपयोग इसमें स्थिर रह सकता है या नहीं? इसकी आजमाइश करता हूँ। रोज सामायिक में आजमाइश-(प्रयोग)करता हूँ। तथा महिना, पंद्रह दिन, चौबीस घंटे प्रयोग करे कि आत्मा अन्दर स्वरूप में कितना रह सकता है? इस प्रयोग को प्रोषघ कहते हैं। देह त्याग के समय निर्विकल्प कितने रह सकते हैं? भव के अभाव के समय भव के अभाव स्वरूप भगवान आत्मा में स्थिरता कितनी रह सकती है? उसका प्रयोग करना उसे समाधिमरण कहते हैं। यह सब गृहस्थाश्रम में हो सकता है।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम में रहते हुये जो आत्मा को उपादेय जाने और रागादि को हेय जाने, वह अल्पकाल में निर्वाण को पाता है।

*जिनेन्द्र देव का स्मरण परम पद का कारण है :*

**जिण सुमिरहु जिण चिंतबहु जिण ज्ञायहु सुमणेण ।  
सो ज्ञाहंतह परमपउ लब्भइ एक्खणेण ॥१६॥**

**तुम करो चिन्तन स्मरण अर ध्यान आत्मदेव का ।  
बस एक क्षण में परमपद की प्राप्ति हो इस कार्य से ॥१६॥**

**अर्थ :** शुद्ध भाव से जिनेन्द्र का स्मरण करो, जिनेन्द्र का चिंतवन करो, जिनेन्द्र का ध्यान करो, ऐसा ध्यान करने से एक क्षण में परमपद प्राप्त हो जाता है।

हे आत्मा। वीतराग परमेश्वर और तेरे आत्मा में स्वभाव से कुछ अन्तर नहीं है। वर्तमान् पर्याय में अन्तर है। भगवान की दशा पूर्णानन्द रूप हो गई है और तेरी दशा

में राग है, मलिनता है। आत्म स्वभाव और भगवान के स्वभाव में कुछ अन्तर नहीं। इसलिये यहाँ कहते हैं कि केवल ज्ञानी परमेश्वर ने जैसा भगवान आत्मा देखा है, वैसा ही आत्मा जिसके श्रद्धा-ज्ञान में बैठा है वह धर्मी जीव बारबार भगवान आत्मा का स्मरण करता है। वह राग का, निमित्त का, या संयोग का स्मरण नहीं करता।

हे आत्मन् ! शुद्धभाव से जिनेन्द्र का स्मरण करो ! जिनेन्द्र अर्थात् आत्मा। भगवान आत्मा का स्वभाव वीतरागी, इन्द्र-ईश्वर है, परन्तु स्वयं अपने को रंक मान बैठा है। इसके बिना मेरा न चले, उसके बिना मेरा नहीं चलता, ख्याति में थोड़ा-सा भी धक्का लगे, वहाँ न जाने क्या-क्या हो जाता है, ऐसे जीवों को स्वभाव की बात कैसे बैठे ? भगवान सच्चिदानन्द प्रभु जिनेन्द्र हैं, उसे राग वाला मानना यह बड़ा भारी कलंक है प्रभु।

भाई ! भगवान आत्मा वीतराग मूर्ति प्रभु है। उसका शुद्ध भाव से चिंतवन करना। राग, दया-दान के विकल्प तो छोड़ने लायक हैं, उन्हें बारंबार याद ही क्यों करता है। आते हैं तो उसे याद क्यों करते हो ? आत्मा साक्षात् वस्तु पने जिनेन्द्र प्रभु है। उसकी दशा में जिनेन्द्रपना प्रगट करने के लिए इस जिनेन्द्र प्रभु में एकाग्र होकर ध्यान करना, यह प्रगट जिनेन्द्र होने का उपाय है।

आ हा हा ! घर पर परमेश्वर प्रभु आदिनाथ मुनिराज पधारे उसका तो आदर न करे और सड़ी हुई रोगवाली भिखारि, का आदर करे। वैसे ही तीन लोक का नाथ भगवान, अपने समीप में विराजता है उसका तो आदर नहीं करता और पुण्य-पाप का मैल-भिखारी जैसे विकार का, शरीरादि का सत्कार करता है।

जिन सुमरो-भगवान आत्मा चैतन्य प्रभु उपादेय हैं और रागादि मैल हेय है; ऐसा जिसे पहले सम्यक्ज्ञान में विवेक प्रगटा है, वह जिनेन्द्र का स्मरण करता है। बाहर के प्रपंचों का स्मरण करता है इसकी अपेक्षा तो चिदानन्द प्रभु तेरे समीप में ही है, उसका स्मरण कर न। इसे स्मरण करने से आनन्द प्रगट होगा। इसलिए अन्दर जो रागादि रूप पुण्य भाव जहर हैं; इन्हें याद करने जैसा ही नहीं है। छोड़ दे इसका लक्ष ! पवित्र प्रभु का स्मरण करने जैसा है। यह तुझे हित का कारण है।

हे मोक्षार्थी ! निज परमात्मा में और जिनेन्द्र में कुछ भी भेद न जान।

शुद्ध भाव से जिनेन्द्र का स्मरण करो अर्थात् क्या ? जिनेन्द्र के समान ही मेरा आत्मा है, ऐसी राग बिना की वीतराग दशा द्वारा भगवान आत्मा का स्मरण करना । राग के आश्रय से कहीं जिनेन्द्र का स्मरण नहीं होता, यह तो विकार का स्मरण है । इस विकार के स्मरण में इसका संसार अनादि का जैसा है वैसा ही रहता है । भाई ! तुझे इस संसार का अंत लाना हो, सुखी होना हो तो जिनेन्द्र समान निज स्वभाव का स्मरण कर । ऐसा स्मरण कब कर सकता है ? और कौन कर सकता है ? पहले ऐसा निर्णय किया हो कि 'मैं पूर्ण परमात्मा हूँ' मेरे स्वभाव में पूर्ण आनन्द और पूर्ण निर्दोषिता भरी पड़ी है, ऐसा जिसकी श्रद्धा में, धारणा में आया हो वह जिनेन्द्र का स्मरण कर सकता है ।

जिसे जिसका प्रेम हो वह उसका स्मरण करता है । जैसे, शादी के व्यस्त समय में भी बड़ी बहन और भानजा वगैरह न आये हों तो उनका स्मरण करता है । जैसे ही शुद्ध अखंडानन्द परमात्मा का स्वरूप, वही मेरा स्वरूप है—ऐसे निर्णय पूर्वक जिसे आत्मा का प्रेम जगा हो, वह आत्मा का बारंबार स्मरण करता है ।

सांसारिक भोगों में, पैसा कमाने आदि में कितना उत्साह आता है ? क्योंकि अज्ञान का प्रेम है । इनमें वह भले ही मजा माने, परन्तु अभी भी दुःखी ही है । और चार गति के दुःखों में भटकने वाला है । ऐसे कमाऊँ, ऐसी शादी करूँ, ऐसा करूँ—इस प्रकार कषायों में कितना हर्ष है ? ये तो अकेला दुःख के ही कोल्हू में पिल रहा है ।

“रुचि अनुयायी वीर्य” जिसे जिसकी रुचि है वहाँ उल्लसित वीर्य से काम करता है । उसका श्रद्धा-ज्ञान भी वहीं काम करता है । जिसे यह आत्मा सुखी कैसे हो—ऐसी जरूरत लगी हो और इस आत्मा की दया आयी हो—अरे रे ! अनन्तकाल से चौरासी लाख योनियों के अवतारों में कहीं कोई शरण नहीं, कहीं कोई आधार नहीं, मात्र दुःखी हो कर तड़प रहा है ऐसी इसे दया आनी चाहिये । अरे आत्मन् ! तुझे कुछ सुख हो ऐसे मार्ग को स्वीकार कर भाई ! तू जिनेन्द्र स्वरूपी है—ऐसा श्रद्धान-ज्ञान में ले । ऐसा जिसने श्रद्धान-ज्ञान में लिया वह बारंबार जिनेन्द्र का स्मरण करता है । अर्थात् स्वरूप में बारंबार एकाग्रता करने से उसे मुक्ति प्राप्त होती है । इसलिए यहाँ कहते हैं कि “जिन सुमरो, जिन चिंतवो, जिन ध्यावो । मैं स्वयं वीतराग परमात्मा हूँ ऐसा स्मरण कर, चिंतवन कर, इसमें ही एकाग्रता करं ।

त्रस पर्याय की स्थिति तो दो हजार सागर की है, पीछे तो निगोद में अनन्तकाल के लिये चला जावेगा । अरे आत्मन् ! तू परमात्मा होकर भी इस परिभ्रमण के पंथ में

क्यों चढ़ गया ? इस परिभ्रमण के पंथ का अभाव करने की तेरे में शक्ति है । मैं आत्मा हूँ ऐसी गुलांट खा ।

क्षण में केवलज्ञान ले सके ऐसा तू है—एक क्षण में करोड़ों रुपये का बंगला नहीं बना सकता; परन्तु भगवान आत्मा परमानंद की मूर्ति, ज्ञानसूर्य, वीतराग स्वरूपी है, इसका ध्यान करने से, इसे ध्येय बनाकर लीन होते ही एक क्षण में केवलज्ञान रूपी बंगला प्रगट कर सके—ऐसा समर्थ परमात्मा तू है । वह केवलज्ञान सादि-अनन्तकाल तक रहेगा । परन्तु ऐसे निज परमात्मा के सन्मुख होकर कभी देखा ही नहीं ।

सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चरित्र में आंशिक आनन्द का स्वाद आता है, इस आनन्द का स्वाद लेने वाला सम्यक्दृष्टि जगत को ऐसा देखता है कि अहो ! ये सब जीव परमात्मा प्रभु हैं । इनकी भूल तो एक समय की है । इस कारण सम्यक्दृष्टि को किसी भी आत्मा के प्रति विषमभाव नहीं होता । सभी आत्मायें अपने परमात्म स्वरूप का आश्रय लेकर एक समय की विकृत दशा को तोड़कर स्वयं जिनेन्द्र परमात्मा बन जावेंगी, अतः किसे छोटा और किसको बड़ा कहना ?

जिसकी श्रद्धा में वीतराग स्वभावी आत्मा की कीमत आई वह बारंबार कीमती चीज को याद करके स्थिर होता है । वह अल्पकाल स्थिर होता है तो उसे इतना आनन्द आता है, और यदि विशेष स्थिर हो तो क्षण में केवलज्ञान पावे अर्थात् परमात्मा हो जावे ।

मैं परमात्मा के समान हूँ.....परमात्मा के समान हूँ.....मैं परमात्मा हूँ.....परमात्मा हूँ ऐसा परमात्म स्वरूप का ध्यान करते-करते परमात्मा हो जाते हैं । और मैं रागी हूँ.....रागी हूँ.....राग का कर्त्ता हूँ ऐसा करते-करते मूढ़ हो जाते हैं । राग का और पर का आत्मा कर्त्ता नहीं, यदि कर्त्ता हो तो उससे तन्मय हो जाना चाहिये। परन्तु आत्मा रागादि से कभी तन्मय होता नहीं-ऐसा भगवान आत्मा परमपद का कारण है ।

अब कहते हैं कि अपने आत्मा और परमात्मा में अन्तर नहीं है । एक समय की विकृतदशा तथा अल्पज्ञता आत्मा का असली स्वरूप नहीं । आत्मा में एक समय में तीन प्रकार हैं—(१) पुण्य-पाप की विकृत दशा से मुझे लाभ होता है । (२) उसे जानने वाली अल्पज्ञ दशा (३) विकृत और अल्पज्ञता के समय ही पूर्ण शुद्ध सर्वज्ञ स्वभाव है।

अर्थात् जब पर्याय में विकार और अल्पज्ञता है उसी समय भगवान आत्मा वीतराग बिम्ब है ।

*अपनी आत्मा में व जिनेन्द्र में भेद नहीं :*

**सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किमपि वियाणि ।  
मोक्खह कारण जोईया णिच्छइ एउ वियाणि ॥२०॥**

**मोक्षमग में योगिजन यह बात निश्चय जानिये ।  
जिनदेव अर शुद्धात्मा में भेद कुछ भी है नहीं ॥२०॥**

**अर्थ :** हे योगी ! अपने शुद्धात्मा में और जिनेन्द्र में कोई भेद मत समझो । मोक्ष का साधन निश्चयनय से यही पानो ।

आ हा हा ! इसमें तो अकेला मक्खन भरा है । मीठे-मीठे और नरम-नरम गाँठिये परोसे हैं । दाँत वाले बच्चे भी खायें, दाँत बिना के बच्चे भी खायें, जवान भी खायें और वृद्ध भी खायें-ऐसे गाँठिये परोसे हैं ।

निज स्वरूप की कीमत जिसे भासी है ऐसे हे योगी ! तू आत्मा में और परमात्मा में किंचित भी भेद न जान । सर्वज्ञ देव अपने ज्ञान में ज्ञान से सबको भिन्न जानते हैं। परमात्मा, सर्वज्ञ पर्याय से जानते हैं, तू भी अल्पज्ञ पर्याय से जानने का ही काम करता है । इसलिए तेरे में और सर्वज्ञ में कुछ भी अंतर नहीं है । वस्तु स्वभाव ही ऐसा है । सम्यक्ज्ञान-दीपिका में कहा है कि जो एक क्षण भी सिद्ध परमात्मा और निजात्मा में भेद माने वह मिथ्यादृष्टि—संसारी है । क्योंकि जिसने एक क्षण भी अन्तर माना उसने राग में और विकल्प में एकता मानी । राग का, पर का कर्त्ता होकर वहाँ रुक गया । वह मूढ़-मिथ्यादृष्टि, संसारी निगोद गामी है ।

जिस प्रकार सर्वज्ञ परमात्मा के राग नहीं और राग के वे कर्त्ता नहीं, वैसे तेरी पर्याय में राग है परन्तु स्वभाव में राग नहीं और राग का तू कर्त्ता नहीं । जिनेन्द्र सबको जानते हैं, तू भी मात्र जानता ही है ।

जानन स्वभाव का स्वीकार ही मोक्ष का साधन है, अन्य कुछ मोक्ष का साधन नहीं । वीतराग परमात्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा ही तेरा स्वभाव है—ऐसी प्रतीति करके उसमें स्थिर हो । ध्यान द्वारा आत्मा में एकाग्र होना ही मोक्ष का साधन और मोक्ष स्वरूप भी स्वयं है । व्यवहार रत्नत्रय मोक्ष का साधन है या गुरु मोक्ष का साधन

है ये कुछ नहीं लिया । सबको गौण किया है । मोक्ष का साधन तो परमात्मा और आत्मा में भेद न जाने यह है । परमात्मा पूर्ण वीतरागी पर्याय सहित हैं और मैं भी पूर्ण वीतरागी पर्याय प्रकट करने की सामर्थ्य वाला आत्मा हूँ ।

वीतराग परमात्मा और अपने स्वभाव में अन्तर नहीं, ऐसी मान्यता मोक्ष का साधन है । रागवाला मैं, कर्मवाला मैं ऐसी मान्यता बंध का साधन है ।

अरे रे ! अनन्त काल से मार्ग भूला है भाई ! और अब भूल को नष्ट करने का समय आया है और तू इस समय ऐसा नहीं वैसा नहीं, ऐसी विपरीतता करने बैठा ? भाई ! यह मान्यता हानिकारक है । खाने के समय लड़ाई करने बैठा ? समय गये बाद भोजन ठंडा हो जावेगा, फिर तुझे भोजन नहीं भावेगा । यह भूल को नष्ट करने का समय है, इसे चूकना नहीं बापू !

स्तुति में भी आता है कि हे तीर्थंकर देव ! राग, विकार और संयोग का अपने स्वभाव के साथ एकत्व नहीं करना, यह ही हमारे कुल की रीति है । प्रभु हम भी आपके भक्त हैं, हम भी राग, विकार और संयोग को अपने आत्मा में नहीं आने देंगे; एकमेक नहीं होने देंगे ।

भगवान आत्मा कौन है ? उसकी पर्याय कैसी है ? अल्पज्ञ पर्याय की मर्यादा क्या है ? विकार के समय स्वरूप की क्या स्थिति है ? इसे जाने बिना आत्मा का पता कहाँ से लगेगा ? भाई ! तेरे स्वरूप की पूर्णता में अपूर्णता कैसे कहनी ? तेरे स्वरूप को विकार वाला कैसे कहना ? तेरे स्वरूप को संयोग के संबंधवाला कैसे कहना ? भाई ! संबंध, विकार बिना का और अल्पज्ञता रहित तेरा स्वभाव परमात्मा के समान है ऐसा निश्चय से तू जान । इस प्रकार जानने से तुझे पर्याय में वीतराग दशा प्रकट होगी और अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त होगा ।

जैसे सिंह का बच्चा बचपन से ही बकरों के बच्चों के समूह में पला हो तो वह अपने को भी बकरा मानने लगा । परन्तु जब बड़ा सिंह आया और गर्जना की तो सब बकरे भाग गये; परन्तु सिंह के बच्चे को उस गर्जना से डर नहीं लगा इसलिए नहीं भागा । तब सिंह कहता है तू मेरी जाति का है, पानी में अपना मूँह देख ! तुम बकरे के समान नहीं हो, मेरे समान सिंह हो । बकरों के समूह में रहना तुझे शोभा नहीं देता। आज्ञा मेरे साथ ।

वैसे ही सर्वज्ञ देव कहते हैं, तू राग, द्वेष, अज्ञान में पड़ा है। इसलिए तू रागी-द्वेषी, अज्ञानी-संसारी ऐसे बकरों के समूह में सिंह के बच्चे के समान मिल गया है। जहाँ परमात्मा की गर्जना हुई, तुम मेरे जैसे परमात्मा हो, मेरी जाति के हो। अपने स्वरूप को देख तो सही। हमारे में जैसी पूर्णता प्रकट है ऐसी पूर्णता प्रकट करने की सामर्थ्य तुझमें है कि नहीं? अन्दर देख तो सही। कर्म, कर्म में, राग, राग में और अल्पज्ञता, अल्पज्ञता में रहते हैं, तेरे पूर्ण स्वरूप में नहीं हैं। तू तुझे देख तो सही।

एक बार विश्वास करके तो देख कि परमात्मा और तेरे में कुछ अन्तर है या नहीं? पूर्ण परमात्मा तेरे अन्तर में विद्यमान हैं। तुझे दूसरे की क्या आवश्यकता है? तू तेरे में और परमात्मा में भेद न जान। आ हा हा ! कितनी गजब बात कही है।

जैसे करोड़पति जैन ने जीमने के लिए अपनी जाति को निमंत्रण दिया हो तो गरीब जैन भी पंक्ति में बिना संकोच के आकर बैठ जाता है। मगर करोड़पति हरिजन आकर नहीं बैठ सकता। वैसे ही तुम सिद्धों के मंडप में प्रवेश पाने वाले आत्मा हो, दूर रहने वाले नहीं, ऐसा एक बार निर्णय तो कर, तू सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा।

*आत्मा ही जिन है, यही सिद्धान्त का सार है*

**जो जिणु सो अप्पा मुणहु इह सिद्धंतहु सारु ।  
इह जाणीविण जोयईहु छंडहु मायाचारु ॥२१॥**

**सिद्धान्त का यह सार माया छोड़ योगी जान लो ।  
जिनदेव अर शुद्धात्मा में कोई अन्तर है नहीं ॥२१॥**

**अर्थ :** जो जिनेन्द्र है वही यह आत्मा है ऐसा मनन करो। यह सिद्धान्त का सार है। ऐसा जानकर हे योगीजन ! मायाचार छोड़ो।

भगवान की वाणी चार अनुयोग रूप है। उसमें ये आया है कि जो जिनेन्द्र है, वही आत्मा है; ऐसा मनन करो। स्वयं सर्वज्ञ, वीतराग हुये पीछे वाणी में यह आया कि हम जैसे हैं वैसा ही तू है; कुछ भी अन्तर नहीं।

जिन आत्माओं ने अपना स्वरूप वीतराग-ज्ञाता दृष्टा जानकर भेद का लक्ष छोड़कर अभेद चैतन्य की साधना की उन आत्माओं की कथा को पुराण कहते हैं। जिसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेवादि शलाका पुरुषों का वर्णन है, उसका नाम प्रथमानुयोग है।

कर्म निमित्तक आत्मा की अनेक अवस्थायें होती हैं, उसे करणानुयोग कहते हैं। कहने का आशय यह है कि कर्म भी चीज है। उसके लक्ष से जितने विकार परिणाम होते हैं, उनसे भिन्न आत्मा, वीतराग परमात्मा के समान है। ये करणानुयोग के कथन का सार है।

ज्ञानावरणीय ने ज्ञान को रोका है, इसका अर्थ यह है कि तू जब ज्ञान का हान दशा रूप परिणमता है तब ज्ञानावरण निमित्त होता है। शास्त्र में अल्पज्ञता, अल्पवीर्य आदि का स्वरूप बतलाया है उनका आश्रय छोड़कर जैसा मैं परमात्मा हूँ वैसा तू भी पूर्णानंद आत्मा है, उसका आश्रय लेकर परमात्मा हो सकते हो। तुझे सर्वज्ञ होना है तो जैसा मैंने किया वैसा तू भी कर अर्थात् हमारे जैसा तू है ऐसा निर्णय कर। मैं पूर्ण परमात्मा वीतराग परमेश्वर हूँ।

श्रावक और मुनि का व्यवहार आचरण कैसा है? यह चरणानुयोग बताता है। ऐसा व्यवहार किसे होता है? निश्चय शुद्धता जहाँ प्रगटी हो, वहाँ ऐसा व्यवहार होता है। ऐसी निश्चय शुद्धता कहाँ होती है? मैं वीतराग समान परमात्मा हूँ, अकेला ज्ञातादृष्टा परिपूर्ण परमात्मा हूँ, ऐसा भान हो, वहाँ ऐसी निश्चय शुद्धता होती है। ऐसे भान वालों की भूमिका में बाकी रहा राग का आचरण कैसा होता है, ये चरणानुयोग में कहा है। इससे यह निकला कि चरणानुयोग का सार भी आत्मा ही है। राग की क्रिया और भेद द्वारा अभेद बताया ऐसा भेद भी सारभूत नहीं है। वहाँ तो मात्र यह बतलाया है कि व्यवहार द्वारा बतलाया निश्चय कैसा होता है। स्पष्ट बात यह है कि शुद्ध चिदानंद सर्वज्ञ परमात्मा हैं, ऐसा ही तू ज्ञातादृष्टा आनन्द कंद आत्मा है। आत्मा एकदम वीतरागता का पिंड है। परमात्मा, पर्याय में भी वीतराग पिंड हो गये। तू स्वभाव से वीतराग पिंड ही है। जानने-देखने की क्रिया सिवाय अन्य कोई क्रिया जीव की नहीं, ऐसी आत्मा और जिन में तू समानता जान। ऐसा चरणानुयोग में कहा है।

द्रव्यानुयोग में भी यही कहा है। व्यवहार या भेद द्वारा बताया तो गया निश्चय अभेद आत्मा ही है। व्यवहार नहीं बताना है। स्वभाव से पूर्ण परमात्मा है, महा-सत् स्वरूप भगवान चिदानंद परमात्मा तू है। अनंत परमात्मा जिसके गर्भ में पड़े हैं, उनको प्रसव करने की शक्ति जिसमें है ऐसा तू आत्मा है। राग को प्रगट करे, वह आत्मा नहीं, राग आत्मा में ही नहीं, अल्पज्ञता रहे ऐसा आत्मा में है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आ हा हा।



दीपावली आती है तो बनिया वहीखाता मिलाता है ना ? ऐसा ही यह केवलज्ञान पाने का समय है । आ हा हा ! संसार का संकेल और मोक्ष का विस्तार अर्थात् चारों अनुयोगों का सार यह है कि संसार का अभाव हो और मोक्ष की उत्पत्ति हो । आत्मा परमात्मा के समान है, ऐसा जाने बिना इसे स्वभाव का आश्रय नहीं होता तथा राग और अल्पज्ञता का आश्रय नहीं छूटता, तो सर्वज्ञ वीतराग भी नहीं हो सकता । आ हा हा ! ये कोई मात्र बातें नहीं; परन्तु वस्तु-स्वरूप ही ऐसा है ।

सिद्ध नगर में अनन्त सिद्ध बिराजते हैं । उन्होंने पहले बाहर से नजर संकेल कर अन्दर का विस्तार किया था । तू भी बाहर से दृष्टि संकेल कर डाल । मैं तो पूर्ण अभेद परमात्मा ही हूँ । मुझमें और परमात्मा में कुछ भी अंतर नहीं, अन्तर निकाल दे । आ हा हा ! दिगम्बर संतों की कोई भी गाथा लो कथन शैली अलौकिक है । परमात्मा-परमेश्वर ने जो धर्म कहा उसे दिगम्बर संतों ने धारण करके ढिढ़ोरा-पीटा है।

धर्म धुरन्धर योगीन्दु देव पुकार कर कहते हैं। अरे आत्मन् ! तू परमात्मा समान है कुछ भी फेर नहीं, अन्तर पाड़ेगा तो अन्तर कभी भी छूटेंगा नहीं । इसलिए मैं रागवाला, अल्पज्ञ ऐसा मनन मत करो । मैं जिनेन्द्र स्वरूप हूँ ऐसा मनन करो । ऐसा कहते ही इसे ऐसा लगता है कि मैं अल्पज्ञ, मेरी ऐसी सामर्थ्य कैसे हो सकती है ? अरे भाई ! ऐसी हीनता की बात रहने दे । मैं पूर्ण परमात्मा होने के लायक हूँ, ऐसा नहीं, परन्तु मैं अभी पूर्ण परमात्मा हूँ ऐसा मनन करो, यही सिद्धान्त का सार है । आ हा हा ! प्रथम से ही ऐसा धमाका मार ।

तू पामर है कि प्रभु ? तुझे क्या स्वीकारना है ? पामरपना स्वीकारने से पामरता कभी छूटेगी नहीं । प्रभुपना स्वीकारते ही पामरता खड़ी नहीं रहेगी । मैं स्वयं द्रव्य स्वरूप से परमेश्वर ही हूँ ऐसा जहाँ विश्वास आया कि पूर्ण वीतराग हुए बिना रहेगा नहीं । जो दृष्टि अपेक्षा वीतराग हुआ वह स्थिरता की अपेक्षा से अल्पकाल में वीतराग होकर केवलज्ञान लेगा, यहाँ तो ऐसी बात है । अरे ! मैं कब वीतराग होऊँगा ? मेरा क्या होगा ? ऐसी व्यर्थ की बातें छोड़ दे । तू पूर्ण परमात्मा ही है, सभी आत्मायें ऐसी ही हैं । ऐसा तू देख भाई ! आत्मा व्यवहार, अल्पज्ञता और राग बिना का है उसके सन्मुख होकर देख ।

ऐसा जानकर हे धर्मी जीव ! मायाचार छोड़ दे । अर्थात् हम तो अल्पज्ञ हैं राग को लाभकारी बताना यह मायाचारी है । राग की क्रिया करके मैं साधु हूँ ऐसा जगत को बताना है क्या ?

बनारसीदास जी कहते हैं :

**जिन सोही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म ।  
ये ही वचन से समझ ले, जिन-वचन का मर्म ॥**

आ हा हा ! भगवान् इसे बड़ा कहते हैं और यह नकारता है । मैं इतना बड़ा कैसे हो सकता हूँ । जैसे लोक में किसी को बड़प्पन देकर उससे ही चन्दा उगाहते हैं । वैसे ही भगवान् तुझे बड़ा कह कर तेरी पामरता मिटाना चाहते हैं ।

जिसके आश्रय से भगवान् बनता है ऐसी तेरी सामर्थ्य को देख । उसकी शोभा से तू शोभित हो । राग से, विकल्प से अथवा भगवान् की वाणी के श्रवण से अपने को बड़ा मानना छोड़ दे । यह तो मायाचार है । तेरी बड़ाई तो तेरे प्रभु अन्दर की प्रभुता से है । उसकी शरण में जाते ही तुझे शांति और वीतरागता प्रकट होगी ।

हमें बहुत ज्ञान है हम हजारों मनुष्यों को समझाते हैं, अनेक पुस्तकें बनाई हैं, अरे रे ! क्या इससे तेरी महानता है, जिससे तू अपने को बड़ा मान रहा है ? तू स्वयं भगवान् परमात्मा समान है, ऐसा जानकर स्थिर होगा तो तुझे बड़प्पन का लाभ मिलेगा। बाकी तो सब धूलधाणी है । इसलिए विकल्पों से, शरीर की सबलता से या मैं बड़ा आचार्य हूँ, मुझे ५००-५०० साधुओं ने बड़ा मानकर पदवी दी है, इससे अपने को महान मानना छोड़ दे ।

वीतराग, सर्वज्ञदेव, परमात्मा, त्रिलोकीनाथ समवसरण में सौ इन्द्रों की तथा लाखों-करोड़ों देवों की उपस्थिति में ऐसा फरमाते हैं कि तू परमात्मा है, ऐसा निश्चय कर । निश्चय का निर्णय हुए बिना व्यवहार का सच्चा निर्णय नहीं होगा ।

आगे की गाथा में कहते हैं कि पहले जिन सो आत्मा ऐसा कहा था । अब तू इतना भी भेद निकाल दे और मैं परमात्मा हूँ ऐसा अनुभव कर ।

*मैं ही परमात्मा हूँ*

**जो परमात्मा सो जि हउं, जे हउं सो परमप्पु ।  
इउ जाणेविणु जोइआ, अण्णु म करहु वियप्पु ॥२२॥**

**हे आत्मा परमात्मा परमात्मा ही आत्मा ।**

**हे योगिजन यह जानकर कोई विकल्प करो नहीं ॥२२॥**

**अर्थ :** हे योगी ! जो परमात्मा है वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ सो ही परमात्मा है, ऐसा जानकर और कुछ भी विकल्प मत कर ।

हे धर्मी जीव ! जैसा परमात्मा है वैसा ही मैं हूँ । परमात्मा को विकल्प नहीं, परमात्मा बोलते नहीं, परमात्मा बोलने में आते नहीं, ऐसा ही मैं परमात्मा हूँ ऐसा दृष्टि में ले ।

पहले भगवान के साथ मिलान किया था । अब एक सेकिन्ड के असंख्यातवें भाग में अनन्त गुणों का पिंड पूर्णानन्द स्वरूप प्रभु परमात्मा भगवान, वही मैं हूँ, ऐसा अन्दर में अनुभव कर ।

व्यवहार की कल्पना छोड़ दे । केवल शुद्ध आत्मा को परख । शास्त्रों का ज्ञान संकेत मात्र है । मात्र शास्त्र ज्ञान में ही पड़ा रहेगा तो आत्मा का ज्ञान नहीं होगा । भगवान चिदानन्द प्रभु विराज रहा है, उसे छोड़कर तू व्यवहार का राग, जो भिखारी है, रंक है, उसे परमेश्वर मानता है । तैंतीस-तैंतीस सागर पर्यंत सर्वार्थ-सिद्धि के देव तत्त्व चर्चा करके कहते हैं-छोड़ ऐसी चर्चा को । स्वरूप में स्थिर होने से केवलज्ञान होगा ।

भगवान आत्मा, पूर्णानन्द का नाथ, महा परमात्मा स्वरूप से भरा ऐसा आत्मा मैं ही हूँ । जो मैं हूँ वही परमात्मा है । आ हा हा ! ऐसा स्वीकार महान पुरुषार्थ में ही होता है । भाई साहब ! हमारा बीड़ी बिना नहीं चलता , प्रसिद्धि में जरा सी कमी आ जाय तो इसे धक्का लगता है और आप कहते हैं तू परमात्मा है, यह बात कैसे बैठे ? अरे बापू ! छोड़ इन सब विकल्पों को, ये तेरे स्वरूप में कब थे ? पूर्ण परमेश्वर अन्दर पड़ा है, उसे विकल्पों की आड़ में भुला दिया । भगवान निर्विकल्प स्वरूप है, वह निर्विकल्प दशा से ही प्राप्त हो, ऐसा है ।

मैं परमात्मा हूँ, ऐसा जानकर पंच-महाव्रत के विकल्प, शास्त्रों के विकल्प, नव तत्त्वों के भेदरूप विकल्प ये सब अब मत कर । छोड़ने लायक सब को छोड़ और आदरने लायक में स्थिर हो ।

जहाँ तू है, वहाँ विकल्प और वाणी है ही नहीं । फिर भी शुभ विकल्प से मुझे लाभ होगा ऐसा मानते-मानते तेरा ज्ञान हीन हो जावेगा । मैं आत्मा हूँ, ऐसी श्रद्धा ही उड़ जावेगी, और निगोद में चला जावेगा । अरे रे ! आत्मा को गाली न दे, न दे ।

गाली देने से तेरे ऊपर अन्टी चढ़ जावेगी । मैं परमात्मा हूँ, इसके बदले मैं रागवाला हूँ, अल्पज्ञ हूँ ये दोष लगते-लगते जगत में आत्मा ही नहीं, मैं कहाँ हूँ ? ऐसा अंधा हो जायेगा ।

मैं परमात्मा हूँ ऐसा विकल्प भी नहीं, तीर्थकर नाम-कर्म बंधे ऐसा विकल्प भी छोड़ दे । आत्मा परमात्म स्वरूप प्रभु है न ? तेरे खजाने में कहाँ कमी है, जो तुझे विकल्पों की शरण लेनी पड़े ? हे स्वरूप में एकाग्रता करने वाले जीव ! उसकी महिमा छोड़ । ऐसा किये बिना आत्मा का पता नहीं लगेगा ।

आ हा हा ! एक बार तो ऊँचा उठ जाय ऐसी बात है । भगवान तो ऐसा फरमाते हैं कि मेरी वाणी सुनने का भी विकल्प छोड़ । हमारे सन्मुख देखने से तेरा भगवान हाथ नहीं लगेगा । भगवान त्रिलोकीनाथ समवसरण में फरमाते हैं कि तू परमात्मा है । यदि स्वभाव से परमात्मा न होता तो पर्याय में कहाँ से प्रकट होता ? एक सेकिण्ड में पूर्ण आत्मा भगवान रूप ही पड़ा है । अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त प्रभुता आदि अनन्त गुणों से भरपूर आत्मा तू है, उसे देख ! उसे जान और उसे मान ! मेरे सन्मुख देखना रहने दे—ऐसा भगवान कहते हैं ।

*आत्मा असंख्यात प्रदेशी लोक प्रमाण है :*

**सुद्धपएसह पूरियउ, लोयायासपमाणु ।  
सो अप्पा अणुदिण मुणहु, पावहु लहु णिव्वाणु ॥२३॥**

परिमाण लोकाकाश के जिसके प्रदेश असंख्य हैं ।

बस उसे जाने आत्मा निर्वाण पावे शीघ्र ही ॥२३॥

अर्थ : जो लोकाकाश प्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेशों से पूर्ण है यही अपना आत्मा है । रात-दिन ऐसा ही मनन करो व निर्वाण शीघ्र प्राप्त करो ।

भगवान आत्मा इस जड़ माटी के पिंडमय देह में, देह, राग-द्वेषादि परिणाम, कर्म के रजकणादि से भिन्न अपने असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र में रह रहा है । एक परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र को रोके, उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं । इस असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र में अनन्त गुणों से भरा परिपूर्ण प्रभु आत्मा बिराज रहा है; उसका मनन कर । असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र बतला कर क्या बतलाना चाहते हैं ? कोई कहते हैं कि आत्मा लोकव्यापी है, ऐसा नहीं है । भगवान आत्मा स्वदेह प्रमाण देह से पृथक लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर अपने असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में बिराजमान है । राग या अन्य किसी में नहीं बिराजता ।

आ हा हा ! जहां हो, वहां “शीघ्र लहो निर्वाण” आता है। मोक्ष कर ! मोक्ष कर ! मोक्ष तो तेरा घर है ! संसार में भटक-भटक कर मर गया। चौरासी लाख योनियों में इसका चूरा बन गया, तो भी इसे विचार नहीं आता ? अरे घर में तो आ ! तेरे घर में तू आ बापू ! पर घर रखडते-रखडते मर गया। तेरा घर कहाँ है ? असंख्यात प्रदेशी शुद्ध अरूपी दल है, कि जो असंख्यात प्रदेश रत्न समान शुद्ध निर्मल हैं, अनन्तानत गुण सहित है, वह तेरा घर है।

असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र, यह आत्मा का स्थल क्षेत्र है। एक-एक प्रदेश ज्ञान तथा निर्मलानंद से भरा है। जिसमें केवलज्ञान, अनन्त आनन्द रूप अनन्त सिद्ध पर्यायें उत्पन्न हों ऐसा शुद्ध, भगवान आत्मा का क्षेत्र है। जहाँ भगवान बिराजते हैं, वहाँ नजर कर। ध्यान कर तो अल्प काल में केवलज्ञान और निर्वाण दशा प्राप्त होगी। यह निर्वाण प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।

जैसे कोठी में माल भरा रहता है। वैसे ही असंख्यात प्रदेश में अनन्त गुण रूप माल भरा है। क्षेत्र छोटा है, इसलिए माल भी थोड़ा होगा; ऐसा नहीं है। आँख का क्षेत्र तो छोटा है, परन्तु पर्वत पर खड़े होकर कितनी मील तक देख लेता है। अपनी असंख्यात प्रदेशी सत्ता में रह कर अनन्त क्षेत्र को जाने ऐसी ताकत है। इसलिए तू भगवान आत्मा को अन्दर में देख। शरीर, मन, वचन और कर्म से तो तेरा घर भिन्न है, मगर सर्वज्ञ परमेश्वर के घर (क्षेत्र) से भी तेरा घर भिन्न है।

अपने स्वरूप की भूल से बंध होता है और अपने स्वरूप की सावधानी से मुक्ति होती है। कर्म के कारण परिभ्रमण करता है, ऐसा नहीं है। अपने स्वभाव की भूल से पर में राग-द्वेष करता है, बस इससे ही परिभ्रमण होता है। अनन्त गुणों से, भावों से भरे आत्मा का ध्यान कर। यह योगसार है। यदि तुझे पूर्णानंद की प्राप्ति रूप मोक्ष की इच्छा हो तो रात-दिन एक निज परमात्मा का ही मनन कर।

*व्यवहार से आत्मा शरीर प्रमाण है*

**णिच्छइ लोयपमाण मुणि ववहारि सुसरारू ।**

**एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहु भवतीरू ॥२४॥**

**व्यवहार देहप्रमाण अर परमार्थ लोकप्रमाण है ।**

**जो जानते इस भांति वे निर्वाण पावें शीघ्र ही ॥२४॥**

**अर्थ :** निश्चय से आत्मा को लोकप्रमाण और व्यवहार नय से अपने शरीर के प्रमाण जानो, ऐसे अपने आत्मा के स्वभाव को मनन करते हुए यह जीव संसार के तट को शीघ्र ही पा लेता है, अर्थात् शीघ्र ही संसार-सागर से पार हो जाता है ।

आ हा हा ! जहाँ हो तहाँ “शीघ्र लहो भवपार” यहाँ तो भव का अभाव करने की एक ही बात है । भव मिले यह कोई वस्तु नहीं, यह तो अनादि से चला आ रहा है । आत्मा अपने स्वभाव को प्राप्त करे और भव का अभाव हो, यह नई बात है । शेष सभी भाव तो संसार में रुलने के हैं; उसमें नवीनता क्या है ? इसलिए कहा है “शीघ्र लहो भवपार” ।

आत्मा की एक सत्ता है, मौजूदगी वाली चीज है, तो उसका कोई आकार, अवगाहना-चौड़ाई होगी कि नहीं ? होगी; असंख्यात प्रदेश चौड़ाई वाला सत्व है । कर्म, राग या शरीर, स्त्री-पुत्र के क्षेत्र में या बंगले में आत्मा नहीं बिराजता । बंगले में आत्मा रहता है यह तो व्यवहार से कहने में आता है । ऐसे अपने स्वभाव को जानो ! भगवान आत्मा, अनन्त शान्तरस से तथा पूर्ण आनन्द रस से सदा भरा है; उसमें तू डूब जा । चैतन्य स्वभाव को तू जान; जानने से भव मिट जायेगा । भगवान आत्मा ऐसा ज्ञानमूर्ति, आनन्दमूर्ति पूर्णानन्द का नाथ, असंख्यात प्रदेश में बिराजमान है । उसे सन्मुख होकर जान । निमित्त या राग को जान, ऐसा नहीं कहा ।

भगवान आत्मा को जान, इसमें श्रद्धा, ज्ञान तथा एकाग्रता तीनों आ गये । आत्मा को जानते ही किस गुण का अंकुर नहीं फूटेगा ? सब गुणों के अंकुर फूटेंगे । भगवान आत्मा कैसा है ? लोकालोक को देखे ऐसा है । लोकालोक को जानना ही आत्मा का स्वभाव है । अतीन्द्रिय आनन्द का रसकंद है । इसका अनुभव स्वानुभव से होता है । अरे भाई ! तेरे करने लायक काम तो यह है । भगवान आत्मा से विरुद्ध जितने भी विकल्प हैं, वे तो बैरी हैं । बैरी को रखने से तेरा क्या काम होगा ? तू अनन्त आनन्द का पिंड है न ? उस ओर नजर कर तो तेरी मुक्ति होगी ।

यह आत्मा “स्वानुभूत्या चकासते” अपनी स्वानुभव की क्रिया से प्रगट हो, ऐसा इसका स्वरूप है । व्यवहार के विकल्प-दया, दान, भक्ति के विकल्प हों तो क्या लाभ होगा ? शुभ विकल्प हों तो अन्दर जाया जायेगा ? ऐसा तो इसे भ्रम है । जिसका आदर छोड़ना है उसे लेकर अन्दर प्रवेश कैसे हो सकता है ? आनन्द स्वरूप आत्मा

दुःख स्वरूप विकल्पों से कैसे प्राप्त हो ? विकल्प तो भिखारी हैं, पामर हैं, इनकी तुझे क्या जरूरत है ? अर्थात् तुझे कुछ जरूरत नहीं ।

भगवान बुलाते हैं चल । अनुभूति के साथ तेरी शादी करें परन्तु यह अनादि का भिखारी सोचता है मेरे विकल्प छूट जायेंगे, मेरा व्यवहार चला जावेगा, इस प्रकार यह इनका प्रेम नहीं छोड़ता, इसलिए अन्दर भी नहीं जा सकता । स्वयं स्फटिक के समान स्वच्छ होने पर भी राग और व्यवहार के कारण चौरासी लाख योनियों के अवतार में भ्रमण कर रहा है ।

*सम्यक्त्व के बिना ८४ लाख योनि में भ्रमण*

**चउरासीलखह फिरिउ काल अणाइ अणंतु ।  
पव सम्मत ण लद्धु जिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥२५॥**

योनि लाख चुरासि में बीता अनन्ता काल है ।

पाया नहीं सम्यक्त्व फिर भी बात यह निर्भ्रान्त है ॥२५॥

**अर्थ :** अनादि काल से यह जीव चौरासी लाख योनियों में फिरता आ रहा है । व अनंत काल तक भी सम्यक्त्व बिना फिर सकता है । परन्तु अब तक इसने सम्यग्दर्शन को नहीं पाया । हे जीव ! निःसंदेह इस बात को जान ।

अनादि काल से चौरासी लाख योनियों में फिर रहा है । राग की रुचि छोड़कर सीधी स्वरूप की दृष्टि रूप सम्यग्दर्शन के अभाव में अनन्त बार स्वर्ग गया । नरक की दस हजार वर्ष की स्थिति में अनन्त बार उपजा । दस हजार वर्ष और एक समय, दस हजार वर्ष और दो समय इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते तेतीस सागर तक की स्थिति में अनन्त बार उपजा । चौरासी लाख योनियों में एक भी योनि खाली नहीं छोड़ी । आ हा हा ! अरे रे ! कीड़ा, कौआ, कसाई के अनन्त भव धारण किये । त्रास त्रास हो जाये ऐसे भव धारण किये । बापू ! घाणी में अनन्त बार पेला गया, बिच्छु के जहरीले डंक से अनन्त बार मरा; सर्प के काटने से अनन्त बार मरा, भाई ! तू भूल गया ।

नवमी ग्रैवेयक अनन्त बार गया । वहाँ पाप करके तो जाता नहीं—पंच-महाव्रत और शुक्ल लेश्या के परिणाम से वहाँ गया; परन्तु ऐसे परिणाम से भी समकित नहीं पाया तो अन्य परिणाम से तो समकित कैसे पायेगा ? एक अभेद चिदानंद मूर्ति की दृष्टि करके अनुभव करे तो सम्यग् दर्शन पायेगा ।

पुण्य से, बाह्य क्रिया से धर्म होगा, शुभ राग से लाभ होगा—ऐसे विपरीत काले नाग जैसे मिथ्यात्व भावों ने तुझे अनन्तबार कुएँ में पटका । भगवान आत्मा की श्रद्धा के बिना समकित नहीं होगा, ऐसा तूने माना नहीं । ऐसे अनन्त भव किए; परन्तु समकित नहीं पाया । भव के कारण से ये इससे, समकित न पाया; क्योंकि जिससे भव मिले उस कारण से समकित कैसे मिले ? चमड़ी निकाल कर खार छिड़के तो भी क्रोध न करे ऐसे परिणाम से त्रैवेयक गया । परन्तु समकित कोई भिन्न चीज है, इन भावों से समकित प्राप्त हो, ऐसी चीज नहीं है ।

यह योगासार है न ! आचार्य श्री योगीन्दु देव ने जगत के समक्ष यह बात रखी आत्म स्वभाव का आश्रय करके जो निर्मल योग-सम्यक्त्व प्रगट होता है वह कभी किया नहीं, इसके अलावा अनन्त बार सब कुछ किया ।

एकरूप भगवान आत्मा का ही अनुभव करने लायक है । परन्तु इसकी इसने कभी कीमत की नहीं और पैसा अर्थात् धूल, बाह्य-संयोग की कीमत की । आ हा हा ! जगत का मोह तो देखो । हे जीव ! जब तक सम्यग्दर्शन पायेगा नहीं, तब तक निःसन्देह यह बात जान कि चौरासी लाख योनियों का भ्रमण मिटेगा नहीं ।

“समकित नहीं लिया” ऐसा कहा है; परन्तु चारित्र बिना भ्रमा ऐसा नहीं कहा । क्योंकि समकित हो तभी चारित्र होगा, समकित बिना चारित्र होता नहीं । क्रियाकांड यह कोई चारित्र नहीं । ऐसे क्रियाकांड तो अनन्तबार किये हैं ।

आचार्य श्री समन्तभद्र ने रत्नकरंड श्रावकाचार में कहा है कि है कि तीन लोक और तीन काल में सम्यग्दर्शन जैसा जीव का कोई हितकारी नहीं । और मिथ्यादर्शन जैसा बुरा करनेवाला और कोई नहीं । हिंसा, झूठ, चोरी, भोगवासना के अशुभ परिणाम इतना बुरा नहीं करते जितना बुरा मिथ्या श्रद्धान करता है । दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, पंच महाव्रत आदि के परिणाम अनन्तबार किए, परन्तु इनकी मोक्षमार्ग में कोई कीमत नहीं ।

आ हा हा ! समकित क्या चीज है इसकी जगत को खबर नहीं । निरावलंबी-निर्पेक्ष आत्म वस्तु को सापेक्ष मानना मिथ्या है । भले व्यवहार हो, परन्तु इससे क्या हुआ ? आत्म वस्तु को राग, निमित्त, गुरु, शास्त्र की या किसी तीर्थ क्षेत्र के आधार की कुछ भी जरूरत नहीं । ऐसा निरावलंबी भगवान बिराजमान है । इसकी श्रद्धा-ज्ञान जैसा अनुपम परिणाम तीन काल तीन लोक में अन्य कोई नहीं । भगवान ज्ञायक स्वरूप आत्मा को प्रत्यक्ष जाना नहीं और राग के अंश को लाभदायक मानता है । पराश्रय से



कुछ धीरे-धीरे कल्याण होगा, राग करेगा तो कल्याण को पायेगा, ऐसी जो मिथ्याश्रद्धा, इसके समान जगत में कोई बुरा करने वाला नहीं ।

सच्चिदानन्द, आनन्दकन्द सिद्ध समान भगवान पूर्णानन्द का नाथ शुद्धात्मा का मनन ही अर्थात् एकाग्रता, अनुभव यह एक ही मोक्ष मार्ग है । यह भगवान आत्मा शरीर, वाणी, मन से, आठ कर्मों से, शुभाशुभ भावों से भी भिन्न है, ऐसा अगली गाथा में कहेंगे।

*शुद्ध आत्मा का मनन ही मोक्षमार्ग है ।*

**सुद्धु सच्च्येयणु बुद्धु जिणु केवलणाणसहाउ ।  
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहउ सिवलाहु ॥२६॥**

**यदि चाहते हो मुक्त होना चेतनामय शुद्ध जिन ।**

**अर बुद्ध केवलज्ञानमय निज आत्मा को जान लो ॥२६॥**

**अर्थ :** यदि मोक्ष का लाभ चाहते हो तो रात दिन उस आत्मा का मनन करो जो शुद्ध वीतराग निरंजन कर्म रहित है, चेतना गुणधारी है या ज्ञान चेतनामय है जो स्वयं बुद्ध है जो संसार विजयी जिनेन्द्र है व जो केवलज्ञान या पूर्ण निरावरण ज्ञानस्वभाव का धारी है ।

आत्मन् ! यदि परमानन्द रूपी मोक्ष दशा चाहते हो तो दिन रात इस भगवान आत्मा का मनन करो । आ हा हा ! यह गाथा बहुत ऊँची है, आत्मा की पूर्ण परमानन्द दशा का नाम मोक्ष है । तू महा शुद्ध चैतन्य प्रभु है, इसका निरन्तर ध्यान कर ।

जिसने एक समय में तीन लोक और तीन काल को प्रत्यक्ष जाना ऐसे सर्वज्ञ देव की वाणी में यह आया है—अरे आत्मा ! तू तो शुद्ध हो, बुद्ध हो, पुण्य-पाप के मैल तथा कर्ममल रहित तेरी चीज है—इसका मनन कर । राग का, पुण्य का, व्यवहार का मनन छोड़ दे । यदि तुझे मुक्ति का लाभ चाहिए तो आत्म स्वभाव का मनन कर, अन्यथा चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण करते अनन्त काल गया । परन्तु आत्मशांति का लाभ नहीं हुआ ।

परमानन्द की मूर्ति, निर्विकल्प नाथ, सच्चिदानन्द प्रभु, परिपूर्ण आत्म देव जो अनन्त पवित्र गुणों से भरा तत्त्व है, उसका मनन कर । अनुकूल निमित्त हों तो ठीक, ऐसे शुभभाव हों तो ठीक, कषाय की ऐसी मन्दता के परिणाम हों तो ठीक, इन सबका

मनन करना छोड़ दे भाई ! ये भाव तो अनादि काल से किये । इनसे संसार ही फला। अब तो तुझे मुक्ति प्राप्त करनी है या अभी और संसार में ही भटकना है ?

मोक्षार्थी को क्या करना चाहिये ? तथा क्या करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है ? वीतराग कल्याण मूर्ति, शुद्ध परिपूर्ण चैतन्य मूर्ति प्रभु आत्मा का अन्तर में ध्यान करना, अनुभव करना—यही मुक्ति का उपाय है, यही मोक्षार्थी का कर्तव्य है ।

भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति है, ज्ञान चेतनामय है । पुण्य-पाप को करूँ ऐसी कर्मचेतना तथा हर्ष, शोक का भोगना ऐसी कर्मफल चेतना, इसके स्वभाव में नहीं है । आत्म वस्तु तो चेतनामय है । ज्ञानचेतना का वेदन करे ऐसा आत्मा का स्वरूप है । ज्ञान आनन्द का स्वाद ले ऐसा ही आत्मा है । चेतनामय वस्तु, पर का कुछ करे, पर से कुछ ले, ऐसा इसका स्वरूप ही नहीं है, तथा राग को करे या वेदे, ऐसा भी इसका स्वरूप नहीं ।

भगवान आत्मा तो जागृत-जागृत सचेतन स्वरूप है । ज्ञान तथा आनन्द को वेदना, ऐसा आत्मा का स्वरूप है । आ हा. हा ! यह तो परमार्थ मार्ग की बात है । मार्ग एक ही है दूसरा हो ही नहीं सकता । “एक होय तीनकाल में परमारथ का पंथ“ ।

जिसमें अकेली चेतना भरी है उसे आत्मा कहते हैं । चेतना-जानना, देखना, अनुभव करने का काम करे, ऐसा आत्मा है । ऐसे आत्मा को तू आत्मा जान । राग करे वह आत्मा नहीं वह तो अनात्मा है । व्यपहार रत्नत्रय के विकल्प करे और उसे वेदे वह आत्मा नहीं । आत्मा ज्ञानमूर्ति प्रभु है वह तो ज्ञान को जाने, अनुभवे, वेदे , ज्ञान में ज्ञान की एकाग्रता का अनुभव करे ऐसा है ।

बोले, सुने, विकल्प पूर्वक सुनें वह आत्मा नहीं । भगवान बुद्ध है, बुद्धदेव है, सत्यबुद्ध है, इसे तू जान और अनुभव कर । आत्मा जानकर दूसरों को समझा दूँ ऐसी मान्यता वाले को सर्वज्ञ तीर्थकर भगवान आत्मा नहीं कहते । निरूपद्रव कल्याणमूर्ति मुक्तदशा के लाभ का एक ही उपाय है दूसरा कोई उपाय नहीं ।

उपशम रस, अकषाय रस, वीतराग शांत रस से भरा हुआ तत्त्व भगवान आत्मा है । शान्तरस का पिण्ड आत्मतत्त्व है । मैं अन्य से समझूँ या अन्य को समझा दूँ, ये वस्तु स्वरूप में नहीं । जानपने की विशेषता से अन्य को समझावे तो वह अधिक है, ऐसा आत्मा का स्वरूप ही नहीं है । अपने से अपने को जाने, ऐसा भगवान आत्मा है।

भगवान् आत्मा सत्य साहिब बुद्धदेव है, उसमें विकल्पों को अवकाश ही कहाँ है ? जाने हुये तत्त्व को कहना, ऐसा विकल्प ही वस्तु में कहाँ है ? यदि आत्मा बोले तो सिद्ध भगवान् को भी बोलना चाहिये ।

आत्मा स्वयं सच्चाजिनदेव है । समवशरण में बिराजमान भगवान् तेरे लिये व्यवहार से जिन हैं । तेरे लिए निजात्मा स्वयं वीतरागी बिम्ब, परमेश्वर देव-जिन है । समवशरण है, इन्द्र भी सुनने आते हैं, उन जिनदेव का और सुननेवाले आत्मा का कोई संबंध नहीं, तू स्वयं सच्चा जिन है, इसे जान और अनुभव कर । बस इतना कर्तव्य है। ऐसे आत्मा को जिन तरीके स्वीकार कर । यदि राग, वाणी, वांछना, लेना, देना या पुण्य प्रकृति में कहीं भी अधिकपना माना तो तूने जिनस्वरूप आत्मा में अधिकपना नहीं माना ।

भगवान् आत्मा जिन अर्थात् संसार विजयी जिनेन्द्र हैं; विकल्पों के अभाव स्वरूप जिन हैं । अरे ! शास्त्रों के पढ़ने के भाव से भी मुक्त, ऐसे जिनेन्द्र हैं, ऐसे जिनेन्द्र प्रभु का निर्विकल्प दृष्टि से ध्यान करना, निर्विकल्प ज्ञान द्वारा ज्ञेय बनाना, उसमें ही स्थिर होना यह शिवलाभ है । भगवान् आत्मा केवलज्ञान स्वरूप है, परिपूर्ण ज्ञान का धनी है, पूर्ण निरावरण ज्ञान पिंड है । जो ज्ञान पर से आता नहीं ऐसा स्वतः ज्ञान का पिंड है । चैतन्य का पुंज भगवान् है । शरीर नहीं, राग नहीं, अपूर्ण नहीं, परन्तु अकेला पूर्ण ज्ञान स्वभाव वह भगवान् है । चार ज्ञान का विकास भी वास्तव में आत्मा नहीं, पूर्ण ज्ञान स्वभाव वह आत्मा है ।

ग्यारह अंग चौदह पूर्व की रचना करने वाले गणधर देव की कितनी महानता उसका वर्णन क्या करें ? मात्र ज्ञान स्वभावी आत्मा में रचना तथा रचना के विकल्प ही कहाँ हैं । चार ज्ञान की उधाड़ रूप पर्याय है, वह भी वास्तविक आत्मा नहीं । वह तो व्यवहार से आत्मा है । निश्चय से आत्मा मात्र ज्ञान स्वभावी है । इसे छोड़ कर आत्मा को कुछ भी हीन-अधिक या विपरीत माने वह आत्मा को जानता नहीं । दिन-रात अर्थात् हमेशा ऐसे आत्मा का मनन करो ।

जगत का कल्याण करने के लिये, प्रभावना होती हो तो एक-दो भव भले ही अधिक होय तो हों; ऐसा कितने ही लोग कहते हैं । परन्तु भाई ! एक दो भव नहीं, ऐसे भाव से निश्चित ही अनंत भव होंगे । जो एक भी भव की भावना करता है, उसके गर्भ में अनंत निगोद के भव पड़े हैं । जगत का कल्याण कौन करे ? विकल्प कौन

करे ? विकल्प वस्तु में नहीं हैं, विकल्प तो अनात्म स्वरूप होने से आत्मा को हानिकारक हैं । तथा जो इनसे लाभ माने वह आत्मा को जानता नहीं । इसलिए ऐसा भगवान आत्मा का अन्तर में निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान तथा चारित्र से अनुभव करो । बस ! यही आत्म स्वरूप है, मोक्ष के लाभ का हेतु है । बाकी तो सब बातें हैं । शुद्ध, सचेतन, बुद्ध, जिन केवलज्ञान स्वभावी आत्मा का हमेशा एक धारा प्रवाह से अनुभव करो; जो शिवलाभ चाहते हो तो ।

अब २७ वीं गाथा में कहते हैं कि निर्मल भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशों में जाग्रत स्वभाव का पिंड प्रभु है । इसकी भावना अर्थात् निर्विकल्प एकाग्रता करने से मोक्ष होगा। यह तो भावना का ग्रन्थ है ; इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं लगता; इसमें तो पुनः-पुनः भावना लागू पड़ती है । इसलिए तू भ्रम में मत पड़ । भ्रम के स्थान भ्रमण के लिए हैं और भ्रमण को छोड़ने का स्थान भगवान आत्मा एक ही है ।

*निर्मल आत्मा की भावना करके ही मोक्ष होगा*

**जाम ण भावहु जीव तुहुँ णिम्मल अप्पसहाउ ।**

**ताम ण लब्भइ सिवगमणु अहीं भावहु तहिं जाउ ॥२७॥**

**जब तक न भावे जीव निर्मल आत्मा की भावना ।**

**तब तक न पावे मुक्ति यह लख करो वह जो भावना ॥२७॥**

**अर्थ :** हे जीव ! जब तक तू निर्मल आत्मा के स्वभाव की भावना नहीं करता तब तक तू मोक्ष नहीं पा सकता, जहां चाहे वहाँ तू जा ।

हे जीव ! जब तक निर्मल आत्म स्वभाव की भावना नहीं करेगा तब तक बाहर में लाखों व्रत, नियम, पूजा, भक्ति तथा शास्त्र देने लेने के विकल्प-जाल में अटका रहेगा और आत्मा मोक्षमार्गी नहीं होगा । सब विकल्प जालों को छोड़ कर भगवान पूर्णानंद अभेद चैतन्य स्वरूप का अनुभव नहीं करेगा तो पूर्णानंद की ओर तेरा गमन-परिणमन नहीं होगा ।

“हम प्रभावना करेंगे तो बहुत लोगों को लाभ होगा” इस प्रकार सोचते हुये बिचारे भोले जीव प्रभावना के खातिर जिन्दगी खो बैठे हैं । परन्तु जब तक भगवान आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान तथा चारित्र की भावना अर्थात् एकाग्रता नहीं करता तब तक मोक्ष नहीं पा सकता ।

आ हा हा ! ऐसा मार्ग है । दिव्यध्वनि, वह जैन शासन नहीं, विकल्प उठें या पंच महाव्रत के परिणाम उठें अथवा दूसरों को समझाने के विकल्पों में रुकना, ये भी कोई जैन शासन नहीं । स्थिर शांतरस के बिम्ब आत्म तत्त्व में ऐसे विकल्पों को अवकाश ही कहां है ? तथा ऐसा विकल्प हो भी परन्तु शिवपथ नहीं । भगवान आत्मा के अनुभव रूप दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता यह एक ही शिवपंथ है अर्थात् मोक्षमार्ग है ।

मुक्ति चाहिये हो तो स्वभाव में एकाग्रता कर । अन्य विकल्प तो अनादि से हैं ही । उनके संबंध में हमें क्या कहना है ? जहां रूचे, वहां जा । मोक्ष चाहिये तो आत्मा का निर्विकल्प रूप से ध्यान कर ।

तीन लोक में यदि पूज्य है तो स्वयं भगवान आत्मा ही है, अपने लिए अपना आत्मा ही पूज्य है । यह अट्टाईसवीं गाथा में कहते हैं :

*त्रिलोक पूज्य जिन आत्मा ही है ।*

**जो तइलोयहं झेउ जिणु सो अप्पा णिरु वुत्तु ।  
णिच्छयणइ एमइ भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥२८॥**

**त्रैलोक्य के जो ध्येय वे जिनदेव ही हैं आत्मा ।**

**परमार्थ का यह कथन है निर्भ्रान्त यह तुम जान लो ॥२८॥**

**अर्थ :** जो तीन लोक के प्राणियों द्वारा ध्यान करने योग्य जिन हैं वह यह आत्मा ही निश्चय से कहा गया है । निश्चय से ऐसा ही कहा है, इस बात को संदेह रहित जान ।

तीन लोक के प्राणियों द्वारा ध्यान करने योग्य जिन हैं अर्थात् भक्तों को ध्यान करने लायक यदि कोई है तो भगवान आत्मा ही है । भगवान की भक्ति पूजा का व्यवहार विकल्प बीच में आता है न ? तो भले आवे, परमार्थ से अन्य कोई पूज्य नहीं । यदि परमार्थ से अन्य कोई पूज्य हो तो वहां से लक्ष बदल कर अन्दर में लक्ष्य करने की जरूरत ही न पड़े ।

भगवान की प्रतिमा के दर्शन से (१) निधत्त (२) निकांचित कर्म टूट जाते हैं न ? भाई ! तीन लोक का नाथ पूज्य भगवान निज आत्मा है । उसके दर्शन से निधत्त और निकांचित कर्म के टुकड़े-टुकड़े होकर उड़ जाते हैं, ऐसा भगवान आत्मा है । व्यवहार से कथन में ऐसा आता है कि अरहंत की प्रतिमा के दर्शन से सम्यग्दर्शन होता है ।

अर्थात् निज भगवान आत्मा के दर्शन से सम्यग्दर्शन होता है, तब बाहर में निकट में कौन था उसका ज्ञान कराया जाता है ।

तीन लोक के प्राणियों को ध्यान करने लायक, भक्ति करने लायक यदि कोई है तो जिन स्वरूप निज आत्मा ही है । तीर्थंकर भगवान व्यवहार से पूज्य हैं ।

मात्र शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानधन, आनन्दकंद, ध्रुव आत्मा को निश्चय से आत्मा कहा है । देह की क्रिया तो जड़ है । पुण्य-पाप के भाव आश्रव हैं । वर्तमान् पर्याय की अल्पज्ञता यह व्यवहार-आत्मा है । सत्य जानने वाला ज्ञान और सत्य बात कहने वाली वाणी ऐसा कहती है ।

तीन भुवन का नाथ प्रभु ! तू स्वयं पूज्य है । आ हा हा हा !! भगवान सर्वज्ञ देव की प्रतिमा तथा मोक्षमार्ग तो व्यवहार से पूज्य हैं । पूर्ण शुद्ध, चैतन्य पिंड भगवान आत्मा के ही अंतर सन्मुख होने जैसा है, ऐसा प्रभु स्वयं आत्मा ही पूज्य है ।

निश्चय से ऐसा है इसमें संदेह न कर । इतना महान तत्त्व तू है, इसमें भ्रांति न कर । सौ इन्द्रों की उपस्थिति में सर्वज्ञ देवने यह बात प्रसिद्ध की है कि आत्मा ही पूज्य है । व्यवहार तरीके व्यवहार है, व्यवहार नहीं है ऐसा नहीं है । परन्तु व्यवहार को निश्चय से पूज्य मानना भ्रम है । भगवान के वंदन का, नाम-स्मरण का, पूजा भक्ति का शुभ राग होता है, परन्तु ये जानने लायक हैं पूजने लायक तो निज आत्मा ही है। भक्तिवंत प्राणी को शुभभाव उस समय होता है, परन्तु जानने लायक, व्यवहार से आदरने लायक कहा जाता है; निश्चय से आदरने लायक नहीं । तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ देव व्यवहार से पूज्य हैं, यदि ऐसा न माना जावे तो मिथ्यादृष्टि हो जाय ।

तीन लोक के नाथ स्वयं उनके लिये पूज्य हैं । समवशरण में इन्द्र भी सर्वज्ञ देव को पूजते हैं, न ? भाई ! व्यवहार के कथन में ऐसा ही आता है । व्यवहार में पर पदार्थ का लक्ष होता है; परन्तु वह कोई वास्तविक आत्मा नहीं है । ऐसे विकल्प होते हैं परन्तु हैं बंध के कारण; फिर भी ऐसे विकल्प आये बिना नहीं रहते । क्योंकि अबंध स्वभावी आत्मा जहां तक पूर्ण अबंध रूप न परिणमें तब तक ऐसे-ऐसे व्यवहार भाव होते हैं । इसलिए व्यवहार है तो सही, व्यवहार न माने तो मिथ्यादृष्टि हो जावे और व्यवहार को ही परमार्थ से पूज्य मानले तो भी मिथ्यादृष्टि है ।

तीन लोक के प्राणी जिसे ध्याते हैं, पूजते हैं, वंदना करते हैं, वही परमात्मा परमार्थ से आत्मा है । मैं ही त्रिलोक पूज्य परमात्मा जिनेन्द्र हूँ ऐसा भ्रांति रहित जानना

चाहिए। अरे भाई साहब ! मैं क्या ऐसा परमात्मा हूँ ? परन्तु बापू ! ऐसी ही वस्तु है। ऐसा शुद्ध भगवान आत्मा त्रिलोक में पूज्य पुरुषों को पूज्य है। गणधरों आदि पूज्य संतों को भी पूज्य आत्मा ही है। नमन करने लायक जो मुनिवर हैं, उनको भी नमन करने लायक निज आत्मा ही है।

त्रिजगत में जिसके साथ किसी की तुलना नहीं हो सकती; ऐसा आदरने लायक अद्वैत तत्त्व निजात्मा है। वही पूज्यनीय है, वंदनीय है, आदरने लायक है। ऐसे आत्मा का बहुमान तथा श्रद्धा-ज्ञान बिना जितने व्रत, नियम, तप, पूजा, भक्ति, दान करे, यात्रा करे; ये सब ही धर्म नहीं हैं, धर्म के हेतु नहीं, मोक्ष मार्ग के लिये नहीं हैं। सम्मेद शिखरजी की यात्रा करें तो भव कटे। लाख बार सम्मेद शिखरजी की यात्रा करे, वंदन करे तो भी एक भी भव घटने वाला नहीं है। अरे ! साक्षात् अरहंत परमात्मा को करोड़ वार वंदन करे तो भी एक भी भव घटता नहीं, क्योंकि वे पर द्रव्य हैं और पर द्रव्य के लक्ष से तो राग ही उत्पन्न होता है। समझ में आया कुछ ?

जिसे आत्म दृष्टि नहीं, जिसने शुभ विकल्पों में तथा शुभ क्रियाओं तथा अन्य को उपदेश देने में लाभ माना है वह मिथ्यादृष्टि है। अरे ! भगवान अखंडानंद का नाथ प्रभु स्वयं है इसके आश्रय बिना जितने भी विकल्प उठें, वे मोक्षमार्ग नहीं हैं।

*मिथ्यादृष्टि के व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं*

**वयतवसंजममूलगुण मूढह मोक्स णिवुत्तु ।**

**जाम ण जाणइ इक्क परु सुद्धड भाड पवित्तु ॥२६॥**

**जबतक न जाने जीव परमपवित्र केवल आत्मा ।**

**तबतक न व्रत तप शील संयम मुक्ति के कारण कहे ॥२६॥**

**अर्थ :** जब तक एक परम शुद्ध व पवित्र भाव का अनुभव नहीं होता, तब तक मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव के द्वारा किये गये व्रत, तप, संयम व मूलगुण पालन को मोक्ष का उपाय नहीं कहा जा सकता।

जब तक इस शरीर-मन-वाणी से भिन्न, अशुद्ध-विकारी भावों से रहित, परम शुद्ध परम निर्मल, शुद्ध चिद्घन पवित्र आनन्दकंद अनाकुल शांतरस से भरा आत्म भाव का अन्तरमुख होकर श्रद्धा, ज्ञान, आचरण नहीं करता तब तक स्वरूप का अज्ञान-मूढ़-अज्ञानी जीव के व्रत, तप आदि निरर्थक हैं। देह में विराजमान चैतन्यरत्न के अनुभव से रहित अनशन अवमौदर्य करे, विनय, यात्रा, भक्ति, पूजा करे : परन्तु ये

सब इसके धर्म के खाते में नहीं आते । ये तो शुभभाव हैं, बंध के अर्थात् संसार के खाते में आते हैं ।

भगवान आत्मा सत्-सत्-सत् शाश्वत ज्ञानानंद की खान है । ऐसे आत्मस्वरूप का स्पर्श किये बिना शास्त्र स्वाध्याय करे, ग्यारह अंग और नव पूर्व पढ़े; ये सभी विकल्प पुण्य-राग हैं, ये धर्म नहीं, संवर निर्जरा नहीं । भगवान आत्मा चैतन्य रत्न है, अज्ञानी को इसकी खबर नहीं । प्रभू ! ये देह, मन, वाणी तो धूल-माटी-जड़ है । हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग की वासना ये पाप हैं । दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, विनय के विकल्प उठते हैं, ये सब पुण्य हैं; ये आत्मा नहीं । पुण्य-पाप से रहित भगवान आत्मा शाश्वत ध्रुव है । इसमें शाश्वत शांति और आनंद भरा है । आत्मा, त्रिकाल अबंध स्वरूप है । उसे पुण्य-पाप आदि परिणाम बंधन कारक है । आत्म द्रव्य ध्रुव, शाश्वत; इसके गुण ध्रुव, शाश्वत । इसके गुण तो ज्ञाता-दृष्टा आनन्द तथा वीतरागता से भरे हैं । इसके अन्तर स्पर्श बिना मूढ़ जीव जितनी क्रिया करे सब बंध का कारण हैं; मोक्ष का कारण नहीं ।

कितने ही जीव बैठे-बैठे भगवान, णमो अरहंताणं, आदि बोलते रहते हैं । लेकिन ये तो राग है, विकल्प है भाई ! शुभराग भी परलक्षी वृत्ति है । यह संवर निर्जरा का कारण नहीं, राग की दिशा पर-तरफ की है और स्वभाव की दिशा अन्तर्मुख स्वतरफ की है । पर सन्मुखता का भाव. स्व सन्मुखता में मदद करे ये तीन काल में भी नहीं बनता । स्व सन्मुख से विमुख वृत्तियां चाहे साधु होकर अट्टाईस मूलगुण पाले-एक बार खड़े खड़े आहार लेयं, नग्न हो, सामायिक षट आवश्यक के विकल्प हों, पर ये सब पुण्य भाव हैं, संसार वर्द्धक हैं । भगवान् तेर पास कहां मूल पूंजी की कमी है ? तू ही सर्वज्ञ, परमेश्वर, केवलज्ञान रूप परिणमता है । तू ही अनन्त आनन्द ऐसी अरहंत-सिद्ध दशा रूप परिणमता है इन सभी निर्मल दशाओं की खान तू आत्मा है । ये दशायें कहीं बाहर से नहीं आतीं ।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से शोभित तत्त्व है । उसमें एकाग्र होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का सागर उछलता है; उसे तप कहते हैं ।

जैसे गेरू लगने से सोना शोभता है । वैसे ही भगवान आत्मा की एकाग्रता में अतीन्द्रिय आनन्द उछलता है; इससे आत्मा शोभता है । ज्ञान और आनन्द आत्मा की जाति के भाव हैं । जाति के भाव की भरती आवे, वह तप है; इसे ही मोक्षमार्ग कहते हैं । आत्म जाति से विमुख भाव संसार है ।



सब कुछ जाना पर निजात्मा को जाना नहीं। महा प्रभु-चैतन्य भगवान आत्मा एक सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में वस्तु तरीके अरूपी आनन्दघन चैतन्य तत्त्व है। इसमें शांति वीतरागता के अनंतरत्न भरे हैं। ऐसे चैतन्यरत्न की कीमत, बहुमान किए बिना अनुभव बिना जो कुछ भी करे वह सब संसार है।

सर्वज्ञ देव की इच्छा बिना दिव्यध्वनि निकली और बनवासी-जंगलवासी संतों ने भी ऐसा ही उपदेश दिया। योगिन्दु देव दिगम्बर मुनि बन में रहते थे, उन्होंने भी यही कहा कि स्वरूप का अनजान व्यक्ति पर पदार्थों में रुचि रखने वाला कितने भी पुण्य कर्म करे, वे सब बंधन हैं, धर्म के लिए व्यर्थ हैं। अंक बिना शून्य हैं, तथा अरण्य रुदन समान हैं। व्रती को निर्मल आत्मा का अनुभव करना योग्य है। अकेला व्यवहार चारित्र्य वृथा है।

**जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमुंसजुत्तु ।  
तो लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहह वुत्तु ॥३०॥**

जिनदेव का है कथन यह व्रत शील से संयुक्त हो ।  
जो आत्मा को जानता वह सिद्धसुख को प्राप्त हो ॥३०॥

**वयतवसंजमुसलु जिय ए सव्वे अकइच्छु ।  
जाव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥३१॥**

जब तक न जाने जीव परमपवित्र केवल आत्मा ।  
तबतक सभी व्रतशील संयम कार्यकारी हों नहीं ॥३१॥

अर्थ : जो व्रत, संयम सहित निर्मल आत्मा का अनुभव करे तो सिद्ध या मुक्ति का सुख शीघ्र ही पावे, ऐसा जिनेन्द्र का कथन है। ३०॥

हे जीव ! जब तक एक उत्कृष्ट शुद्ध वीतराग भाव का अनुभव न करे तब तक व्रत, तप, संयम, शील ये सर्व पालना वृथा है, मोक्ष के लिये नहीं है। पुण्य बांधकर संसार बढ़ाने वाले हैं। ३१॥

जो कोई आत्मा निर्मल आनन्दकंद शुद्ध ज्ञानघन प्रभु को जानता है उसका ही अनुसरण करके, अर्थात् निर्विकल्पता द्वारा आत्मा को अनुभवता है। निर्विकल्प अर्थात् राग की मलीन, विपरीत दशा बिना, निर्मलानंद प्रभु को निर्मल अनुभव से अनुभवता है; उसके व्रत-संयम आदि व्यवहार से निमित्त कहने में आते हैं। सम्यग्दर्शन बिना

के व्रतादि हों परन्तु उनको व्यवहार से निमित्त भी कहने में नहीं आता। व्रत, संयम, इन्द्रियदमन आत्म दमन आत्मानुभव सहित हो तो अल्पकाल में शीघ्र सिद्ध परमात्मा के सुख को पाता है। अर्थात् व्रतादि के विकल्प क्रम-क्रम से छूटते जाते हैं और आत्मा स्वयं सिद्ध सुख को प्राप्त कर लेता है।

चौथे गुणस्थान में भी आत्मानुभव होता है। विशेष स्थिरता हो, वहां व्रत-नियम के परिणाम होते हैं वे तो विशेष स्थिरता बतलाते हैं।

जो आत्मा मोक्षमार्ग में आरूढ़ होने पर भी जब तक पूर्ण स्थिर नहीं होता तब तक उग्र आचरण रूपी साधुपना नहीं होता; ऐसा जिनेन्द्र देव का कथन है। जिनेन्द्र देव वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ सौ इन्द्रों से पूजनीक, समवशरण के नायक हैं। लाखों साधु रूपी तारों में ये चन्द्र हैं। ऐसे महा महिमावंत जिनेन्द्र के मुख से यह वाणी निकली है।

हे जीव ! जब तक आत्मा का शाश्वत, शुद्ध, ध्रुव, आनन्द वीतरागी स्वभाव को नहीं जानेगा, शुद्धोपयोग प्रकट नहीं करेगा, तब तक सब व्यवहार व्रतादि व्यर्थ हैं। व्रतपाले वैयावृत्य करे, देव-गुरु का विनय करे, शास्त्र स्वाध्याय करे, इन्द्रियों का दमन करे, त्य सब कषाय की मंदता है किन्तु इनसे तेरा मुक्ति का कार्य सिद्ध होने वाला नहीं।

भगवान आत्मा अपने शुद्ध भाव के भंडार का जब तक ताला नहीं खोले, तब तक शुभ भाव और शुभ राग की क्रिया को शुभोपयोग भी नहीं कहा जाता। मिथ्यादृष्टि है इसलिए वास्तव में अशुभ ही परिणाम हैं। सम्यग्दर्शन बिना ये चार गति में रुलने के ही पथ में पड़ा है। शुभाशुभ परिणाम से निवृत्ति और भगवान आत्मा की दृष्टि सहित शुद्धोपयोग रूप रमणता करे, यह वास्तविक चारित्र है। उसके साथ अशुभ निवृत्ति और शुभ प्रवृत्ति होती है, वह व्यवहार चारित्र है। यह व्यवहार चारित्र बंध का कारण है और निश्चय चारित्र संवर-निर्जरा का कारण है।

आत्मा का जो द्रव्य स्वभाव है, उस रूप परिणमना यह मोक्ष का कारण है। पंच महाव्रतादि के विकल्प ये तो परद्रव्य स्वभाव रूप परिणमन होने से दुर्गतिरूप हैं, बंधन है। स्वद्रव्य स्वभाव रूप परिणमन यह सुगति है। दो मोक्षमार्ग नहीं हैं, “एक होय त्रणकाल में परमार्थ नो पंथ”। निश्चय स्वाश्रित मार्ग, एक ही मोक्ष मार्ग है, पराश्रय मोक्ष मार्ग नहीं हो सकता।

*पुण्य पाप दोनों संसार है ।*

**पुणिं पावइ सग्ग जिउ पावइ णरयणिवासु ।  
वे छंडिवि अप्पा मुणइ तउ लब्भइ सिववासु ॥३२॥**

**पुण्य से हो स्वर्ग नर्क निवास होवे पाप से ।  
पर मुक्ति रमणी प्राप्त होती आत्मा के ध्यान से ॥३२॥**

**अर्थ :** यह जीव पुण्य से स्वर्ग पाता है, पाप से नरक में जाता है, पुण्य-पाप दोनों में ममता छोड़कर जो अपने आत्मा का मनन करे तो शिवमहल में वास पा जावे ।

जीव पुण्य से अर्थात् दया-दान, शील, संयम आदि रूप व्यवहार भावों से स्वर्ग पाता है । पुण्य कर्म में सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम, शुभ गोत्र आते हैं । आहारदान औषधदान, अभयदान तथा ज्ञानदान ये चार प्रकार के दान दे तो सातावेदनीय आदि पुण्य कर्म बांधता है । श्रावक तथा मुनि का व्यवहार चारित्र, क्षमाभाव, संतोषपूर्वक आरंभ, अल्पममत्व, कोमलता, कष्ट सहन करना, मन वचन काय का कपट रहित वर्तन, परगुण प्रशंसा, आत्म-निंदा तथा निराभिमानता आदि शुभभाव स्वर्ग के कारण हैं ।

पाप से जीव नरक में जाता है । असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र ये पाप कर्म, अशुभ भाव से बंधते हैं । ज्ञान साधना में विघ्न करने से, पर को दुःख देने से, तीव्र कषाय से, अन्याय पूर्वक आरंभ करने से, कपट सहित वर्तन करने से, मन-वचन-काया को वक्र रखने से, झगड़ा करने से, पर निंदा करने से, आत्म प्रशंसा करने से, अभिमान करने से, हिंसा, असत्य वचन बोलने आदि पांच पापों से प्रवर्तन करने से जीव नरक में जाता है ।

पुण्य-पाप, शुभाशुभ भाव दोनों दुखमय हैं संसार के कारण हैं । इन्हें तजकर ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा के सन्मुख होकर आत्मा का आश्रय ले तो शिववास को पावे अर्थात् मुक्त हो । आ हा हा ! निश्चय होय, वहां साथ में व्यवहार होता है । किन्तु है वह बंध का कारण, शास्त्रों में उसे सहचारी कहा है । वास्तव में तो अबंध रूप शुद्धोपयोग एक ही मोक्ष का कारण है, अन्य नहीं ।

*निश्चय चारित्र ही मोक्ष का कारण है*

**वउतउसंजमुसील निय इय सब्बइ ववहारु ।  
मोक्खह कारण एक्क मुणि तो तइलोयहु सारु ॥३३॥**

**व्रत शील संयम तप सभी हैं मुक्तिमग व्यवहार से ।  
त्रैलोक्य में जो सार है वह आत्मा परमार्थ से ॥३३॥**

**अर्थ :** हे जीव ! व्रत, तप, संयम, शील ये सब व्यवहार चारित्र हैं । मोक्ष कारण का एक निश्चय चारित्र को जानो जो तीन लोक में सार वस्तु है ।

आत्मा मोक्ष का कारण है अर्थात् आत्मा के आश्रय से जो वीतरागता प्रगट होती है, वह एक ही मोक्ष का कारण है । व्यवहार चारित्र बंध का कारण है ।

**प्रश्न :** तो फिर कुन्दकुन्दाचार्य ने पंच महाव्रत क्यों पाले थे ?

**उत्तर :** कहां पाले थे ? जो निमित्त थे, उन्हें ज्ञान में ज्ञेय रूप जानकर हेय गिना था ।

**प्रश्न :** आप तो एकांत करते हो । व्यवहार से कुछ लाभ नहीं होता ऐसा मानते हो ?

**उत्तर :** परन्तु भाई ! यहां आचार्य क्या कहते हैं ? व्यवहार है, होता है, परन्तु मोक्ष का कारण तो निश्चय आत्मा का आश्रय करना ही है ।

अहा ! तीन लोक में सार वस्तु यदि कोई है तो मोक्ष है मोक्ष का कारण रूप एक निश्चय चारित्र है । सम्यग्दर्शन और सम्यकज्ञान मोक्ष का कारण तो हैं ही किन्तु यहां तो उत्कृष्ट बात कहना है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित स्वरूप का आश्रय करके स्थिरता-वीतरागता-निर्विकल्पता-शांति की उग्रता प्रगट करना वह निश्चय चारित्र है जो त्रिलोक में सार है ।

पंडित टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में कहा है कि मोक्ष के कारण दो नहीं, उनका निरूपण दो प्रकार से है, दो मोक्षमार्ग माने तो भ्रम है । आत्मा की पूर्ण पवित्र वीतराग दशा, केवलज्ञान, निश्चय चारित्र दशा आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है । व्यवहार विनय-भक्ति आदि के भाव तो पराश्रित हैं, तथा बंध के कारण हैं; फिर भी साधक दशा में होते हैं; वे सार रूप नहीं हैं सार रूप तो निश्चय चारित्र है ।

शुद्ध परमानंद आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता एक ही सार-मोक्ष का मार्ग है । जैसा कार्य होता है वैसा ही कारण होता है; यह नियम है । कार्य निर्मल है तो उसका कारण भी निर्मल होना चाहिये । व्रतादि भाव मलीन हैं, जब साधन मलीन है तो साध्य निर्मल हो ऐसा बनता ही नहीं । अतः व्रतादि यथार्थ उपाय नहीं हैं । पवित्र मोक्ष दशा

का कारण भी पवित्र ऐसा निश्चय-स्वसंवेदन रूप निश्चय रत्नत्रय वह एक ही उपाय है, दूसरा उपाय नहीं।

व्यवहार का पालन यह तो राग है, राग करके कोई माने कि मैं श्रावक हूँ, मैं मुनि हूँ वह तो मूढ़ है। क्या वह श्रावक और मुनिपना है? वह तो बंध का कारण है। व्यवहार की क्रिया में श्रावकपना और मुनिपना कहां से आया? मुनिपना-श्रावकपना तो शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, वह है; वही जैनधर्म है। आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा आचरण स्वरूप अनुभव, वह एक ही मोक्ष का कारण है और वह चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

आ हा हा ! निश्चय है तो व्यवहार है कि व्यवहार है तो निश्चय है? ऐसा नहीं है। दोनों स्वतंत्र हैं। स्वाश्रयपना भिन्न है और पराश्रयपना भिन्न है। वास्तव में तो शुद्ध चैतन्य आत्मा का ज्ञान होते ही सम्यग्दृष्टि व्यवहार से मुक्त ही है। जैसे परद्रव्य हैं वैसे व्यवहार है तो सही, परन्तु वह ज्ञानी के नहीं, ज्ञानी उससे मुक्त है।

श्री समयसार में कहा है कि यह शरीर मृतक कलेवर है, वैसे ही सम्यग्दर्शन बिना अर्थात् आत्मा के भान बिना जीव का जीवन ही नहीं वह तो मृतक के समान है। परमात्मप्रकाश में भी कहा है कि जैसे जीव बिना का शरीर अपूज्य है, वैसे ही चैतन्य मूर्ति भगवान् आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना सब व्यवहार व्रतादि अपूज्य हैं। सम्यग्दर्शन बिना सभी प्राणी चलते-फिरते मुर्दे हैं। आत्मा के चैतन्य प्राण, आनंद प्राण, भावप्राण हैं उसकी प्रतीति उसका ज्ञान और रमणता करे तो जीवन है। वीतराग परमेश्वर के मार्ग में वीतराग स्वरूप आत्मा की वीतराग दृष्टि और ज्ञान ये जीव का जीवन कहलाता है। ऐसे जीव के जीवन बिना लक्ष्मी वगैरह से अपनी महानता मानने वाला जीवित मुर्दा है।

भाई ! इससे तो यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध स्वभावी आत्मा की अन्तर निश्चय श्रद्धा-ज्ञान वह एक ही धर्म है। वह न हो तो अकेला व्यवहार धर्म अमान्य-अपूज्य है। आ हा हा ! यह किसी के घर की बात नहीं; परन्तु सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ, तीर्थंकर देव जिन्होंने एक सैंकिण्ड के असंख्यातवें भाग में तीन लोक और तीन काल जाना है उनकी वाणी में आया है। अनंत तीर्थंकर की वाणी में भी एक यही आया है कि अखंडानंद प्रभु आत्मा की दृष्टि, ज्ञान और रमणता यही त्रिलोक में सार है।

आपसे आपको ध्याओ

अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परभाव चएइ ।  
सो पावइ सिवपुरिगमणु जिनवर एउ भणेइ ॥३४॥

परभाव को परित्याग कर अपनत्व आत्म में करे ।

जिनदेव ने ऐसा कहा शिवपुर गमन वह नर करे ॥३४॥

अर्थ : जो परभाव को छोड़ देता है व जो अपने से ही अपने आत्मा का अनुभव करता है वही मोक्षनगर में पहुंच जाता है, श्री जिनेन्द्र ने यह कहा है ।

पुण्य-पाप के विकल्प रहित आनंद मूर्ति, चैतन्य भगवान आत्मा को आत्मा से जानों और रागादि का लक्ष छोड़ दो; ऐसा जिनवर परमेश्वर त्रिलोकीनाथ कहते हैं । निर्मल परमानंद स्वरूपी आत्मा का आश्रय लेकर व्यवहार के विकल्पों को छोड़ । क्योंकि आत्मसाधना में ये बिल्कुल सहायक नहीं, इसलिए शुभभावनाओं का आश्रय छोड़ और आत्मा का अनुभव कर तो धर्म होगा ।

आ हा हा ! अनंत काल के जन्म-मरण मिटाने का उपाय तो कोई अपूर्व ही होना चाहिए । अनादि काल के संसार में अनन्त-अनन्त-अनन्त को अनन्त से गुणा करें तो भी अन्त न आवे इतने भव किये है । भाई ! रखड़-रखड़ कर दुखी हो गया मात्र एक आत्मा के भान बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन बिना । इसलिए आचार्य देव फरमाते हैं कि व्यवहार को छोड़कर आत्मा का अनुभव कर तो मोक्ष नगर पहुंचेगा ।

अरे भाई ! धैर्य धारण कर-धैर्य धारण कर । तेरे अन्तर में आनंद का सागर डोल रहा है । इसकी श्रद्धा-ज्ञान तथा रमणता करते ही अल्पकाल में मुक्ति होगी । इसके अलावा पुण्य भाव तुझे मदद करें ऐसा नहीं है । वे तो तुझे अटकाने वाले हैं, इसलिए उन्हें छोड़ ।

“आत्मभाव से आत्मा को जान” अर्थात् स्वयं को राग रहित निर्विकल्प ज्ञान से जान और “तज परभाव” अर्थात् दया, दान, व्रतादि के परिणाम कि जो बंध के कारण हैं उन्हें छोड़ तो तू अविचल शिवपुर जायेगा, नहीं तो चार गति में भ्रमेगा ऐसा जिनवर कहते हैं ।

छहढाला में आता है कि

लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ ।  
तोड़ सकल जग द्वंद फंद निज आत्म ध्याओ ॥

आ हा हा ! चैतन्य रत्नाकर में आनंद, शांति आदि अनंत-अनंत रत्न भरे हैं, ऐसे आत्म स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान तथा स्थिरता कर तो तेरी अल्पकाल में मुक्ति होगी ।

*व्यवहार में नौ पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है*

**छहद्रव्य जे जिण कहिया णव पयत्थ जे तत्त ।  
ववहारे जिणउत्तिया ते जाणियहि पयत्त ॥३५॥**

व्यवहार से जिनदेव ने छह द्रव्य तत्त्वारथ कहे ।  
हे भव्यजन ! तुम विधी पूर्वक उन्हें भी पहिचान लो ॥३५॥

**अर्थ :** जिनेन्द्र ने जो छः द्रव्य, नौ पदार्थ और सात तत्त्व कहे हैं वे सब व्यवहार नय से कहे हैं प्रयत्न करके उनको जानना योग्य है ।

जिनेन्द्र परमेश्वर ने छह द्रव्य, नव पदार्थ और सात तत्त्व कहे हैं । जिन्हें एक समय में तीन लोक, तीनकाल का ज्ञान प्रकाशमान हुआ है, ऐसे सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान ने व्यवहार कहा है । व्यवहार अर्थात् आत्मा से भिन्न और अन्य भेद रूप तत्त्व है । आत्मा निश्चय से तो अखंड, आनंद की मूर्ति है । इसका आश्रय करना, उसकी दृष्टि करना वह सम्यग्दर्शन है; वह निश्चय है । परन्तु निश्चय में जिनका निषेध है वह अन्य वस्तु व्यवहार है । जब निश्चय ऐसा है तब व्यवहार है या नहीं ? सात तत्त्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल तथा अनंत पुद्गल परमाणु अनंत जीव ये सब निजात्मा से भेदरूप अथवा अनेक रूप हुए : इसलिये वीतराग देव ने इन्हें व्यवहार कहा । ऐसे व्यवहार को न जाने उसे निश्चय होता नहीं । पुण्य-पाप, आश्रव भाव बंध भाव ये आत्मा से विपरीत रूप अन्य भाव हैं । उनका ज्ञान करना चाहिये और अभेद आत्मा की दृष्टि करना चाहिये ।

छः द्रव्य, नव पदार्थ, सात तत्त्व जिनेन्द्र ने कहे हैं इसलिए उन्हें व्यवहार से जानना चाहिए या नहीं ? प्रयत्न पूर्वक देखना चाहिए या नहीं ?

**समाधान :** प्रयत्न पूर्वक जानने योग्य हैं, छह द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल और जीव अरूपी हैं । पुद्गल, द्रव्यरूपी है । सभी द्रव्यों का, उनकी शक्तियों का, उनकी अवस्थाओं का जैसा स्वरूप है वैसा जानना चाहिए । जब छह द्रव्य कहे तो इसका अर्थ हुआ कि छहों द्रव्य भिन्न भिन्न हैं । छहों द्रव्यों की पर्यायें भी स्वतंत्र अपने से ही होती है । ऐसा जानना इसका नाम व्यवहार है ।

यहां यह कहना है कि जगत में छह द्रव्य हैं इतना भी व्यवहार न जाने तो उसका आत्मा निश्चय अभेद एकाकार है उसकी किस प्रकार श्रद्धा-ज्ञान-लीनता करेगा ? यहाँ पर्याय है, सो भेद है और छह द्रव्य हैं सो अन्य हैं । परन्तु इतना व्यवहार है, जो उसे नहीं जानेगा तो उसका निषेध करके अभेद में कैसे आयेगा ? नव भेद रूप कथन है सो व्यवहार । नव है, इसलिए निश्चय है ऐसा नहीं । नव में जीव कैसा है ? अजीव कैसा है ? दया-दान-व्रतादि के परिणाम पुण्य हैं । हिंसादि के परिणाम पाप हैं; ये दोनों आश्रव हैं । उसमें अटकने को भावबंध कहा है । आत्मा आश्रव-बंध को हेय जानकर जब स्वभाव सन्मुख होता है, तब शुद्धि की उत्पत्ति (संवर) शुद्धि की वृद्धि (निर्जरा) और पूर्ण शुद्धता अर्थात् मोक्ष होता है ।

*सब पदार्थों में चेतन वाला एक जीव ही है*

**सब्व अचेयण जाणि जिय एक्क सचेयण सारु ।  
जो जाणेविण परममुणि लहु पावइ भवपारु ॥३६॥**

**है आत्मा बस एक चेतन आत्मा ही सार है ।  
बस और सब हैं अचेतन यह जान मुनिजन शिव लहें ॥३६॥**

**अर्थ :** पुद्गलादि सर्व पांचों द्रव्यों को अचेतन या जड़ जानों, एक अकेला जीव ही सचेतन है व सारभूत परम पदार्थ है । उस जीव तत्त्व को अनुभव करके परम मुनि शीघ्र ही संसार से पार हो जाते हैं ।

भगवान सर्वज्ञदेव त्रिलोकीनाथ कहते हैं कि हे जीव ! पुद्गलादि पांच द्रव्य पुद्गल परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा शरीर मन, वाणी, कर्म ये सभी जड़ हैं, अचेतन हैं । एक आत्मा ही सचेतन, सर्वज्ञ स्वभावी है । प्रथम व्यवहार का ज्ञान कराया । अब जिसमें चेतनपना भरा है अर्थात् “ज्ञ” स्वभाव-सर्वज्ञ स्वभाव भरा है वह एक आत्मा ही है । आत्मा, कि जिसमें सर्वज्ञ पद पड़ा है, उसे जानने वाली ज्ञान की पर्याय भी है, परन्तु ऐसी अनंत ज्ञान पर्यायों का पिंड आत्मा है । इस सचेतन-सर्वज्ञ आत्मा को तू जान । अन्य सभी जो हैं, वे अचेतन या सचेतन हैं । दूसरी आत्मायें भले सचेतन हैं, परन्तु तेरे लिए सचेतन नहीं । तेरे सिवाय सभी चेतन इस आत्मा में नहीं। अन्य पांच द्रव्यों में ज्ञान नहीं तथा सभी का जिसे ज्ञान है ऐसा सर्वज्ञ स्वभावी तू है। यही एक परम पदार्थ भगवान आत्मा सार है ।



स्वरूप की एकाग्रता करनी, यह योगसार है। ये मुनियों की मस्ती आत्मानंद की बातें हैं। जानना, जानना, जानना एक ही सार है। जाननेवाले को जाने तो तेरा कल्याण होगा। इसके अलावा तेरा कल्याण नहीं। जान अर्थात् अनुभव कर इसे जानकर मुनिगण अल्पकाल में भव पार को पा लेते हैं। संसार का अंत लाने का उपाय भगवान आत्मा का अन्तर्मुख होकर अनुभव करना ही है। बीच में दया-दान आदि के विकल्प आवें, वे मुक्ति के उपाय नहीं।

**प्रश्न :** आंखों से दिखाई दे तो सत्य माना जाये ना ?

**उत्तर :** किस प्रकार देखना ? आंख उघाड़े तो दिखे ना ? जैसे कमरे में एकही दरवाजा हो, उसमें भाई-साहब तीन रजाई ओढ़े हों, आंखों में कीचड़ भरा हो, उसे कहो कि देखो, ये कबेलु सोने के हो गये, सूर्य दिख रहा है। परन्तु कैसे दिखे ? आंख खोलकर सब दूर करे तब दिखे न !

एक शक्कर को मिलाकर नौ मिठाई बनावे तो भी शक्कर को देखने वाला शक्कर, शक्कर ही देखता है अन्य आटे आदि को नहीं देखता। उसी प्रकार सम्पूर्ण दुनियां में जहां देखो तहां जाननार, जाननार यह मैं हूँ, अन्य वस्तुयें ज्ञान में ज्ञात हों, परन्तु वे ज्ञान नहीं। जड़ का ज्ञान, संवरादि का ज्ञान, अन्य जीवों का ज्ञान ऐसा नहीं मैं तो ज्ञान ही हूँ। सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा की जब तक दृष्टि नहीं करेगा तब तक उसे किंचित भी धर्म नहीं होगा।

*व्यवहार का मोह त्यागना जरूरी है*

**जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि छंडवि सहु ववहारु ।**

**जिण-सामिउ एमइ भणइ लहु पावहु भवपारु ॥३७॥**

**जिनदेव ने ऐसा कहा निज आत्मा को जान लो ।**

**यदि छोड़कर व्यवहार सब तो शीघ्र ही भवपार हो ॥३७॥**

**अर्थ :** जिनेन्द्र भगवान कहते हैं, यदि तू सर्व व्यवहार छोड़कर निर्मल आत्मा का अनुभव करेगा तो शीघ्र भव से पार होगा।

जिनेश्वर त्रिलोकीनाथ तीर्थकर देव की वाणी में यह आया है कि व्यवहार जैसा है वैसा जान। परन्तु उसकी दृष्टि छोड़। और एक निर्मल आत्मा का अनुभव कर। ऐसा सिंहनाद भगवान का है। अतः हे जीव ! तू भगवान आत्मा चैतन्य प्रभु में एकाग्र होकर अनुभव करेगा तथा व्यवहार को छोड़ेगा तब तेरी मुक्ति होगी।

परमाणु मात्र भी पर पदार्थ हितकारी नहीं तथा व्यवहार धर्म का जितना विषय है वे सभी त्यागने योग्य हैं। सर्व व्यवहार अर्थात् पर-वस्तु को छोड़। राग छोड़। देव, शास्त्र गुरु की भक्ति के विकल्पों को छोड़। गुण-गुणी के भेद रूप विकल्पों को भी छोड़ अरे ! मैं आत्मा सिद्ध समान हूँ, ऐसा भी विकल्प छोड़। अर्थात् व्यवहार के भेद सभी छोड़ने लायक हैं। उनका कोई भी अंश आश्रय करने लायक नहीं। भले ही निमित्त हो; दया-दान के विकल्प हों; एक समय की पर्याय के भेद हों; परन्तु वे आश्रय करने लायक नहीं हैं। इस आज्ञा के विरुद्ध जो माने उसे भगवान के उपदेश की श्रद्धा नहीं। जब तक व्यवहार का विकल्प रहेगा। तब तक आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता।

आत्मा का अनुभव यह एक ही मोक्ष का मार्ग है। धर्मी जीव को देव, शास्त्र गुरु अपना आत्मा ही है। भगवान सच्चिदानंद प्रभु सिद्ध समान सदा पद मेरा ऐसा आत्मा इसका घर है। धर्मी का रमणीय उपवन आत्मा ही है, जहां ये रमते हैं। आ हा हा ! आसन भी ज्ञानानंद भगवान आत्मा है। आत्मा ही शिला है, पर्वत की गुफा तथा सिंहासन है। आत्मा में एकाग्रता रूप नौका (जहाज) वही धर्मी को संसार से पार कराने वाली है। व्यवहार का अहंकार, मुनिपने आदि का अहंकार, ये सब मिथ्यात्व है। व्यवहार में सावधान वाला मोक्षमार्गी नहीं, निश्चय में सावधान वाला मोक्षमार्गी है।

हे योगी ! जीव-अजीव के भेद जान, ऐसा तीर्थकरों ने कहा है। जीव अर्थात् एक ज्ञायक स्वभावी अभेद आत्मा शेष सब अजीव। आत्मा, अन्य जीव नहीं। जड़, राग, एक समय की पर्याय भी वास्तविक जीव नहीं। वह जीव का पूर्ण स्वरूप नहीं, इस अपेक्षा से ये सब अजीव हैं। व्यवहारी जीव भी वास्तविक जीव नहीं। आ हा हा ! व्यवहार जीव तो निश्चय से अनात्मा है, ऐसा जीव-अजीव भेद ज्ञान ही मोक्ष का कारण जानों, ऐसा भगवान ने कहा है। बंध का संबंध विभाव से है और मोक्ष का संबंध स्वभाव से है। अतः बंध-मोक्ष के स्वरूप को जानना चाहिये। आत्मा ज्ञायक स्व है और संसार, राग, बंध ये पर हैं ऐसा जिसे भेद ज्ञान हुआ हो वही मुक्ति का कारण है अन्य नहीं।

*जीव अजीव का भेद जानो*

**जीवाजीवहँ भेउ जो जाणइ तिं जाणियउ ।**

**मोक्खहँ कारण एउ, भणइ जोइ जोइहिं भणियउ ॥३८॥**

**जो जीव और अजीव के गुणभेद को पहिचानता ।  
है वही ज्ञानी जीव वह ही मोक्ष का कारण कहा ॥३८॥**

**अर्थ :** हे योगी ! योगियों ने कहा है जो कोई जीव तथा अजीव का भेद जानता है उसी ने मोक्षमार्ग जाना है । ऐसा कहा गया है ।

हे योगी ! जड़ और चैतन्य दोनों सर्वथा भिन्न हैं अर्थात् स्वयं को शुद्ध ज्ञान चैतन्य दोनों सर्वथा भिन्न हैं । ऐसा जो भेद-विज्ञान करेगा अर्थात् स्वयं के शुद्ध ज्ञान और आनंदमय स्वरूप को देखेगा और राग, द्वेष, कर्म आदि को अजीव स्वरूप देखेगा तो उसे मोक्ष का कारण प्रगट होगा ।

जीव और अजीव का अनादि से संबंध है, क्योंकि दोनों का संबंध न हो तो बंध ही नहीं होगा । जब दोनों का संबंध छूटेगा तब मुक्ति होगी । इसलिए इनका ज्ञान बराबर करना यही मुक्ति का कारण है ।

“भेद ज्ञान ही ज्ञान है बाकी बुरो अज्ञान” आत्मा और जड़ भिन्न है ना ? यदि ये भिन्न न हों तो इनके संबंध से बंध और बंध के अभाव रूप मुक्ति की किसी भी प्रकार से सिद्धि नहीं होगी । इसलिए दोनों का स्वरूप, लक्षण, भाव भिन्न है; ऐसा बराबर जाने तो उसे मोक्ष का कारण ऐसे आत्मस्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और शांति प्रगट हो, ऐसा भगवान ने कहा है ।

आत्मा रागादि पर से भिन्न है और अपने शुद्ध स्वभाव से अभिन्न, अभेद, एक है; ऐसा भेद ज्ञान करे तो स्वभाव सन्मुखता अर्थात् एकाग्रता हो और पर सन्मुखता छूटे । इस प्रकार आत्मानुभव करने से मोक्ष होता है ।

*आत्मा केवलज्ञान स्वभावधारी है*

**केवल-गाण-सहाउ सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ ।  
जई चाहहि सिव-लाहु भणइ जोइ जोइहिं भणिऊँ ॥३९॥**

**यदि चाहते हो मोक्षसुख तो योगियों का कथन यह ।  
हे जीव ! केवलज्ञानमय निज आत्मा को जान लो ॥३९॥**

**अर्थ :** हे योगी ! योगियों ने कहा है कि तू केवलज्ञान स्वभावी जो आत्मा है उसे ही जीव जान, यदि तू मोक्ष का लाभ चाहता है, ऐसा कहा है ।

हे योगी ! सर्वज्ञ परमेश्वर ने अथवा संतों ने कहा है कि तू केवलज्ञान स्वभावी आत्मा को जान । केवलज्ञान स्वभावी अर्थात् केवलज्ञान पर्याय की बात नहीं परन्तु मात्र ज्ञानस्वभाव, उसमें सर्वज्ञ स्वभाव आ गया । आत्मा पूरा ज्ञान स्वरूप है उसे जान !

आत्मा देह से भिन्न मात्र केवलज्ञान की मूर्ति है । यहां देह कहने से रागादि सब पर में आजाते हैं । सर्वथा चैतन्य स्वरूप प्रभु, केवलज्ञान स्वभाव को धरने वाला, ज्ञान स्वभावी है ।

यदि मुक्ति का लाभ चाहते हो अर्थात् पूर्ण निर्मल आनंद की पर्याय प्राप्त करने की इच्छा हो तो केवल-ज्ञान स्वभावी आत्मा को तू जान । अनुभव कर । अकेले ज्ञान स्वभाव का अनुभव करने से मुक्ति मिलेगी । 'आत्मा को जान' कहने से इसमें प्रतीति, ज्ञान, स्थिरता तथा आनंद आदि सब आ जाते हैं ।

आत्मा को केवल ज्ञान स्वभावी ही क्यों कहा ? ज्ञान गुण में ही अन्य अनंत गुणों का प्रतिभास होता है । अर्थात् ज्ञान से ही अन्य गुणों का भान होता है; परन्तु अन्य गुणों के भान से ज्ञान का ज्ञान हो ऐसा नहीं । अन्य गुण अस्तित्व रखते हैं परन्तु ये दूसरे गुणों को जानते नहीं, तथा स्वयं भी अपने को नहीं जानते । ज्ञान गुण तो ऐसा है कि स्वयं को जानता है और अन्य सब गुणों का स्वरूप भी जान लेता है । आनंद का अनुभव हो, परन्तु जानता तो ज्ञान ही है । इसी तरह सम्यग्दर्शन स्वयं को नहीं जानता; परन्तु ज्ञान जानता है कि यह सम्यग्दर्शन है ।

इस ज्ञान में क्रिया क्या हुई ? यह ज्ञान स्वभावी आत्मा है ऐसा जानना क्या यह क्रिया नहीं ? जानने से बाहर में कुछ अंतर तो दिखता नहीं ? परन्तु आत्मा ही कहां बाहर है कि जिसमें बाहर से कुछ दिखे ? जब शरीर-वाणी में आत्मा नहीं तो बाहर वह कैसे दिखाई दे ? ज्ञान स्वरूपी आत्मा जहां है वहां दिखाई देगा । इसकी क्रिया तो इसकी दशा में दिखेगी । बाहर की क्रिया से यह जानने में नहीं आता । ज्ञानी बाह्य में लड़ता दिखाई दे, परन्तु अन्दर में तो राग का स्वामीपना छोड़कर आत्मा का स्वामीपना करके बैठा है । जबकि अज्ञानी बाहर में सब कुछ संयोग छोड़ देता है फिर भी अन्दर में सबका स्वामीपना लेकर बैठा है । इस कारण वह सब संयोगों के बीच में ही है, कुछ छूटा नहीं । अतः हे जीव ! यदि तू शिवलाभ चाहता है तो केवलज्ञान स्वभावी आत्म तत्त्व को जान ।

*ज्ञानी को हर जगह आत्मा ही दिखता है*

को सुसमाधि करउ को अंचउ, छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ ।  
हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ ॥४०॥

सुसमाधि अर्चन मित्रता अर कलह एवं वंचना ।  
हम करें किसके साथ किसकी हैं सभी जब आत्मा ॥४०॥

अर्थ : कौन तो समाधि करे, कौन अर्चा या पूजन करे, कौन स्पर्श-अस्पर्श करे, कौन वंचना या मायाचार करे, कौन किसके साथ मैत्री व कलह करे, जहां कहीं देखो वहां आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होता है ।

ज्ञानी को सब जगह आत्मा ही दिखता है । ये शरीरादि तो जड़ हैं; रागादि तो विकार-दोष हैं; ये आत्मा नहीं । आत्मा जानने वाले को हर जगह आत्मा ही भासता है; ऐसा इस गाथा में कहते हैं ।

भगवान आत्मा.....आनंद स्वरूपी ही मैं हूँ, ऐसा भासित हुआ; उसे अब क्या करना रहा ? अब कौन समाधि करे ? क्योंकि जहां आत्मा को जाना और उसमें स्थिर हुआ तथा स्वीकारा कि मैं ही परमात्म स्वरूप हूँ । फिर वहां अब किसकी पूजा करे ? वे तो अपनी पूजा करते हैं । जब शुभभाव होता है, तब भगवान की पूजा करते हैं । जब आत्मा ही शुभभावों से भिन्न चैतन्य स्वरूप भासित हुआ इसमें स्थिर हुआ, वहां स्वयं ही अपना बहुमान करता है । इसलिए उसे अन्य की पूजा करना रहा ही नहीं । मैं ही सत्-चिदानंद पूर्ण आत्म तत्त्व हूँ ऐसा भासित होने पर स्पृश्य-अस्पृश्य की भावना उदित नहीं होती ।

अपने को ही ज्ञानवान जाना, वहां अन्य के आत्मा को भी अपने समान ज्ञानवान भगवान आत्मा जानता है; तब किसे ठगे ? किसके साथ मायाचार करे ? सभी को भगवान स्वरूप देखता है, तब किससे मायाचार करे ? जब तक आत्मा को नहीं जानता था तब तक मायाचार किया । अब किसके साथ मायाचार करे ? क्योंकि मायाचार करना आत्मा का स्वरूप नहीं ।

किसके साथ शत्रु-मित्रता करे ? जब सब परमात्म स्वरूप हैं, तब किसके साथ मैत्री करनी ? ऐसा जानने वाला स्वयं अतीन्द्रिय आनंद की माला फेरता है अर्थात् स्वयं ज्ञान, आनंदमय हो जाता है । तब फिर किसका जाप करे ? जब स्वयं को शांत

स्वभावी जाना, वहां पर के आत्मा को भी क्लेश रहित शांतस्वभावी ही जाना, तब वहां किसके साथ क्लेश करके शत्रुता करे ?

आ हा हा ! इसे तो जहां देखो वहाँ भगवान आत्मा ही दिखता है । परन्तु सब मिलकर एक आत्मा है; ऐसा नहीं जानता । अपने आत्मा को जैसा रागादि रहित देखता है, वैसा ही अन्य आत्माओं को देखता है । आ हा हा ! पहले जीव-अजीव का भेद करने को कहा; पीछे केवलज्ञान स्वभावी आत्मा कहा और अब अपने समान ही सब आत्माओं को जानता है, ऐसा कहा । ज्ञानी जैसी दृष्टि से अपने को देखता है वैसी ही दृष्टि से अन्य आत्माओं को देखता है । अन्य आत्माओं को भी शरीर रागादि रहित ही जानता है । अरे ! परमाणु आदि को देखे तो भी वहां ज्ञान भासित होता है कि मैं जानने वाला हूँ, रागादि को जानते हुए भी मैं जानने वाला ज्ञान ही हूँ, ऐसा भासित होता है । इसलिए सर्वत्र आत्मा ही जानने में आता है । अन्य को देखते समय भी अपना ज्ञान ही जानने में आता है । अर्थात् अपनी ज्ञान की पर्याय ही जैसा ज्ञेय हो, उसके आकार होकर परिणमित होती है और उसे आत्मा जानता है । ऐसा धर्म का स्वरूप जीव ने कभी सुना नहीं । अनादि से चौरासी लाख योनियों के अवतार में भटकते हुए इसका चूरा-चूरा हो गया है, तो भी ज्ञान वह आत्मा ऐसा जाना नहीं । उल्टा आत्मा को अनात्मा माना और अनात्मा को आत्मा माना ।

अन्य के दोष का ज्ञान हुआ; परन्तु वहां भी ज्ञान ही हुआ ना ? वह ज्ञान अपने में हुआ है इसलिए अपना ही ज्ञान हुआ; परन्तु दोष का ज्ञान नहीं हुआ, इसलिए जहां हो वहां अपना ही ज्ञान हुआ है; अपना ज्ञान ही जानने में आता है ।

“मैं ज्ञान की मूर्ति हूँ” ऐसा अन्दर में भान होते ही वह सर्वत्र ज्ञान अर्थात् आत्मा ही देखता है । जैसे खेत में चना बोया हो तो किसान की नजर चने के ऊपर ही होती है, कितना हुआ है ? ऐसे उसकी नजर चने के ऊपर ही रहती है, परन्तु डाली-पत्ता पर नजर नहीं होती । जैसे सोने में मणि जड़ी हो और जवेरी के पास जाओ तो उसकी दृष्टि मणि पर ही होती है, सोने पर नहीं । क्योंकि उसे मणि से ही प्रयोजन है । सुनार के पास जाओ तो उसकी दृष्टि सोने पर ही होती है । वैसे ही जिसे आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान हुआ उसे जहां देखो तहां आत्मा ही दिखाई देता है “मैं तो मात्र जानने देखने वाला हूँ अन्य मैं हूँ नहीं ।”

*अनात्मज्ञानी कुतीर्थों में भ्रमता है*

**ताम कुतित्थिइं परिभ्रमइ धुत्तिम ताम करेई ।**

**गुरुहु पसाएं जाम णवि अप्पा-देउ मुणेई ॥४१॥**

गुरुकृपा से जबतक कि आत्मदेव को नहीं जानता ।

तबतक भ्रमे कुतीर्थ में अर ना तजे जन धूर्तता ॥४१॥

**अर्थ :** गुरु महाराज के प्रसाद से जब तक एक अपने आत्मारूपी देव को नहीं पहिचानता है तब तक मिथ्या तीर्थों में घूमता है तब ही तक धूर्तता करता है ।

गुरु के प्रसाद से देह देवल में बिराजमान अपने आत्मा को-सच्चिदानंद स्वरूप अपने देव को जब तक नहीं जानता तब तक कुतीर्थों में भ्रमता है-भटकता है ।

नदी में स्नान करे तो कल्याण होगा ना ? अरे कुछ भी कल्याण नहीं होगा । वहाँ मछलियाँ निरंतर स्नान करती हैं तो क्या उनका कल्याण हो जावेगा ? कुतीर्थों में लाभ मानना यह तो लोकमूढ़ता है । विषयों की प्राप्ति के लिये जीव मिथ्यादेव, मिथ्यागुरु और मिथ्याशास्त्रों की खूब भक्ति-पूजा-स्वाध्याय करता है, पर वह तो मूढ़ता है । शुद्धात्मा को अनुभवना वह देव की सच्ची पूजा है, सम्यग्दर्शन है । बाकी तो कुतीर्थों में रखडने से कुछ लाभ नहीं । तुमड़ी का उदाहरण आता है कि कड़वी तुमड़ी को तीर्थों में खूब नहलाये, परन्तु उसकी कड़वाहट तो जाती नहीं । तो क्या तेरी कड़वाहट-विपरीतता तीर्थों में नहाने से चली जायेगी ? आ हा हा ! भ्रम रूपी जहर तो उतरा नहीं तो काहे का तीर्थ किया ?

*निज शरीर ही निश्चय से तीर्थ व मंदिर है*

**तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु ।**

**देहादेवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥४२॥**

श्रुतकेवली ने यह कहा ना देव मन्दिर तीर्थ में ।

बस देह-देवल में रहें जिनदेव निश्चय जानिये ॥४२॥

**अर्थ :** श्रुतकेवली ने ऐसा कहा है कि तीर्थक्षेत्रों में व देवमंदिर में परमात्मा देव नहीं है निश्चय से ऐसा जान कि शरीर रूपी देवालय में जिनदेव हैं ।

भगवान और श्रुतकेवली कहते हैं कि निश्चय से देवालय में परमात्मा नहीं, परन्तु शरीर रूपी तेरे देह-देवल में परमात्मा अर्थात् तेरा आत्मा बिराजमान है ऐसा जान ।

उसकी श्रद्धा कर, यह देव की पूजा है। मंदिर में तो भगवान की स्थापना है, वहाँ सच्चे भगवान नहीं। क्योंकि सच्चे भगवान तो समवशरण में हैं। वहाँ भी जायेगा तो तुझे भगवान का शरीर ही दिखेगा, भगवान का आत्मा नहीं दिखेगा। जब तू तेरे आत्मा को देखेगा तब ही भगवान आत्मा दिखाई देगा। राग की आँख बंद करके, पर को देखना मंद करेगा, तब स्व को देखेगा-जानेगा। तभी सच्चे भगवान तेरे जानने में आयेंगे कि परमात्मा ऐसे होते हैं।

अपने आत्मा को जानना ही भगवान की निश्चय भक्ति है और मंदिर में बिराजमान भगवान की भक्ति वह व्यवहार भक्ति है।

वास्तव में देह ही तीर्थ है और मंदिर है; क्योंकि आत्मा उसमें बसता है। बाह्य मंदिर में आत्मा नहीं बसता, प्रतिमा में आत्मा नहीं, उसी प्रकार साक्षात् भगवान में भी तेरा आत्मा नहीं। निजात्मा को देखना-जानना हो तो इस देह रूपी तीर्थ और मंदिर में ही दिखेगा। अपना आत्मा कहीं भगवान के पास नहीं।

**प्रश्न :** भगवान को पास इस आत्मा का नमूना तो है ना ?

**समाधान :** अपना आत्मा यहाँ है तो इसका नमूना भी यहाँ ही है।

देखो ! यह वास्तविक तत्त्व। भगवान की प्रतिमा है वहाँ भाव-निक्षेप नहीं वह तो स्थापना निक्षेप है। शरीर-रूपी तीर्थ में ही भगवान बिराजता है। हमारा मंदिर-हमारा मंदिर, परन्तु इस मंदिर में तेरा भगवान कहाँ है ? तेरा भगवान तो तेरे में है, श्रुतकेवली ऐसा कहते हैं। ऐसा कहकर यह सिद्ध करना है कि तेरे में देखने से तुझे तेरा आत्मा मिलेगा मंदिर में बिराजमान भगवान को देखने से तेरा आत्मा नहीं मिलेगा। मंदिर में तो भगवान कैसे होते हैं तथा कैसे थे उसका प्रतिबिम्ब है। उससे परमात्मा का स्मरण होता है; परन्तु अपना आत्मा नहीं दिखता। साक्षात् भगवान को देखने से भी अपना आत्मा नहीं दिखता।

क्या शास्त्र से ज्ञान होता है ? अरे ! कुछ नहीं होता, परसंबंधी ज्ञान हो वह भी अपने से होता है; अपने उपादान से होता है, निमित्त से नहीं। भगवान ऐसे थे ऐसा स्मरण हो इसमें भी उपादान तो स्वयं का ही है।

भगवान गुफा में नहीं, नहीं पर्वत-नदी में, नहीं मंदिर में, कहीं भी बाहर में भगवान नहीं। तो फिर मंदिर को वास्तविक मंदिर कैसे कहा जावे ? वास्तविक मंदिर तो देह



मंदिर है; जिसमें अपना भगवान बिराजता है। जिन प्रतिमा तो शुभभाव में निमित्त है। उससे भगवान कैसे थे, उसका स्मरण होता है, परन्तु वहाँ भगवान कहाँ हैं ?

सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो अन्तरदृष्टि करेगा तब होगा। अनंतकाल में जितने जीवों ने सम्यग्दर्शन पाया है, वर्तमान में जितने पा रहे हैं और भविष्य में जितने पायेंगे वे सब अन्तरदृष्टि से सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मुक्त हुए हैं।

आत्मा का स्मरण तो तब हो कि पहले उसका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा हुई हो। पहले विचार तो आवे।

सम्मेद शिखर तथा शत्रुंजय आदि सब सिद्धक्षेत्र तो भगवान कैसे थे उ के स्मरण में निमित्त होते हैं, आत्मा के स्मरण में नहीं। इसी तरह जिनमंदिर भी भगवान के स्मरण में ही निमित्त होते हैं।

आत्मा संबंधी ज्ञान कब प्रगटेगा ? अन्तर में देखो तब प्रकटेगा ना ? आत्मा की प्राप्ति तो आत्मा के सन्मुख देखने से ही होती है। पर सन्मुख देखने से नहीं होती, भाई ! यह तो अन्तर से ही जाना जाय ऐसा तत्त्व है। इसलिए यह देह ही देवालय है; जहाँ देखने से आत्मा प्रगट हो। अन्य देवालय में देखने से आत्मा प्रगट नहीं होता।

मंदिर अथवा निर्वाण क्षेत्र तो शुभभाव हो तब स्मृति में आते हैं। इस स्मृति को गौण कर उसे अन्तर की ओर झुकाना चाहिये। बाहर देखने से आत्म प्राप्ति हुई हो ऐसा भूतकाल में बना नहीं, वर्तमान में बनना नहीं और भविष्य में भी बनेगा नहीं।

अब कहते हैं देवालय में साक्षात् देव नहीं, परोक्ष रूप व्यवहार देव हैं। भगवान की प्रतिमा है ही नहीं, ऐसा माने तो भी अज्ञानी है और उससे आत्मा प्राप्ति होती है, ऐसा मानने वाला भी अज्ञानी है। जब अन्तर स्थिर न रह सके तब भगवान की पूजा भक्ति का शुभभाव रूप व्यवहार होता है।

*देवालय में साक्षात् देव नहीं हैं।*

**देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिं णिएइ ।  
हासउ महु पडिहाइ इह सिद्धे भिक्ख भमेई ॥४३॥**

**जिनदेव तनमन्दिर रहें जन मन्दिरों में खोजते ।  
हँसी आती है कि मानो सिद्ध भोजन खोजते ॥४३॥**

**अर्थ :** श्री जिनेन्द्र देव देहरूपी देवालय में हैं, अज्ञानीमानव मंदिरों में देखता-फिरता है, मुझे हँसी आती है जैसे इस लोक में धनादि की सिद्धि होने पर भी कोई भीख माँगता फिरे ।

केवलज्ञानी की स्तुति कैसी है ? ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के सामने प्रश्न हुआ । तब आचार्य देव ने कहा अन्तर में बैठे हुए भगवान को अतीन्द्रिय ज्ञान द्वार जान और अनुभव कर तब केवलज्ञानी की निश्चय स्तुति होगी ।

अज्ञानी मंदिर में देव के पास जाकर भगवान से शिवपद माँगता है, परन्तु भाई तेरा शिवपद वहाँ है कि तेरे पास है ? ज्ञानी तो जानता है कि मेरा शिवपद मेरे पास है फिर भी उसे व्यवहार में ऐसे भक्ति के भाव आते हैं । व्यवहार नहीं है ऐसा नहीं है व्यवहार है, परन्तु उस व्यवहार से निश्चय की प्राप्ति होगी ऐसा नहीं है ।

अरे ! मुझे हँसी आती है कि बड़ा राजा होकर घर-घर भीख माँगे; वैसे ही स्वयं चैतन्य राजा होकर भी मंदिर में भगवान के पास आत्मा की भीख माँगता है ।

ज्ञानी शुभभाव में हो तो ऐसा भी कहे कि “भज के भगवंत भव अंत लहो” । भगवान का भजन करने से भव का अंत आयेगा । भगवान का सच्चा भजन कब कहलायेगा ? जब अपना भजन करे । अपना भजन करे तो भव का अंत आता ही है । निज भगवान आत्मा को पहचाने तब ही भगवान को पहचाना और भजा । “सिद्ध समान सदा पद मेरो” इसमें लीन हो जा ।

घर में लक्ष्मी है, बाहर में भीख माँगने जावे, वैसे ही चैतन्य लक्ष्मी अपने ही पास है फिर भी भगवान से माँगता है, तो भगवान कहते हैं, “तेरी लक्ष्मी तेरे पास है, तेरी लक्ष्मी मेरे पास नहीं है” ।

अन्तर के चरित्र बिना बाह्य चरित्र बालू में से तेल निकालने के समान है । निज स्वरूप के भान और रमणता बिना बाह्य चरित्र मिथ्या है । जिसने वास्तव में आत्म देव को अन्तर में देख लिया है, उसे बाह्य क्रिया का मोह रहता नहीं । परमार्थ से बाह्य जीव मोक्षमार्ग को समझते नहीं तथा पुण्य को ही निर्वाण का मार्ग मान लेते हैं । पर की तरफ के लक्ष से उत्पन्न दया, दान, भक्ति, व्रतादि से कभी भी मोक्ष होता नहीं । व्यवहार करते-करते निश्चय प्राप्त हो यह असंभव है ।

*समभाव से अपने देह में जिनदेव को देख*

**मूढ़ा देवलि देउ णवि सिलि लिप्पइ चित्ति ।**

**देहा-देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समिचित्ति ॥४४॥**

**देव देवल में नहीं रे मूढ़ ! ना चित्राम में ।**

**वे देह-देवल में रहें सम चित्त से यह जान ले ॥४४॥**

**अर्थ :** हे मूर्ख ! देव किसी मंदिर में नहीं है न देव किसी पाषाण लेप या चित्र में हैं, जिनेन्द्रदेव परमात्मा शरीररूपी देवालय में हैं, उस देव को समभाव से पहचान या उसका साक्षात्कार कर ।

देवालय में देव के देखने से तो शुभ राग होता है, परन्तु देहरूपी देवालय में देखने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है । शुभ राग से चैतन्यमूर्ति आत्मा दिखाई नहीं देता ये चैतन्यमूर्ति का अवलोकन तो वीतरागी भाव से होता है, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा में राग का अभाव है । निज आत्मप्रभु को देखने के लिये समभाव अर्थात् वीतरागता चाहिये ।

हे जीव ! देव कहीं मंदिर में, पाषाण की मूर्ति में अथवा किसी शिल्प में नहीं है। जिनदेव तो देह रूपी देवालय में बिराजमान हैं । आत्मा ही स्वयं वीतराग स्वभावी ईश्वर होने से जिनेन्द्र है । बेहद शांत, निराकुल सुख स्वरूप हैं । यदि स्वभाव में जिनेन्द्रपना न हो तो पर्याय में जिनेन्द्रपना कहाँ से आयेगा ? इसलिए निश्चित होता है कि आत्मा स्वयं स्वभाव से जिनेन्द्र है । जिन और जिनेन्द्र में कुछ अन्तर नहीं ।

समभाव अर्थात् पर की ओर का झुकाव-लक्ष छोड़कर स्व की ओर का लक्ष करने से निजात्मा का श्रद्धान-ज्ञान होता है । बनवासी श्री योगिन्दु देव ने यह रहस्य बताया है । इस रहस्य को धारण करने वाला प्रत्येक जीव है । तथापि यह जीव ऐसा पामर हो गया है कि मेरा कार्य, घर, स्त्री पुत्रादि के बिना नहीं चलता ऐसा मानता है ।

*ज्ञानी ही शरीर मंदिर में परमात्मा को देखता है*

**तित्थइ देउलि देउ जिणु सव्वु वि कोई भणेइ ।**

**देहा-देउलि जो मुणइ सो बुहु को वि हवेई ॥४५॥**

**सारा जगत यह कहे श्री जिनदेव देवल में रहें ।**

**पर विरल ज्ञानी जन कहें कि देह-देवल में रहें ॥४५॥**

**अर्थ :** सब कोई कहते हैं कि तीर्थ में या मंदिर में जिनदेव हैं, किन्तु ज्ञानी देहरूपी मंदिर में जिनदेव को देखता है या मानता है ।

ज्ञानी देह-देवालय में आत्मा को देखता है । अज्ञानी जीव तो भगवान की मूर्ति में ही आत्मा मान लेता है । स्थापना निक्षेप में भाव भगवान मान लेना भ्रम ही है । अज्ञानी वहाँ आत्मा को देखने जाता है परन्तु आत्मा मिलता नहीं ।

जब तक अपने स्वरूप में पूर्ण तथा स्थिर न हो तब तक भगवान के दर्शन का भाव आता ही है; न आवे ऐसा नहीं । तथापि वहाँ आत्मा का दर्शन नहीं होता । जो कोई देह-देवालय में भगवान आत्मा का दर्शन करता है, वह ज्ञानी है । जिन मंदिर में बिराजमान भगवान मेरे उपकारी हैं; इसलिए पूजने लायक हैं ऐसा माने इसमें दोष नहीं । ज्ञानी ऐसा मान कर ही भगवान को भजता है ।

एक व्यक्ति ने किसी को सौ रूपये उधार दिये । दोनों की मृत्यु के पश्चात उधार देने वाले व्यक्ति के लड़के ने उधार लेने वाले के लड़के को कहा कि मेरे पिताजी ने आपके पिताजी को दस हजार रूपये दिये थे । वह वापस दीजिये । लेने वाले के लड़के ने कहा “मैं खाते में देखूंगा ”। खाते में देखा तो सौ रूपये ही लिखे थे । उसने सोचा कि यदि सौ रूपये देना मंजूर करूँगा तो ये अधिक चिपकेगा । इसलिए उसने रूपये ही उड़ा दिये “मेरे पिताजी ने रूपये लिये ही नहीं”। देने वाले ने दो शून्य और बढ़ादिये थे और इसने सब ही उड़ा दिये ।

ऐसे जिनेन्द्र की मूर्ति सर्वथा परिग्रह रहित होती है । उस पर आंगी वगैरह नहीं होती, तो भी श्वेताम्बरों ने आंगी आदि चढ़ा दिये और स्थानकवासियों ने मूर्ति ही उड़ा दी । इस तरह दोनों की मान्यता असत्य है ।

सम्यग्दृष्टि सदा ही जानता है और मानता है कि जब मैं अन्तरदृष्टि करता हूँ तब मुझे मेरा आत्मा ही परमात्मा-सम जानने में आता है और यह आत्मदर्शनही निर्वाण का कारण है ।

जैसे सिंह की मूर्ति को देखने से ऐसा माने की ये मुझे खा जावेगी, तो वह मूर्ख है । वैसे ही भगवान की मूर्ति मुझे संसार समुद्र से तार देगी ऐसा माने वह मूर्ख है । ज्ञानी जानता है कि सिंह की मूर्ति भय दिखाने मात्र के लिए है, वह सिंह का ज्ञान कराने में निमित्त मात्र है, साक्षात् सिंह नहीं । इसी तरह भगवान की मूर्ति भगवान कैसे थे उसका ज्ञान कराने में निमित्त मात्र है, इसलिए मूर्ति को मूर्ति माननी; परमात्मा नहीं

मानना; यह यथार्थ ज्ञान है। वास्तव में अपने अन्दर बिराजता है, वह परमात्मा है। व्यवहार वास्तव में असत्यार्थ है; वह वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा नहीं बतलाता। उदाहरण-नारकी, मनुष्य, पशु, देव आदि आत्मा हैं ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, परन्तु निश्चय से वे आत्मा नहीं, उन शरीरों में रहने वाला ज्ञानमय तत्त्व वह आत्मा है। इसलिए ज्ञानी अपने को मनुष्यादि पर्याय रूप नहीं मानता, साक्षात् भगवान् आत्मा हूँ ऐसा मानता है।

सर्वज्ञ परमात्मा व्यवहार को असत्यार्थ और निश्चय को सत्यार्थ कहते हैं। सारी जीव निश्चय के ज्ञान से बहुत दूर हैं। अधिकतर लोग तो व्यवहार और निमित्त में ही चिपके हुए हैं। व्यवहार से निश्चय पायेंगे अर्थात् असत्य से सत्य पायेंगे ऐसा मानकर चिपके हैं। भूतार्थ भगवान् आत्मा अखंडानन्द प्रभू को देखने वाले ज्ञानी बहुत ही थोड़े हैं। निश्चय को समझे बिना व्यवहार को मानने वाले कभी भी सत्यार्थ को पा नहीं सकते।

*धर्म रसायन को पीने से अमर होता है*

**जइ जर-मरण-करालियउ तो जिय धम्म करेहि ।  
धम्म-रसायणु पियहि तुहुँ जिम अजरामर होहि ॥४६॥**

यदि जरा भी भय है तुझे इस जरा एवं मरण से ।  
तो धर्मरस का पान कर हो जाय अजरा-अमर तू ॥४६॥

**अर्थ :** हे जीव ! यदि तू जरा व मरण के दुःखों से भयभीत है तो धर्म कर, तू धर्म रसायन को पी जिससे तू अजर-अमर हो जावे ।

धर्म रूपी अमृत पीने से अमर होते हैं ।

हे जीव ! यदि तू संयोगों के दुःख तथा चौरासी के अवतार के दुःखों से भयभीत है तो धर्म कर ! धर्म अर्थात् क्या ? भगवान् आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता को धर्म कहा है। तू इस धर्मरूपी रसायन अर्थात् उत्तम औषधि का सेवन कर; जिससे तू अजर अमर हो सके ।

वृद्धावस्था आते ही शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है। इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं। शरीर का रोग मिटाने के लिए जैसे औषधि होती है, वैसे ही जन्म-जरा-मरण रूपी रोग को मिटाने के लिए धर्म औषधि है। आत्मा आनन्द स्वरूप है इसका अनुसरण

कर । आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता रूप अनुभव जन्म-जरा-मरण के नाश का उपाय अर्थात् औषधि है, ऐसा सर्वज्ञ वीतराग देव का उपदेश है । धर्म रसायन है; जो रत्नत्रय स्वरूप है । देह की क्रिया वह धर्म नहीं; इसी प्रकार दया, दान, भक्ति आदि शुभभाव भी धर्म नहीं ।

आ हा हा ! आत्मा अनंतगुणों का पवित्र धाम है । जो कुछ यह विकार दिखता है वह धर्म नहीं । शुद्ध आनंदकंद आत्मा की तल्लीनता यह जन्मादि रोगों के नाश का कारण है और विकार भाव की तल्लीनता जन्मादि रोगों को उत्पन्न करने का कारण है । आ हा हा ! यह देह, कर्म तो जड़ मिट्टी, पुण्य-पाप के भाव हैं वे विकार हैं, दुःख हैं दुःख रूप हैं, दोष हैं । इनसे रहित आत्मा का स्वसंवेदन यह एक ही जन्म-मरण को टालने का उपाय है । यही मोक्ष का उपाय है । आत्मसिद्धि में कहा है :

**आत्मा भ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान ।  
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान ॥**

राग से, पुण्य से शरीर की क्रिया से धर्म मानना बड़ा भ्रम है । भाई ! तेरा पुरुषार्थ या तो विकार में चले या स्वभाव में चले । अर्थात् अपनी सत्ता में रहकर या तो विकार करे या फिर आत्मानुभव करके मुक्ति प्राप्त करे । पर मैं तेरा पुरुषार्थ किंचित् मात्र भी काम नहीं कर सकता । अज्ञानी का रोग बताने वाले ज्ञानी हैं और उनकी आज्ञा है कि तत्त्व विचार तथा आत्मध्यान, यह रोग मिटाने की औषधि है ।

आत्मा के पर-सम्भुख उपयोग को बदलकर अपने अन्तर स्वभाव में जोड़ना यह योगसार है । यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य कहलाता है । यही धर्म रसायन है कि जिसे पीने से परमानंद का लाभ होता है । आत्मा में होने वाले शुभ-अशुभ-भाव धर्म नहीं परन्तु इनसे हटकर अन्दर में शुद्ध भाव प्रगट करना, उसे भगवान ने धर्म कहा है ।

जैसे विद्वान लोग समय पाकर शत्रु को पहचान कर नष्ट कर डालते हैं । वैसे ही हे ! आत्मन् ! तुझे अवसर मिला है । अभी मनुष्य देह में आत्मा का भान करके विकार रूपी शत्रु को नष्ट कर ।

*बाह्य क्रिया में धर्म नहीं है*

**धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइँ ।  
धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था-लुचियइँ ॥४७॥**

पोथी पढ़े से धर्म ना ना धर्म मठ के वास से ।  
ना धर्म मस्तक लुँच से ना धर्म पीछी ग्रहण से ॥४७॥

**अर्थ :** शास्त्रों के पढ़ने मात्र से धर्म नहीं हो जाता, पुस्तक व पीछी रखने मात्र से धर्म नहीं होता, किसी मठ में रहने से धर्म नहीं होता, केशलोंच करने से भी धर्म नहीं होता ।

अरे ! बड़े-बड़े शास्त्र पढ़कर पंडित हो जाय इससे कहीं धर्म हो गया, ऐसा नहीं है । इसी प्रकार नग्नपने में, मोरपिच्छि और कमंडलु रखने से धर्म नहीं होता है । योगीन्दु देव स्वयं मुनि थे, नग्न दिगम्बर बनवासी आचार्य थे तथा आत्मध्यान में मग्न रहते थे । वे कहते हैं कि कोई एकान्त वन में या मठ में रहे, उससे क्या हुआ ? वन में तो बहुत से पशु-पक्षी भी रहते हैं, जिन्हें धर्म का भान नहीं । वे भले वन में रहें या मठ में, दोनों एक ही हैं । ज्ञानानंद शुद्ध आत्मा का भान करके फिर भले ही वन में रहे या घर में परन्तु वह तो आत्मा में ही रहता है ।

केशलोंच से भी धर्म नहीं । आ हा हा ! भाई ! यह तो जड़ की-बाहर की क्रिया है, यह आत्मा की क्रिया नहीं । इसमें भी यदि मंदराग करके सहनशीलता करे तो पुण्य भाव है, परन्तु आत्म भान बिना सिर मुंडाये उसमें कुछ भी धर्म नहीं ।

जिससे जन्म-जरा-मरण का दुःख मिटे, कर्मों का नाश हो और स्वाभाविक दशा प्रगट हो, वही धर्म है । इसलिये तो कहा है कि जो निज शुद्धात्मा का श्रद्धान-ज्ञान तथा एकाग्रता करेगा उसे शुद्धोपयोग की प्राप्ति होगी । आ हा हा ! भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है जगत का साक्षी, जगत रूप दृश्य को देखने वाला, ज्ञेयों को जानने वाला है । ऐसे भगवान आत्मा को अनुभव में न लेकर बाह्य क्रिया को-मात्र व्यवहार को जो करता है और मानता है कि धर्म का मैं साधन करता हूँ, वह धर्म का साधन नहीं ।

जैसे खेत साफ करे परन्तु बीज बोये नहीं तो अंकुर कहां से उगे ? क्या बीज बिना माटी के ढेर में से अंकुर फूटेगा ? वैसे ही भगवान आत्मा का अनुभव किये बिना मोक्ष का अंकुर उगने वाला नहीं, भले ही क्रिया कर-करके मर जाय, दया, दान, भक्ति करे, लाखों, करोड़ों रुपयों का दान दे, अनेक मंदिर बनवाये तो भी उससे धर्म नहीं होता । शुभभाव से पुण्य बंधता है । परमानंद मूर्ति शुद्धात्मा का अनुभव न हो और मात्र शास्त्र का पाठी हो, महा विद्वान वक्ता हो और धर्मात्मापने का अभिमान करता रहे, ये तो सब मिथ्या है । धर्म तो आत्मा का निर्विकल्प अनुभव ही है ।

पुण्य-पाप भाव से रहित शुद्धात्मा की भावना, वही मुनि तथा श्रावक धर्म है। अशुभभाव से बचने के लिये शुभ भाव अवश्य आते हैं; परन्तु धर्म बिना-अंक बिना के शून्य जैसे हैं। दया, दान के विकल्प तो विकार हैं, ये धर्म नहीं। शुद्धज्ञान तथा निराकुल आनन्द का अनुभव यह धर्म है। दया दान के विकल्प तो विकार हैं, ये धर्म नहीं। जैसे चावल बिना का छिलका हो वैसे ही आत्मा के शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान अनुभव बिना पंच महाव्रत के परिणाम आदि सब व्यर्थ हैं निःसार हैं। ये भाव तो पुण्य बंध कराके संसार को बढ़ाते हैं। जितनी वीतरागता है उतना धर्म है। इसलिए हे आत्मन् ! तू अंहकार मतकर कि मैं बड़ा पैसे वाला हूँ। गुणवान हूँ, मैं समर्थवान हूँ, मैं मुनि हूँ। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभावी है, उसका निरंतर अनुभव कर। भगवान आत्मा ज्ञानानंदमय है, इसे बाहर में किसका अभिमान।

*राग-द्वेष त्याग कर आत्मस्थ होना धर्म है*

**राय-रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि बसेइ ।**

**सो धम्मु वि जिण-उत्तियउ जो पंचम गइ णेइ ॥४८॥**

**परिहार कर रुष-राग आतम में वसे जो आतमा ।**

**बस पायगा पंचमगति वह आतमा धर्मात्तमा ॥४८॥**

**अर्थ :** राग-द्वेष दोनों को छोड़कर वीतराग होकर जो अपने भीतर आत्मा में वास करता है, आत्मा में विश्राम करता है, उसी को जिनेन्द्र ने धर्म कहा है, यही धर्म पंचमगति मोक्ष में ले जाता है।

बहुत ही अल्प शब्दों में कहते हैं कि शुभाशुभ भाव रागद्वेषमय होने से बंध के कारण हैं। उन्हें छोड़कर त्रिकाली आत्मा में विश्राम कर अर्थात् शुभाशुभ भाव में बसना वह आत्मा में बसना नहीं। आ हा हा ! भगवान चैतन्यधाम, पूर्णानंद का नाथ अन्दर में शाश्वत बिराजमान है, उसमें बस, विश्राम कर, लीन हो, यह योगसार है। इसे वीतराग देव ने मुक्ति का उपाय या धर्म कहा है।

सर्वज्ञदेव त्रिलोकीनाथ वीतराग परमात्मा की वाणी में यह आया है कि भगवान आत्मा में जितना बसेगा उतना धर्म और जितना पुण्य-पाप भाव में जावेगा इतना अधर्म। बहुत कठिन बात है भाई ! कर्म, शरीर, वाणी से रहित भगवान आत्मा है, क्योंकि कर्मादि अजीव हैं। इसी तरह पुण्य-पाप भाव आस्त्र-बंध के कारण हैं, इसलिए वे आत्मा नहीं। आत्मा तो शुद्ध वीतरागी विज्ञानघन तत्व है। उसमें जितना लीन होगा उतना शुद्धभाव



प्रगट होगा, यही धर्म है। वह धर्म पंचमगति का कारण है। बीच में शुभ विकल्प आते हैं, पर उनमें मोक्ष पहुंचाने की सामर्थ्य नहीं, क्योंकि वे बन्ध के कारण हैं।

शुभभाव तो आवेंगे। जब पाप भाव नहीं होगा, शुद्धस्वरूप में स्थिरता नहीं होगी तो बीच में पुण्य भाव तो आयेगें। परन्तु ये आत्मा को शांति के कारण हैं ऐसा नहीं, क्योंकि ये स्वयं अशांत रूप हैं। अशुभ भाव तीव्र अशांति है, शुभभाव मंद अशांति है। किन्तु हैं तो दोनों अशांति रूप, इनमें जरा भी शांति नहीं। भगवान आत्मा अनादि अनंत चैतन्य ज्योति, अकृत्रिम, अविनाशी प्रभु है। ऐसे चैतन्य स्वभाव में परमानंद और शुद्धता भरी है। इसलिए पुण्य-पाप से हटकर स्वरूप में बसना ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है। यह निर्विकल्प शुद्ध पर्याय है। जो आत्मा में बसता है उसे आत्मा की पूर्ण दशा प्रकट होती है।

*आशा-तृष्णा ही संसार भ्रमण का कारण है*

**आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसा हु गलेइ ।**

**मोहु फुरइ णवि अप्प-हिउ इम संसार भमेइ ॥४६॥**

**आयु गले मन ना गले ना गले आशा जीव की ।**

**मोहस्फुरे हित नास्फुरे यह दुर्गति इस जीव की ॥४६॥**

**अर्थ :** आयु गलती जाती है, परन्तु मन नहीं गलता है और न आशा तृष्णा ही गलती है, मोहभाव फैलता रहता है किन्तु अपने आत्मा का हित करने का भाव नहीं होता, इस तरह यह जीव संसार में भ्रमण किया करता है।

अरे आत्मा ! आयु तो चली जा रही है। भाई ! जो कुछ सौ या पचास वर्ष आयु बांधी थी वह तो गलती जा रही है। आयु गलने पर भी तेरी तृष्णा गलती नहीं। आ हा हा ! क्योंकि जहां पर की भावना है, वहां तृष्णा गले ही किस तरह ? आत्मा के आनन्द की श्रद्धा-ज्ञान बिना तृष्णा घटती नहीं। अज्ञानी ज्यों-ज्यों बड़ा होता है त्यों त्यों अन्दर तृष्णा बढ़ती ही जाती है। आशा के छोर लम्बाते ही जाते हैं। आ हा हा ! आशा के बीज बोये हों तो फिर बड़ा वृक्ष होगा ही। आशा के प्रमाण के कुछ हो सकता नहीं इसलिये फांफां मारता है। भगवान आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान और भान बिना पर का यह करना, वह करना ऐसी भावना से तृष्णा बढ़ती ही जाती है।

आ हा हा ! कुत्ते की तरह अज्ञानी जहां तहां बाहर में भटकता है। जैसे कुत्ता घर के दरवाजे की जाली में रोटी के टुकड़े के लिए सिर मारता है वैसे ही अज्ञानी

तृष्णा के वशीभूत होकर मान-बड़ाई और उच्चता के लिए दुनियां के पास भिखारी की भांति याचना करता है; वह भिखारी है-रंक है। राजा, महाराजा भी भिखारी हैं, भले ही वे करोड़ करोड़ ग्राम के अधिपति हों। वे भिखारियों में भी बड़े भिखारी हैं। आयु गलती है तो भी तृष्णा गलती नहीं, उल्टी बढ़ती ही जाती है; मोहभाव फैलता ही जाता है परन्तु आत्महित की भावना स्फुरति ही नहीं होती। आ हा हा ! ये मान-सम्मान बड़ेपन की चाह में तेरा अमूल्य समय चला जा रहा है। भाई ! ये आत्महित का अवसर है अतः चेत।

पुत्र अच्छे हों और आमदनी विशेष हो तो अज्ञानी मानता है कि मैं बढ़ा। परन्तु क्या बढ़ा। श्रीमद् रायचन्दजी कहते हैं :

**लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी पर बढ़ गया क्या बोलिये ।  
परिवार और कुटुम्ब है क्या वृद्धि कुछ नहीं मानिये ॥  
संसार का बढ़ना अरे ! नर देह की यह हार है ।  
नहीं एक क्षण तुझको अरे ! इसका विवेक विचार है ॥**

बाह्य साधनों से अपनी वृद्धि मानना, यह मिथ्याभाव संसार परिभ्रमण के कारणों को बढ़ाता है। आ हा हा ! ऐसा मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभता से मिला है। उसमें जन्म, जरा, मरण को टालने का उपाय करना चाहिये। अहो ! भव को मेटने के भव में (मनुष्य जन्म में) अज्ञानी ने भव बढ़ाने का काम किया, परन्तु उसे आत्म हित का उपाय सूझा नहीं। आ हा हा ! भगवान आत्मा के आनन्द रूपी अमृत में डूबता नहीं अर्थात् अन्दर समभाव में आता नहीं और जहर को पीकर जीवन चाहता है। इसलिए कहते हैं कि मिथ्याभाव छोड़ और भगवान आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान तथा अनुभव कर। यही तेरे कल्याण का पथ है; अन्य नहीं।

*आत्म प्रेमी ही निर्वाण का पात्र है*

**जेहउ मणु विसयहँ रमइ तिसु जइ अप्प मुणेइ ।  
जोइउ भणइ हो जोइयहु लहु णिव्वाणु लहेइ ॥५०॥**

**ज्यों मन रमें विषयनि में यदि आतमा में त्यो रमे ।  
योगी कहें हे योगिजन ! शीघ्र जावे मोक्ष में ॥५०॥**

**अर्थ :** योगी महात्मा कहते हैं, हे योगीजनों ! मन जैसा विषयों में रमता है, यदि वैसा मन आत्मा में रमण करे तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करले।

हे जीव ! तेरा मन जैसा पांच इन्द्रियों के विषयों में रमता है, उनकी ही रुचि करता है, अर्थात् पुण्य के फल में जैसा प्रेम करता है, वैसा यदि आत्मा में करे तो शीघ्र मुक्ति को प्राप्त हो ।

विषय में मन रमता है ऐसा कहा इसमें विषय शब्द से मात्र स्त्री सेवन ही नहीं, परन्तु आत्मा के सिवाय सभी स्पर्श-रस-गंध-वर्णादि के विषयों का इसमें समावेश हो जाता है । इतना ही नहीं शास्त्र सुनने का प्रेम राग ही है ।

ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म तुझे देह, स्त्री, कुटुम्ब या देव, शास्त्र, गुरु आदि पर पदार्थों से प्रेम नहीं करवाते । तू ही अपने विपरीत पुरुषार्थ अर्थात् मिथ्या मान्यता से उनसे प्रेम करता है । इसलिए अब सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा गुलांट खाकर अपनी आत्मा से प्रेम कर; जिससे शीघ्र ही तुझे मुक्ति की प्राप्ति होवेगी ।

तुलसीदास जी भी कहते हैं :

**जैसी प्रीति हराम से, तैसी हरि से होय ।  
चला जाय बैकुंठ में, पल्ला न पकड़े कोय ॥**

भाई ! खेद है कि तुझे तेरे शांतरस में प्रेम नहीं । श्री समयासार की गाथा २०६ में कहा है 'हे आत्मन् ! आत्मा में रति कर । तेरा प्रेम अभी पर ने लूट लिया है । पूरी जिन्दगी आत्मा को खोकर भी पर का प्रेम छोड़ता नहीं । अज्ञानी बाहर की प्रीति में भगवान आत्मा की प्रीति खो बैठा है । भले ही त्यागी होय तो भी जब तक इसे बाहर के दया-दानादि में प्रेम है तब तक वह योगी नहीं, परन्तु भोगी है ।

भगवान आत्मा ज्ञान के नूर का पूर प्रभु है । इसके क्षणभर के प्रेम से तेरे जन्म मरण का नाश हो जायेगा । एक निजात्म तत्त्व को जानने-देखने से तेरी पर्याय में समस्त तत्त्व जानने में आ जावेंगे । सारी दुनियां दिखेगी मगर उसमें इसे प्रेम नहीं होता । आत्म स्वभाव के प्रेम में ये साधन मुझे अनुकूल हैं और ये प्रतिकूल हैं, ऐसा रहता ही नहीं ।

धर्मी-सम्यग्दृष्टि से लेकर सर्व संत, जीवों को कहते हैं कि अरे जीव ! मन को गाढ़ प्रेम भाव से अपने आत्मा में रमाना चाहिये । ऐसा होगा तो वीतरागता के प्रकाश से शीघ्र निर्वाण लाभ होगा ।

हिरण की नाभि में कस्तूरी भरी है; परन्तु उसे कस्तूरी की खबर नहीं, बाहर ही भटकता है । वैसे ही यह आत्मा आनंद का महासागर है, परन्तु स्वयं को उसका भान

नहीं। इस कारण बाहर में आनंद प्राप्त करने की चेष्टा किया करता है। इसलिए तो कहते हैं कि एक बार गुलांट खा। पर का प्रेम छोड़कर स्व से प्रेम कर।

पांच इन्द्रियों के विषयों का उदाहरण देते हैं कि हाथी स्पर्शन्द्रिय के विषय में, मछली रसनेन्द्रिय के विषय में, भौंरा घ्राणेन्द्रिय के विषय में, पतंगा चक्षुरिन्द्रिय के विषय में और हिरण कर्णेन्द्रिय के विषय में लीन है, जैसे ये जीव एक एक इन्द्रिय के विषय में लीन हैं वैसे तू एक मात्र आत्मा में लीन हो, तो समकित होगा और भव भ्रमण टलेगा।

आत्मा के रस में ऐसा रसिक हो जाना चाहिये कि मान-अपमान, जीवन-मरण कांच-कंचन सब में समभाव हो जाये। धर्मी को एक नित्यानंद भगवान आत्मा दृष्टि में आते ही अपने सिवाय सब वस्तुयें नाशवान ही दिखती है और अपने आप को “मैं अविनाशी हूँ” ऐसा मानता है।

जिसे पुण्य-पाप के बंधन रहित अपने आत्मा में योग अर्थात् जुड़ान हुआ है; उसे अन्य आत्मायें भी पुण्य-पाप के बंधन से रहित ही दिखती हैं। जैसा अपने आत्मा को निर्विकारी देखता है धर्मी वैसे ही अन्य आत्माओं को भी निर्विकारी देखता है। पुण्य-पाप भावों को विकार रूप में देखता है। देह को जड़ पुद्गल जानता है और सभी आत्माओं को आनंदमय देखता है। तीन लोक की सम्पदा भी उसे जीर्ण तृण समान दिखती है।

मोक्ष के अर्थी को उचित है कि वह आत्मा के सम्बन्ध में ही प्रश्न करे। आत्मा कैसा है? आत्मा कैसे प्राप्त हो? आत्मा क्या है? आत्मा प्राप्त हुए बाद कैसी दशा होती है? आत्मार्थी को ऐसे प्रश्न ही करने चाहिए। सहज ही उसे ऐसे ही प्रश्न उठते हैं।

“अनुभव प्रकाश” में समझाने के लिए एक उदाहरण आया है कि आत्मार्थी को गुरु ने मछली के पास ज्ञान लेने भेजा तो मछली कहती है कि पहले मुझे पानी ला दो, मुझे बहुत प्यास लगी है। अरे! पानी तो तेरे पास ही भरा है, तू पानी में ही है। मछली कहती है ज्ञान आप में ही भरा है, तुम स्वयं ज्ञान स्वरूप हो।

अनादि से आत्मा पुण्य-पाप, राग-द्वेष, देहादि की क्रिया को ही देखता है; परन्तु चिदानंद जल से भरा है उसे अज्ञानी देखता नहीं। आत्मा की ओर नजर करने का समय उसे मिलता ही नहीं। इसलिए कहते हैं कि मोक्षेच्छु को मात्र आत्मा की अभिलाषा रखना, आत्मा की ही लगन लगानी चाहिए, अन्य की अभिलाषा नहीं रखना चाहिये।

शरीर को नरक-घर जानो

जेहउ जज्जरु णरय-धरु तेहउ बुज्झि शरीरु ।  
अप्पा भावहि णिम्मलउ लहु पावहि भवतीरु ॥५१॥

'जर्जरित है नरकसम यह देह'-ऐसा जानकर ।

यदि करो आत्म भावना तो शीघ्र ही भव पार हो ॥५१॥

अर्थ : जैसे नरक का वास आपत्तियों से जर्जरित है-पूर्ण है, तैसे ही शरीर के वास को समझ, निर्मल आत्मा की भावना कर, जिससे शीघ्र ही संसार से पार हो ।

भगवान अमृतानंद निजात्मा से प्रेम होने पर यह शरीर तुझे नरक का घर जैसा दिखेगा । नव द्वारों से मल-मूत्र आदि मलीनता झरती है । ऐसा यह मलिन शरीर, हाड़, मांस, रक्त, पीप, चमड़ा आदि का घर है । शरीर के ऊपर से जरा सी चमड़ी हटाकर देखे तो उसे खबर पड़ जाय, उसे जरा भी देखने की इच्छा नहीं रहेगी ।

मांस तथा शराब सेवन करने वाले तथा विषय लंपटी राजादिक ये सब मर कर नरक में जाते हैं । यहां जिनकी हजूर जी हजूर होती है उन तक को नरक में मार खाने के लिए मेहमान बनकर जाना पड़ता है । नरक वास में क्षणमात्र भी साता नहीं। नरक में अत्यन्त ग्लानिकारक वस्तुयें ही भरी हैं । जिस शरीर पर जीव को अतिशय प्रेम है उसी शरीर के रक्त, पीप, हड्डी, मांस आदि को भिन्न भिन्न करके रखें तो उसे देखने के लिये तू एक क्षण भी खड़ा नहीं रहेगा ।

बालपना पराधीनता में अत्यन्त कष्ट के साथ बीता है । जवानी में विषय तृष्णा को मिटाने के लिए धर्म की कुछ भी परवाह न करके कमाने में लग जाता है और वृद्धावस्था में मानसिक और शारीरिक वेदना का पार नहीं रहता है । इस तरह दुर्लभ मनुष्य भव कष्ट पाते-पाते ही व्यतीत हो जाता है । इसमें यदि आत्म साधना करे तो पुनः ऐसा दुःखमय शरीर ही न मिले । परन्तु इस अज्ञानी को आत्मा की महिमा आती नहीं; पर की ही महिमा आती है; इससे इसका प्रेम पर में ही लुट जाता है ।

स्वभाव के विरुद्ध भाव की रुचि-प्रेम यह तो मिथ्यात्व है । शुभभाव हों, यह कहीं मिथ्यात्व नहीं है । शुभभाव का प्रेम तथा उसमें लाभ बुद्धि, वह मिथ्यात्व है । जब व्रत-भक्ति आदि शुभभाव से भी धर्म नहीं होता तो शरीर की क्रिया से तो धर्म कहां से होगा ?

हे भाई ! यह तेरा शरीर रूपी घर, दुष्कर्म रूपी शत्रुओं का बनाया हुआ कारागृह है। कर्मों ने इन्द्रियों के बड़े पिंजरे में तुझे बंद कर दिया है और आयु कर्म से तू जकड़ा हुआ है। ऐसे शरीर को ही हे जीव ! तू कारागृह जान। उससे व्यर्थ में प्रीति करके तू दुःखी मत हो इससे छुटने का प्रयत्न कर।

आत्मा का कल्याण करना हो तो चैतन्य स्वरूपी आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करके शरीरादि का प्रेम छोड़। साठ वर्ष हो गये अभी तक किसी दिन भी शरीर पर सोंठ भी नहीं लगाई; ऐसा शरीर का जिसे अभिमान है उसे आत्मा का प्रेम नहीं। उसका आत्मकल्याण नहीं होगा। शरीर का प्रेम छोड़ने के लिए शरीर को नरक की उपमा दी है।

*जगत प्रपंचों में उलझा प्राणी आत्मा को नहीं पहचानता।*

**धंधड़ पडियउ सयल जगि णवि अप्पा हु मुणंति ।  
तहिं कारणि ए जीव फुडुणहु णिव्वाणु लहंति ॥५२॥**

**धंधे पड़ा सारा जगत निज आत्मा जाने नहीं।**

**बस इसलिए ही जीव यह निर्वाण को पाता नहीं ॥५२॥**

**अर्थ :** सब जग के प्राणी अपने अपने धंधों में, लोक व्यवहार में फंसे हुये हैं, तल्लीन हैं इसलिए निश्चय से आत्मा को नहीं मानते हैं, यही कारण है जिससे ये जीव निर्वाण को नहीं पाते-यह बात स्पष्ट है।

कोई धंधा-व्यापार में, कोई खाने में, पीने में, मान प्राप्त करने में, इज्जत सम्हालने में, ऐसे अनेक प्रकार के सांसारिक कार्यों में जीव लगे हुए हैं। अरे रें ! त्यागी नाम धराने वाले भी, पुण्य, दया, दान, व्रत करने में मंदिर बनवाने आदि कार्यों में लग रहे हैं। इस तरह कोई अशुभ कार्यों में तो कोई शुभ में फंस गये हैं। चौबीस घंटों में आत्मा कौन है, कैसा है, उसे देखने को एक घड़ी की भी फुरसत नहीं मिलती। शुभाशुभ राग के कार्यों में भगवान को खो बैठा। आत्म स्वभाव से जुड़ना वह 'योग' है बाकी सब 'अयोग' है।

जो पुण्य-पाप के राग में फंसा है, उसे आत्मा क्या चीज है, उसका भान भी नहीं। सेठ जेल में ऊंट के ऊपर बैठा-बैठा कहता है "मैं ऊंट पर बैठा हूँ" ऊंट पर भी है पर है तो जेल में ही ना।

इसी प्रकार त्यागी कहे कि हम धर्म करते हैं, परन्तु जड़ शरीर की क्रिया में ही वह धर्म मानता है तो भले त्यागी कहलाता हो, तो भी है तो संसार में ही। वह आत्मा को पहचानता नहीं।

निर्विकल्प निजात्म तत्त्व में सुनने-सुनाने के विकल्प का अवकाश नहीं। व्यवहार राग में सब संसार ही है। शुभ अशुभ दोनों का प्रेम तो संसार में रुलाने का ही व्यवसाय है, धर्म नहीं। इसलिए तो कहा है कि “सकल जगत धंधे में फंसा है”।

ज्ञान स्वरूप में एकाग्र होना वह प्रभावना है। परन्तु यह जीव शुभराग में प्रभावना मान बैठा है। अर्थात् राग के कार्य स्वयं करे और दूसरो से कराये, करते हुये का अनुमोदन करे; इतने में मान बैठा की मुझे धर्म हो गया। परन्तु भाई ! मंदिर बनवाना, दया, दान, पूजा, भक्ति आदि। राग के कार्यों से तो धर्म होता नहीं। अपने आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करने से ही धर्म होता है।

पं. टोडरमलजी ने भी कहा है कि इस जीव को वास्तविक धर्म करने का जब अवसर मिला, समय आया तब व्यवहार धर्म करके उसी में अटक जाता है, संतोष मान लेता है, आगे बढ़ता ही नहीं।

*आत्मज्ञान बिना शास्त्रपाठ निष्फल है*

**सत्थ पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति ।**

**तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ॥५३॥**

**शास्त्र पढ़ता जीवजड़ पर आत्मा जाने नहीं।**

**बस इसलिए ही जीव यह निर्वाण को पाता नहीं ॥५३॥**

अर्थ : शास्त्रों को पढ़ते हुए जो आत्मा को नहीं पहचानता है वे भी अज्ञानी हैं, यही कारण है कि ऐसे शास्त्र पाठी जीव भी निर्वाण को नहीं पाते, यह बात स्पष्ट है।

शास्त्र पठन पर-सन्मुखता का ज्ञान है, राग है, विकल्प है, जड़ है। शास्त्रों में भी भगवान ने ऐसा ही कहा है कि चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चरित्र है। अतिन्द्रिय आनंद है। शास्त्र वांचन वह धर्म नहीं, फिर भी शास्त्र पाठी व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, वैद्यक आदि अनेक विषयों को जानता है। परन्तु शुद्ध निश्चय निजात्म स्वरूप की ओर लक्ष नहीं देता। स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ नहीं करता। इस कारण शास्त्र पढ़ कर भी अध्यात्म ज्ञान से शून्य रहता है। जो चैतन्य धातु निजात्मा को नहीं जानता उसका शास्त्र पठन निष्फल है।

अरे भाई ! आत्मभाव बिना शास्त्र-पठन किस काम का । अन्य को पढ़ाने के शुभ राग से अपने को लाभ नहीं होगा । शुभराग और पर लक्षी ज्ञान से चैतन्य को लाभ नहीं होगा । इसलिए आत्मा के लक्ष बिना शास्त्र पठन भी व्यर्थ है । अन्तरमुख होकर भगवान आत्मा का ज्ञान करे तो चैतन्य है ।

जिनवाणी पढ़ने का फल तो निश्चय सम्यग्दर्शन आदि प्राप्त करना है । इसलिए चारों अनुयोगों का अध्ययन करके शास्त्रीय विषय जानकर छह द्रव्य रूप जगत से मेरा आत्म तत्त्व पृथक है, यह सार निकालना है । निजात्मा को नहीं जाना उसने कुछ भी नहीं जाना । अभेद आत्मा की निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान और लीनता करना यही सच्ची चतुराई है, बाहर की होशियारी, यह होशियारी नहीं । आत्मा की प्रतीति और ज्ञान किया उसने सब कुछ किया । जिसने जीवन में आत्म ज्ञान-आनंद प्राप्त नहीं किये, उसकी जिन्दगी असफल है, निष्फल है । उसका शास्त्र ज्ञान भववर्धक है, मोक्षमार्ग से दूर ले जाता है । इसलिए भाई ! शास्त्र पठन में भी लक्ष तो आत्मा का ही रखना ।

अनेक जीव शास्त्र वांचकर, विद्या प्राप्त कर अभिमान करते हैं । परन्तु भाई ! तेरी यह विद्या हजारों मनुष्यों को समझाने की शक्ति युक्त है तथापि तेरे आत्मा को कुछ भी लाभकारी नहीं । ख्याति, पूजा आदि प्राप्त करने के लिये ही शास्त्र पढ़ता है, आत्मानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करता नहीं तो उसका जीवन निष्फल है । विपरीत प्रयोजन के कारण शास्त्र ज्ञान संसारवृद्धि का कारण बन जाता है । और स्वयं निर्वाण मार्ग से दूर होता जाता है । “मुझे सब कुछ आता है” ऐसे अभिमान से समकित के लाभ से वंचित रह जाता है ।

*इन्द्रिय व मन के निरोध से सहज ही आत्मानुभव*

**मणु-इंदिहि वि छोडियइ बहु पुच्छियइ ण कोइ ।  
रायहँ पसरु णिवारियइ सहज उपज्जइ सोइ ॥५४॥**

परतंत्रता मन-इन्द्रियों की जाय फिर क्या पूछना ।

रुक जाँय राग-द्वेष तो हो उदित आत्म भावना ॥५४॥

**अर्थ :** यदि बुद्धिमान मन व इन्द्रियों से छुटकारा पा जावे तब किसी से कुछ पूछने की जरूरत नहीं है । जब राग का फैलना दूर कर दिया जाता है तब यह आत्मज्ञान सहज ही पैदा है जाता है ।



संक्षेप में इतना ही कहना है कि अखंडानंद भगवान आत्मा को मन और इन्द्रियों से दूर करके अन्तर में आत्मा का अनुभव करना है। बहुत प्रश्न पूछने से कुछ होने वाला नहीं है। जो आत्मानुभव का काम करने का है वह पहले कर लेना चाहिये, यही कर्तव्य है। राग से दृष्टि हटाकर वीतराग दृष्टि करनी है।

भक्ति, पूजा, यात्रादि के भाव आवें; परन्तु पुण्य होगा धर्म नहीं। इसलिए तो यहाँ कहा है कि आत्मा की यात्रा कर। मन तथा इन्द्रियों को विकल्पों से हटाकर निर्विकल्प होना वही सच्ची यात्रा है। शुभराग और धर्म की दशा और दिशा में महान अन्तर है।

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकीनाथ ने जैसा आत्मा कहा है और देखा है वैसा ही तेरे आत्मा को तू देख और स्थिर हो, यही करने लायक कार्य है। आत्म स्वभाव में एकाग्रता होते ही राग घटता है और वीतराग भाव का विस्तार होता है। आनंद दशा प्रगट होती है और यही कर्तव्य है।

आत्मानुभव करने वाला-धर्म प्रगट करने वाला आत्मा स्वयं ही है। स्वयं अनुभव कर लेने वाला भी स्वयं ही है। उस आनंद में पर से कुछ लेना नहीं है। वह स्वयं ही अनाकुल शांति का पर्वत है। आत्मा की गाढ़ श्रद्धा और प्रीति होने पर आनंद के लिए पर से कुछ पूछने को रहता ही नहीं। स्वयं को स्वयं में लीन हो जाना है। सम्यग् श्रद्धा होते ही “पर में सुख या आनन्द है” ऐसी विपरीत मान्यता नष्ट हो जाती है। कुटुम्ब पैसा आदि में सुखवृद्धि नहीं रहती। अपने में प्रीति होते ही पर की प्रीति अपने आप छूट जाती है।

*पुद्गल व जगत के व्यवहार से आत्मा को भिन्न जानो*

**पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ अण्णु जि सहु ववहारु ।  
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ लहु पावहि भवपारु ॥५५॥**

जीव पुद्गल भिन्न हैं अर भिन्न सब व्यवहार है ।  
यदि तजे पुद्गल गहे आतम सहज ही भवपार है ॥५५॥

अर्थ : पुद्गल मूर्तिक का स्वभाव जीव से अन्य हैं, जीव का स्वभाव पुद्गलादि से न्यारा है, तथा और सब जगत का व्यवहार-प्रपंच भी अपने आत्मा से न्यारा है। पुद्गलादि को त्यागकर यदि अपने आत्मा को ग्रहण करे तो शीघ्र ही संसार से पार हो जावे।

संसार से पार होने का एक मात्र उपाय आत्म-ध्यान है। असद्भूत व्यवहार नय के विषय में जो कर्म, शरीरादि पुद्गल हैं वे सब आत्मा से भिन्न हैं। अशुद्ध निश्चय नय के विषय ऐसे पुण्य-पाप रागादि भाव वे भी आत्मा से भिन्न हैं। पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर निर्जरा, मोक्ष इन सभी पदार्थों से आत्म तत्त्व कथंचित् जुदा है। विकारी पर्याय से तो आत्मा भिन्न है ही परन्तु अविकारी पर्याय से भी आत्मा कथंचित् भिन्न है। गुण-गुणी का भेद भी व्यवहार है। भगवान् आत्मा ज्ञान-आनंद आदि अनन्त गुणों का अखंड पिंड है। ऐसा भेद करना यह भी व्यवहार है। संकल्प-विकल्प की समस्त क्रियायें भी आत्मवस्तु से भिन्न हैं। मन, वचन, काय ये तीनों योग तथा शुभ अशुभ उपयोग जितना भी व्यवहार है उसका मेरे स्वभाव में अभाव है।

सत्चिदानंद अखंड पिंड आत्मा मन, वचन, काय से तो पृथक है ही; उसे भिन्न मानना और अनुभवन करना यही सम्यग्दर्शन है। शुभाशुभ भावों की दिशा तो पर की तरफ है और शुद्ध भावों की दिशा स्व की तरफ है।

संत कहते हैं कि सर्व व्यवहार की रचना से निराला परम शुद्ध है। ऐसे आत्मा का ध्यान करना, वह मोक्षमार्ग है ऐसा तू जान। अशुभ से बचने के लिए शुभभाव आते हैं, शुभभावों को कोई उड़ा दे-नहीं माने वे जीव तत्त्व को समझते ही नहीं। शुभभाव हैं तो सही, उनकी भी मर्यादा है, किन्तु उनसे निर्मल आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता है।

“मैं सर्व व्यवहार से रहित शुद्ध, एक, प्रकाशमान, चैतन्य ज्योति हूँ, ज्ञायक एक प्रकाशमान परम निराकुल, परम वीतरागी अखंड द्रव्य हूँ” इस प्रकार मनन करके जो अपने आत्मा रूपी चैतन्य रत्न में एकाग्र होकर स्वरूप को ग्रहण करता है, उसे अपने में ही संतोष हो जाता है। शरीरादि का तो आत्मा स्वामी नहीं, परन्तु शुभभाव का भी स्वामी आत्मा नहीं। आत्मा तो एक सहजात्म शुद्ध चैतन्य पिंड है। अपने स्वामीपने में ही धर्मों को संतोष होता है, पर के स्वामीपने में असंतोष रहता है। अनंत गुणरूपी अखंड आत्मा का स्वामी होते ही धर्मों को संतोष हो जाता है, पर का स्वामीपना मानना यह तो मूढ़ता है।

मैं पाठशाला का स्वामी, मैंने इतनी पुस्तकें रचीं उनका स्वामी, मैं लक्ष्मी का स्वामी लक्ष्मीपति, ऐसी मान्यता दुःखदायक भ्रमणा है।

आत्मानुभवी ही संसार से मुक्त होता है

जो णवि मुण्णहिं जीव फुडु जे णवि जीउ मुणति ।  
ते जिण-णाहहँ उत्तिया णउ संसार मुंचंति ॥५६॥

ना जानते-पहिचानते निज आतमा गहराई से ।  
जिनवर कहें संसार सागर पार वे होते नहीं ॥५६॥

**अर्थ :** जो स्पष्टरूप से अपने आत्मा को नहीं जानते हैं व जो अपने आतमा का अनुभव नहीं करते हैं वे संसार से मुक्त नहीं होते, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ।

जो भगवान आत्मा को स्पष्ट रूप से न जाने, परोक्ष अपने आत्मा का स्वरूप ऐसा है, ऐसा जाने उसे संत, ज्ञानी नहीं कहा जाता । विकल्पों से आत्मा को जाने, वह वास्तविक जानना ही नहीं है । प्रत्येक गाथा में बात बदल-बदल कर कहते हैं, एक ही बात नहीं ।

ज्ञान की तरंगों से लहराता हुआ आत्मा स्वयं को प्रत्यक्ष न जाने उसे ज्ञानीसंत ज्ञान कहते ही नहीं । प्रत्यक्ष आत्मा को जाने वह ज्ञान है ।

भाई ! यह तो जिनेन्द्र देव का मूल मार्ग है । ज्ञान से ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होना यह आत्मा का ज्ञान है । यह तो योगसार है ना ? इसमें तो संत आत्मा को आत्मा में जोड़ने अर्थात् एकाग्र होने की ही विधि बतलाते हैं ।

आ हा हा ! संत मार्ग को सरल करके समझाते हैं ! भगवान आत्मा ज्ञानानंद ज्योति ! अतिन्द्रिय आनंद की मूर्ति ! प्रगट... प्रगट... प्रगट है ना ? तू पूर्ण सत्ता “सतत सुलभ” ! तू तुझे सुलभ न हो तो अन्य कौनसी वस्तु तुझे सुलभ होगी ? तू तेरी हथेली में ही है । अर्थात् तू तुझे अत्यन्त सुलभ है ।

आत्मा सर्व प्रकार के व्यवहार से मुक्त है । जैसे परद्रव्य हैं वैसे व्यवहार भी भले हो, परन्तु आत्मा अभेद चैतन्य के अनुभव में धर्मी व्यवहार से मुक्त है । व्यवहार तो करना पड़ेगा, व्यवहार तो होना ही चाहिये, यह होगा तो मुझे अच्छा ऐसा सम्यग्दृष्टि मानता नहीं ।

जैसे मृगजल में जल नहीं, जल सरोवर में है वैसे ही गुरुवचन में बोध (ज्ञान) नहीं, परन्तु हृदय सरोवर में बोध भरा पड़ा है । यहां तो तीनलोक के नाथ जिनेन्द्र देव ऐसा कहते हैं कि जिसने आत्मा प्रत्यक्ष जाना नहीं वह संसार से छूट सकता नहीं ।

समझ में आया कुछ ? ज्ञान से ज्ञान (आत्मा) को वेदन करे वह प्रत्यक्ष ज्ञान है । शास्त्र से, मन से, गुरुवचन से या विकल्प से आत्मा को जानना वह परोक्ष है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं ।

देखो तो सही, इस योगसार को । निर्विकल्प स्वरूप को निर्विकल्प वेदन से न जाने और मात्र शास्त्रादि से जाने तो उसका संसार छूटता नहीं । इच्छा रहित दिव्यध्वनि में आई हुई बात है । मिथ्यात्व यही संसार है । मिथ्यात्व का नाश होने के बाद संसार दीर्घ रहता नहीं । भगवान आत्मा का अतिन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान करके उसी में स्थिर हो जा । बारंबार उसी का स्पर्श कर । तुझे अवश्य अनुपम सुख प्राप्त होगा ।

लोगों को लगे की यह धर्म तो बड़ा मंहगा है, बाहर में चाहे जितनी मंहगाई हो तो भी पैसा खर्च करने से सब मिल जाता है । परन्तु मोक्षमार्ग में आत्म अनुभव बिना संवर निर्जरा नहीं होती । ज्ञानी कहते हैं कि भाई धर्म तो बहुत सस्ता है । बाहर की वस्तु की प्राप्ति के लिए तो पैसा चाहिए । बाजार लेने जाना पड़े । और धर्म को प्रगट करने कहीं जाना भी न पड़े और किसी अन्य वस्तु की भी जरूरत नही । अरे रे ! आत्मा को अपना स्वरूप जानना मंहगा लगता है । तेरा परमात्मा तो सदैव तेरे पास ही बिराज रहा है, उसे जानना कठिन नहीं ।

जिनेन्द्र भगवान ने दिव्य ध्वनि में यह उपदेश दिया है कि निज शुद्धात्मा का श्रद्धा व ज्ञान और ध्यान अर्थात् निश्चय रत्नत्रय रूप मसाले के प्रयोग से वीतरागता की आग भभके उठती है जो कर्म रूपी ईंधन को जलाकर भस्म कर डालती है । आत्मध्यान बिना कर्मों से मुक्ति किसी भी प्रकार से हो सकती नहीं, इसलिए आत्मानुभव ही वास्तविक मोक्षमार्ग है । समकित्ती बाह्य चारित्र को मोक्षमार्ग मानता ही नहीं ।

अरे रे ! इस जीव ने अपने गीत भी कभी प्रीति से सुने नहीं । जो प्रीतिपूर्वक निज की बात सुनता है वह अवश्य मुक्ति का भाजन बनता है । अनंतगुण मय आत्मा में अनादि अनंत एक प्रकाश नाम का गुण है, जिससे आत्मा प्रत्यक्ष होता है, परोक्ष नहीं रहता । आत्मा की सैंतालीस शक्तियों में “प्रकाश” नाम की बारहवीं शक्ति है, जिससे प्रत्यक्ष ही स्वयं अपने को जानता है । निज को जानकर निज में रहना यही आत्मा का घर है । अपना ज्ञान ही अपना वस्त्र है । निज आत्मिक रस यही निज का भोजन है तथा आत्मिक शय्या ही ज्ञानी की शैया है । इस प्रकार आत्मा को प्रत्यक्ष

जानकर वेदन करता वह संसार से मुक्त होता है। इसलिए स्वयं से स्वयं का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन यही मुक्त होने की विधि है, इसके सिवाय कोई विधि नहीं।

*आत्मा के ज्ञान के लिये नौ दृष्टान्त हैं*

**रयण दीउ दिणयर दहिउ दुधु घीव पाहाणु ।  
सुणउ रुउ फलिहउ अगिणि णव दिडंता जाणु ॥५७॥**

**रतन दीपक सूर्य घी दधि दूध पत्थर अर दहन ।  
सुवर्ण रूपा स्फटिकमणि से जानिये निज आत्मन् ॥५७॥**

**अर्थ :** रत्न, दीप, सूर्य, दही-दूध-घी, पाषाण, सूवर्ण, चांदी, स्फटिक मणि, आग इन नौ दृष्टान्तों से जीव को जानना चाहिये।

(१) यह आत्मा रत्न समान है। जैसे रत्न प्रकाशमय है, वैसे यह आत्मा भी ज्ञान-प्रकाशमय है। रत्न जैसे नित्य-कायम टिकने वाला है वैसे आत्मा ज्ञान स्वरूप से अविनाशीकायम टिकने वाला है। जैसे रत्न कीमती वस्तु है वैसे ही आत्मा अलौकिक अचिंत्य सम्यग्ज्ञान स्वरूप महा कीमती-अमूल्य वस्तु है। आत्मज्ञान रूपी रत्न का स्वामी सम्यग्दृष्टि जौहरी है। चाहे जैसा रत्न हो किन्तु उसकी परख जौहरी के बिना नहीं हो सकती, वैसे ही समकिति जौहरी बिना मिथ्यादृष्टि ज्ञानरत्न को परख नहीं सकते।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य ये तीन रत्न हैं, आत्मा की पर्यायें हैं। इन तीन रत्नों द्वारा आत्मा की परीक्षा हो सकती है। रत्नत्रय की पर्याय प्रगट करे—कीमत भरे तो चैतन्य रत्न प्राप्त हो।

(२) आत्मा दीपक के समान स्व-पर प्रकाशक है, दीपक जैसे स्वयं को और अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है परन्तु पर रूप होता नहीं, वैसे ही चैतन्य दीपक निज और पर द्रव्यों को, उनके गुण तथा पर्यायों को प्रकाशित करनेवाला है; परन्तु पर द्रव्य रूप हो नहीं जाता। शरीर, कर्म, राग आदि सबको जानता है किन्तु उन रूप होता नहीं। जड़ दीपक तो तेल बाती के बिना बुझ जाता है परन्तु इस चैतन्य दीपक को मन की, राग की, विकल्प रूप तेल की जरूरत नहीं, यह कभी बुझता ही नहीं। जलहल ज्योति अनादि-अनंत देह रूपी देवालय में बिराजमान है। वह सर्व वस्तुओं के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, को एक समय में प्रत्यक्ष जान लेता है।

(३) आत्मा सूर्य समान प्रकाशमान और प्रतापवान है। अपनी प्रभुता से भरा तत्त्व स्वतंत्रपने अपने अखंड प्रताप से शोभ रहा है। आत्म सूर्य अनंत बल का धारक है। जड़ सूर्य तो आताप वाला (उष्णता वाला) है, परन्तु चैतन्य सूर्य तो परम शांत है। जगत् में सूर्य अनेक हैं और उपमा युक्त हैं, किन्तु अपना चैतन्य सूर्य एक है और अनुपम है। द्रव्य स्वभाव से तो यह आत्म सूर्य कभी किसी से ढका जाता नहीं। कर्म से आवृत हो जावे या रागादि विकल्पों से ग्रसित हो जाय ऐसा यह सूर्य नहीं। जबकि बाहर का सूर्य तो मेघ से ढक जाता है। और ग्रहों से ग्रसित हो जाता है चैतन्य सूर्य स्वयं परमानंद मय है इसे जो देखे उसे आनंद देता है। शुद्धात्मा स्वयं ज्ञानानंद का दातार है तथा वह सदा निरावरण और नियत अपने असंख्यात स्वप्रदेशों में रहने वाला है। देह में रहने पर भी अपने ही ज्ञानाकार रूप रहता है।

(४) भगवान आत्मा दूध समान है, अर्थात् शुद्ध चैतन्य सत्त्व तो दूध है। दूध को जमाने से दही होता है वैसे ही आत्मा में एकाग्र होते ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र रूपी दही प्रगट होता है। दही को मथने से घी निकलता है, वैसे ही आत्मा में विशेष एकाग्र होने से केवलज्ञान रूप मक्खन मिलता है, पीछे मुक्ति रूपी घी तैयार होता है।

(५) आत्मा पत्थर के समान दृढ़ और अमिट है। जैसे एक कण भी न खिरे ऐसा चिकना पत्थर होता है वैसे ही भगवान आत्मा असंख्यात प्रदेशी अनंत गुणों का पिंड है, उसमें से एक भी प्रदेश या एक भी गुण खिरता नहीं। अर्थात् ज्ञानादि गुणों में से एक भी गुण कभी कम नहीं होता। चन्द्र सूर्य भी एक प्रकार के पत्थर हैं, उनमें से एक कण भी कभी खिरता नहीं। पत्थर जैसे अन्य वस्तुओं को रहने के लिए स्थान नहीं देता वैसे ही आत्मा अनंत गुणों का पर्वत, विकल्प, राग, कर्म शरीरादि को रहने के लिए स्थान नहीं देता। मूंगा पत्थर को पानी छूता भी नहीं, वैसे भगवान आत्मा को राग छूता भी नहीं अर्थात् उसमें प्रवेश कर सकता ही नहीं।

(६) आत्मा शुद्ध स्वर्ण समान, परमप्रकाशमान, ज्ञानधातु से निर्मित अनादि अनंत बिराजमान अद्भुत मूर्ति है। मलिन स्वर्ण अपनी योग्यता से ही अग्नि के संग में सौ टंच का शुद्ध स्वर्ण बनता है। उसी प्रकार मोह-राग-द्वेष की कालिमा संयुक्त आत्म स्वर्ण भी अपनी योग्यता से ही स्वयं में एकाग्रता रूप अग्नि से सौ टंच का शुद्धात्मा बन जाता है, स्वभाव से तो शुद्ध था ही, पर्याय में भी शुद्ध हो जाता है।

(७) आत्मा चांदी के समान परम शुद्ध और निर्मल है। वीतरागता रूपी उज्ज्वलता आत्मा में भरी है। संसारियों को प्रिय सोना चांदी है अतः उसकी उपमा देकर समझाते हैं—अन्यथा आत्मा को तो कोई उपमा लागू नहीं पड़ती, ऐसा अनुपम आत्माराम है।

ज्ञानी आत्मा रूपी चांदी का सदा व्यापार करता है। वह वीतरागता रूपी उज्ज्वलता प्रगट करता है, यही इसका व्यापार है। राग, पुण्य-पाप करना वह ज्ञानी का व्यापार नहीं।

(८) आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल और परिणमनशील है। जैसे स्फटिक मणि लाल-पीली वस्तु के संयोग से लाल-पीले रंग का दिखाई देने पर भी अपनी निर्मलता को छोड़ता नहीं, वैसे ही आत्मा रागादि पर्यायों रूप होने पर भी स्वभाव से निर्मल और शुद्ध ही रहता है। बंध रूप होना ऐसा अबंध स्वभावी आत्मा का स्वभाव ही नहीं। परलक्ष से ममता रूप परिणमता है, वह तो पर लक्ष से हुआ। स्वभाव के लक्ष से तो पर्याय में भी अशुद्धता नहीं रहती। आ हा हा ! कैसा सीधा, सरल, सुलभ वस्तु का स्वरूप है। निज भाव को छोड़कर विकार रूप परिणमे ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं। स्फटिकमणि समान निर्मल आत्म स्वभाव की दृष्टि करने से पर्याय में भी निर्मलता प्रगट होती है।

(९) आत्मा अग्नि समान सदा ही प्रज्वलित जलहल ज्योति है। जैसे अग्नि में पाचक प्रकाशक और दाहक गुण हैं वैसे ही आत्मामें श्रद्धा-ज्ञान, चारित्र त्रिकाली गुण हैं।

अग्नि अनाज को पचाती है, पदार्थों को प्रकाशित करती है और ईंधन को जलाती है।

उसी प्रकार आत्मा त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव को एक समय में श्रद्धा में ले लेता है; स्वपर को जान लेता है और कर्मरूपी ईंधन को आत्मिक बल से जला देता है।

“मैं त्रिकाली भगवान हूँ” ऐसा स्वीकार करना यह श्रद्धा गुण के पचाने का कार्य है। स्व-पर के गुण-पर्यायों को जानना, यह ज्ञान गुण का प्रकाशन कार्य है। मोह, राग, द्वेष का नाश कर वीतरागता प्रगट करना यह चारित्र गुण की दाहकता है।

इस प्रकाशमान जलहल ज्योति को कोई नष्ट नहीं कर सकता।

इन नव दृष्टान्तों से आत्मा को पहचानकर अपने स्वभाव का पूर्ण विश्वास करने योग्य है, ऐसा आचार्य देव ने इस गाथा में कहा है।

देहादि रूप में नहीं हूँ - यही ज्ञान मोक्ष का बीज है

**देहादिउ जो परु मुणइ जेहउ सुणु अयासु ।  
सो लहु पावइ बंभु परु केवलु करइ पयासु ॥५८॥**

शून्यनभसम भिन्न जाने देह को जो आतमा ।

सर्वज्ञता को प्राप्त हो अर शीघ्र पावे आतमा ॥५८॥

**अर्थ :** जैसे आकाश पर-पदार्थों के साथ सम्बन्ध रहित है, असंग अकेला है वैसे ही शरीरादि को जो आत्मा से पर जानता है वही परम ब्रह्म स्वरूप का अनुभव करता है व केवलज्ञान का प्रकाश करता है ।

जैसे आकाश के साथ आकाश में स्थित पदार्थों का संबंध दिखने पर भी किसी भी पदार्थ के साथ उसका संबंध नहीं, वैसे ही भगवान आत्मा के साथ शरीर, मन, वाणी, माता-पिता कुटुम्ब, घर, क्षेत्र, काल आदि का संयोग दिखने पर भी आत्मा का उनके साथ कुछ भी संबंध नहीं है । आकाश सदा अकेला, निर्लेप है, आत्मा भी सदा तीनों काल असंग और निर्लेप है । ऐसे आत्मा को अन्तरंग में अनुभव करना वह सम्यग्दर्शन है और वही मोक्ष का बीज है ।

अग्नि की चिनगारियां आकाश में जलती हुई दिखाई दें; बादल दिखाई दे, वर्षा होती दिखाई दे किन्तु फिर भी आकाश इन सभी से निराला है । वैसे ही रोग रूपी चिनगारियों से आत्माकाश भिन्न निराला है । चक्रवर्ती छयानवे हजार रानियों के वृंद में दिखाई दे, हीरा माणिक के बड़े-बड़े हार पहने दिखाई देने पर भी चैतन्य चक्रवर्ती इन सभी से असंगी और निराला ही है । इसलिए कहते हैं कि अनेक प्रकार के संग-प्रसंगों में रहने पर भी स्वभाव तो संग-प्रसंगों से रहित ही है, ऐसी दृष्टि करने वाले को परमब्रह्म परमात्मा प्राप्त होता है ।

यह तो योगसार है ना ? अकेला मक्खन भरा है । अज्ञानी जीव को बाहर की रूचि और होंश है, मैंने वैसा किया ऐसा अपनी होशियारी का अभिमान करके अपने को अन्य से अधिक बतलाने का अभिमान करता है, उसे संत कहते हैं कि तू राग का अभिमान मत कर । ज्ञान को स्वीकार कर । ज्ञान तेरा स्वभाव है । बाहर में तो सब धूलधानी और हवापानी है ।

आ हा हा ! संत सिद्धान्तों को सिद्ध करे ऐसे सचोट दृष्टान्त देते हैं । धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय अनेक प्रकार के पुद्गल तथा अनंते जीव सभी आकाश के असंख्यात



प्रदेशों में स्थित होने पर भी आकाश इन पर द्रव्यों को छूता भी नहीं। इसी तरह ज्ञायक स्वभावी आत्मा जहां हो तहां मात्र ज्ञाता-ज्ञाता-ज्ञाता ही है। जाननहार-जाननहार-जाननहार-फिर भले ही नरक के दुख में हो कि स्वर्ग के सुख में हो, शरीर की तीव्र रोग दशा हो या निरोग दशा हो, किन्तु निर्लेप चैतन्य परमात्मा को ये सभी संयोग छूते भी नहीं। आकाश के समान स्वयं असंग परमात्मा की दृष्टि करते ही जीव अपने परम ब्रह्म स्वरूप आत्मा को प्राप्त करता है और क्रम-क्रम से केवलज्ञान लक्ष्मी को वरता है।

अनंतजीव-पुद्गलों की विकारी परिणति से आकाश की परिणति में विकार नहीं आता, आकाश तो सदैव आकाश रूप ही रहता है। वैसे ही ज्ञायक तो सदा ज्ञायक रूप ही रहता है, चैतन्य प्रकाश का तेज अचेतन विकल्पों रूप कभी नहीं होता। ऐसे निर्लेप चैतन्य को दृष्टि में लेना यह एक मात्र मुक्ति का अर्थात् परमपद प्राप्ति का उपाय है।

आकाश की सत्ता पृथक् और आकाश में रहे हुये पदार्थों की सत्ता पृथक् है। इसी प्रकार धन, कुटुम्ब आदि पर पदार्थों की सत्ता अलग और आत्मा की सत्ता अलग है। तैजसकार्माण शरीर की सत्ता भी आत्मा से अलग है। कषायों की तीव्रता या मंदता तथा मन, वचन, काया की सभी क्रियायें आत्मा से एकदम भिन्न हैं। आत्मा किसी का स्वामी नहीं तथा आत्मा का कोई स्वामी नहीं। आत्मा का कोई ग्राम तथा धाम नहीं। देखो ! यह भेद ज्ञान है। भेदज्ञान अर्थात् जो चीज जैसी है वैसी जानना, मेरे में पर का अभाव है और पर में मेरा अभाव है।

भले ही अनंत सिद्ध भगवंतों की और अनंत संसारी जीवों की सत्तायें मेरी सत्ता जैसी हैं, फिर भी मेरी सत्ता और उन जीवों की सत्ता सर्वथा निराली ही हैं। मेरे गुण उनके गुणों से निराले हैं। मेरा परिणमन उनके परिणमन से निराला है। मैं संयोगों के साथ एकमेक नहीं होता। अनादि काल से अकेला रहा हूँ अनन्त काल तक अकेला रहूंगा।

*आकाश के समान होकर भी मैं सचेतन हूँ*

**जेहउ सुद्ध अयासु जिय तेहउ अप्पा वुत्तु ।  
आयासु वि जडु जाणि जिय अप्पा चेयणुवंत्तु ॥५६॥**

**आकाशसम ही शुद्ध है निज आत्मा परमात्मा ।  
आकाश है जड़ किन्तु चेतन तत्व तेरा आत्मा ॥५६॥**

**अर्थ :** हे जीव ! जैसा आकाश शुद्ध है वैसा ही आत्मा कहा गया है । आकाश को जड़ अचेतन जान तथा आत्मा को सचेतन जान ।

जैसे आकाश में पर द्रव्य नहीं है वैसे आत्मा में पर द्रव्य नहीं हैं । आकाश शुद्ध है वैसे ही आत्मा स्वभाव से शुद्ध है । पचरंगी बादल हो या अन्य पांच द्रव्य आकाश में हों परन्तु उनके रंग से आकाश रंगता नहीं, सर्व द्रव्यों से आकाश अलिप्त है । इसी तरह आत्मा विकार से या परचीजों से रंगाता नहीं है । ऐसे शुद्धात्मा का एकाग्र होकर ध्यान कर, वह योगसार है ।

आकाश शुद्ध है और आत्मा भी शुद्ध है । परन्तु हे जीव ! आकाश जड़ है, उसमें चेतना नहीं है, जबकि आत्मा चेतन है । आकाश, आकाश का ध्यान कर सकता नहीं, क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है । जबकि आत्मा अपना ध्यान कर सकता है क्योंकि आत्मा ज्ञानवान है इसलिए हे जीव ! इन दोनों में महान अन्तर जानना तू ज्ञान स्वरूपी आत्मा का ध्यान कर । आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है अतः तू आत्मा को जान । निज शुद्धात्मा का जागृत होकर ध्यान करने से पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है ।

आकाश क्षेत्र से सर्वव्यापी हैं और आत्मा ज्ञान से सर्व को जानने वाला है इसलिए सर्वव्यापी है ।

जीवादि प्रत्येक द्रव्य परमस्वभावी है । उनके परमस्वभावी को आत्मा जान सकता है; यह आत्मा के ज्ञान गुण की विशेषता है । इसलिए कहते हैं कि सामान्य गुणों की अपेक्षा आकाशादि सभी द्रव्य समान हैं, परन्तु विशेष गुणों की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य में अन्तर है ।

धर्मादि चार जड़ द्रव्य शुद्ध हैं और आत्मा भी चैतन्य स्वभाव से शुद्ध ही है । धर्मादि द्रव्यों को शुद्धता प्राप्त करनी नहीं है, उन्हें तो शुद्धता अनादि से ही प्राप्त है । परन्तु जिसे शुद्धता प्रकट करनी है ऐसे जीवों को अपने शुद्ध स्वभाव का ध्यान करके, एकाग्र होकर शुद्धता का अनुभव करना, यही निर्वाण का मार्ग है ।

*अपने भीतर ही मोक्षमार्ग है*

**णासग्गिं अब्भितरहं जे जीवहिं असरीरु ।**

**बाहुडि जम्मि णि संभवहिं पिवहिं ण जणणी-खीरु ॥६०॥**

**नासाग्र दृष्टिवंत हो देखें अदेही जीव को ।  
वे जनम धारण ना करें ना पिये जननी-क्षीर को ॥६०॥**

**अर्थ :** जो ज्ञानी नासिका पर दृष्टि रखकर भीतर शरीरों से रहित शुद्ध आत्मा को देखते हैं, वे फिर बारबार जन्म नहीं पायेंगे, वे फिर माता का दूध नहीं पियेंगे ।

जो ज्ञानी अन्तरमुख दृष्टि करके ज्ञानानंद स्वभावी वस्तु है, उसे शरीर रहित शुद्ध कुंदन समान निर्मल निज आत्मा को ध्याता है—अनुभवता है, वह मोक्षमार्गी है । ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा स्वयं की पूर्ण निर्मल ज्ञान दशा प्रगट करने के लिए अभ्यंतर दृष्टि का साधन करता है, उसे पुनः दूसरी माता की कूख में अवतार लेकर माता का दूध नहीं पीना पड़ता ।

चैतन्य बिम्ब को अग्र अर्थात् मुख्य करके अन्दर में ध्यान करे वह अन्दर का मोक्षमार्ग है; वही सत्य-वास्तविक मोक्षमार्ग है । विकल्पों में, निमित्तों में या शरीर की क्रियाओं में मोक्षमार्ग नहीं है ।

आत्म वस्तु की ओर स्वभाव दृष्टि लगाना उसे नासाग्रदृष्टि कहते हैं । पूर्णानंद वह आत्मा की नाक (शान) है । इसके कारण आत्मा निभ (टिक) रहा है । इसलिए आत्म स्वभाव की ओर दृष्टि लगाने को कहा है । लोग बड़ी प्रसिद्धियों को अपनी शान समझते हैं । यहां कहते हैं आत्मा की बड़ी प्रसिद्धि 'केवलज्ञान' है जो आत्मा की शान है । केवलज्ञान रूपी वैभव का आत्मा धनी है । इसकी महिमा का वर्णन केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि में भी पूरी तरह नहीं आ सकता । आत्मा के समान अन्य कोई वस्तु नहीं है । इसका कहां तक वर्णन करें ? ऐसे आत्मा का ध्यान करे तो अल्पकाल में निर्वाण को प्राप्त हो । ऐसा यह अन्तर का मार्ग है, इसे बाहर शोधने की जरूरत नहीं है ।

भगवान के ज्ञान में आत्मा का अनंत सामर्थ्य आ जाता है, किंतु वाणी में तो उसका अनंतवां भाग आता है । जितना ज्ञान में आता है उतना वाणी में आ सकता नहीं । जिस आत्म स्वभाव में जन्म-मरण नहीं, उसका ध्यान करने वालों के जन्म-मरण भी टल जाते हैं ।

जो जीव शांत.....निर्विकल्प, वीतराग तत्त्व को देखने के लिए निर्मल गंगा बहावे-निर्मल परिणति प्रगट करे वह धन्य है । शरीर रहित किन्तु शरीर प्रमाण क्षेत्र में स्थित आत्मा को सूक्ष्म भेद विज्ञान दृष्टि से देखने का प्रयत्न करे । राग, संयोग, निमित्त और विकल्पों आदि की आंख बंद करके वीतरागी तत्त्व को देखने का बारंबार

प्रयत्न करे। विकल्प की वृत्ति का नाश करके अन्तर निर्विकल्प तत्त्व में टकटकी लगावे। उसी में एकाकार होवे वही यथार्थ मोक्ष का उपाय है। बाहर में मोक्षमार्ग नहीं; अन्तर में मोक्षमार्ग है प्रवचनसार में भी कहा है कि अरे रे ! बाहर में मोक्ष का साधन ढूँढ़ने क्यों जाता है, तेरा साधन तेरे अन्दर ही है।

शास्त्रों में कहीं भी व्यवहार की बात आवे तो बस यही ठीक है ऐसी पकड़ अज्ञानी कर लेता है, व्यवहार टेकारूप है, सहायक है ऐसा भगवान ने कहा है, परन्तु भगवान ने अकेले व्यवहार का फल संसार कहा है उसकी ओर इसका लक्ष्य ही नहीं जाता।

यहां तो आचार्य देव कहते हैं कि जो आत्मा में एकाग्र होने की भावना करते करते एकाग्र होकर अनुभव कर लेता है उसकी अनुभव रूपी ध्यान अग्नि कर्म को जला देती है। यह सभी ध्यान की क्रिया है। बाहर की क्रिया, विकल्पादि तो सभी दूर रह जाते हैं। व्यवहार मोक्षमार्ग वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं। अभ्यंतर मोक्षमार्ग स्वयं के पास है और उसे स्वयं प्राप्त कर सकता है। निश्चय स्वरूप में लीन होना वही सच्चा मोक्ष मार्ग है।

**प्रश्न :** ऐसा मोक्षमार्ग श्री गुरु बताते हैं ना ?

**उत्तर :** आत्मा स्वयं ही अपना गुरु है, वह अपने को अभ्यंतर मार्ग बतलाता है, जो समझावे वह गुरु कहलाता है। हे आत्मन् ! तुम ज्ञानमय हो, तुम आनंदमय हो, तुम पूर्ण हो। तुम शुद्ध हो। तुम अनादि से भटक रहे हो। ऐसा समझकर आत्मा स्वयं ही निज में स्थिर होता है। इसलिए आत्मा ही अपना सच्चा गुरु है। आत्मा गुरु और उसकी पर्याय रूप प्रजा ही उसका शिष्य है। पर्याय द्रव्य का विनय करती है। आत्म द्रव्य और पर्याय ये गुरु-शिष्य हैं। आत्मा और पर्याय का नाम, लक्षण और भाव भेद से भेद है परन्तु प्रदेश की अपेक्षा अभेद है। द्रव्य शाश्वत है, पर्याय क्षणिक है। द्रव्य रूपी गुरु का आधार लेकर पर्याय रूपी शिष्य काम करता है।

*निर्माही होकर अपने अमूर्तिक आत्मा को देख।*

**असरीरु वि सुसरीरु मुणि इहु सरीरु जडु जाणि ।**

**मिच्छा-मोहु परिच्चयहि मुक्ति णियं वि ण माणि ॥६१॥**

**अशरीर को सुशरीर अर इस देह को जड़ जान लो ।**

**सब छोड़ मिथ्या-मोह इस जड़देह को पर मान लो ॥६१॥**

**अर्थ :** अपने शरीर-रहित आत्मा को ही उत्तम ज्ञान शरीर समझे, इस पुद्गल रचित शरीर को जड़ व ज्ञान रहित जाने, मिथ्या मोह का त्याग करे, मूर्तिक इस शरीर को भी अपना नहीं माने ।

आत्मा जड़ शरीर से रहित है, किन्तु उत्तम ज्ञान रूपी सुन्दर शरीर से सहित है । आत्मा का परमभाव ही उसका शरीर है, बाहर का शरीर तो जड़ है । हे जीव ! तू उसमें ममत्व न कर, निर्मोही बन ।

आत्मा के साधक को उचित है कि वह अपने को जड़ शरीर रहित ज्ञान शरीरी समझे । तथा पुद्गल परमाणुओं से रचित इस जड़ मूर्तिक शरीर को कारागृह समझे अपनी प्रत्येक क्रिया को आत्मा के साथ जोड़े तथा पर से प्रेम तोड़ दे । जब तक “अतीन्द्रिय आनंद तथा सुख से भरपूर हूँ” ऐसी श्रद्धा-ज्ञान तथा रुचि नहीं होगी, तब तक शरीर और शरीर के साधनों को हितकारी मान कर उनका आदर करेगा । शरीर निरोग रहे, शरीर को सर्व प्रकार की अनुकूलता रहे तो ठीक ऐसी बुद्धि मिथ्यादृष्टि को होती है । इसलिए हे साधक ! तू ऐसी मिथ्यादृष्टि से दूर रह । तेरे आत्मा की निरोगता और अनुकूलता से तू सुखी है । ऐसी श्रद्धा हुए पीछे पर में अपने-पने की मान्यता छूट जाती है । अज्ञानी को अन्दर के आनन्द का अनुभव नहीं इसलिए बाहर में आनन्द है, ऐसी श्रद्धा किये बिना रहता नहीं । “शरीर निरोगी रहे तो मैं सुखी” ऐसा मानकर अनित्य शरीर आदि में ही अज्ञानी मग्न रहता है ।

भगवान आत्मा-चैतन्य शरीरी है; उसमें सुख और आनन्द न मानकर बाहर से सुख की इच्छा रखना, यह तो मूढ़ता है । अज्ञानी मोही जीव दया, दान, व्रत, भक्ति करके भी वांछा तो इस भव और परभव में भोग भोगने की ही रखता है ।

संसारी जीव की मन, वचन, काय की सभी क्रियायें मोह पर ही निर्भर हैं । मिथ्या मोह का नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, वे साधक जीव निश्चित होकर जब चाहें तब आत्मानुभव कर सकते हैं । उनका अपनापन एक आत्मा में ही है, और कहीं भी नहीं । जैसे रोगी को कड़वी दवा पीनी पड़ती है, वैसे ज्ञानी को चारित्र-मोह वश हेय बुद्धि से भोग भोगने पड़ते हैं । परन्तु भावना तो उनसे शीघ्र छूटने की रहती है । दृष्टि में ग्रहण करने योग्य तो अपना निज स्वरूप ही लगता है, परन्तु रागवश भोगों को ग्रहण करता है । मिथ्या दृष्टि को बारंबार राग और पर ही दृष्टि में आते हैं, जबकि सम्यग्दृष्टि को बारंबार अपना निज स्वरूप ही दृष्टि में आया करता है ।

आत्मानुभव का फल केवलज्ञान और अविनाशी सुख है तथा राग, पुण्य-पाप विकारी भावों का फल चार गति का दुःख है ये बात अगली गाथा में कहेंगे ।

*आत्मानुभव का फल केवलज्ञान व अविनाशी सुख है*

**अप्पइँ अप्प गुणंतयहँ किं णेहा फलु होइ ।**

**केवल-णाणु वि परिणवइ सासय-सुखु लहेई ॥६२॥**

**अपनत्व आत्म में रहे तो कौन सा फल ना मिले ?**

**बस होय केवलज्ञान एवं अखय आनन्द परिणमे ॥६२॥**

**अर्थ :** आत्मा को आत्मा के द्वारा अनुभव करते हुये कौनसा फल है जो नहीं मिलता है, और तो क्या केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है तथा अविनाशी सुख को पा लेता है ।

ज्ञानानंद स्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव अर्थात् सर्वज्ञ शक्ति वाले आत्मा की दृष्टि, ज्ञान तथा स्थिरता करते ही पर्याय में आत्मिक शक्ति प्रगट होने लगती है सम्यक्ज्ञान के परिणमन के साथ सच्चा सुख भी प्राप्त करता है ऐसा आत्मानुभव का अचिंत्य-अनुपम फल है ।

जिसने आत्मा से आत्मा को जाना उसने द्वादशांग जान लिया । जिसने आत्मा जाना उसने सभी कुछ जाना । उपयोग को आत्मा में जोड़ना यह “योगसार” है; वही मोक्षमार्ग है । उपयोग को आत्मा में जोड़कर आत्मा को जानने से महाआनंद होता है, उसकी क्या बात करनी ? उस आनन्द के सामने इन्द्रपद तथा चक्रवर्ती का वैभव कुछ गिनती में नहीं आता । इन्द्रपद और चक्रवर्ती पद तो पुण्य के फल हैं । आत्मज्ञान के फल में तो केवलज्ञान तथा पूर्णसुख प्रगट होता है, यही यहां कहा है । राग के फल, इन्द्रपद और चक्रवर्ती पद को यहां याद भी नहीं किया; क्योंकि वह साध्य नहीं हैं । साध्य तो केवलज्ञान तथा शाश्वत सुख है । यही आत्मज्ञान का परमार्थ फल है । आत्मज्ञान की अपार महिमा है ।

इस योगसार में अत्यन्त सारभूत बात कही है । पुण्य-पाप रूप विकार तथा शरीरादि से रहित आत्मा आनंद का कंद है । विकार तो आस्रव तत्त्व है, देहादि अजीब तत्त्व हैं तथा आत्मा स्वयं जीव तत्त्व है । आत्मा में ज्ञान, आनंद, शांति, वीर्य, प्रभुता, विभुत्व स्वच्छत्व, प्रकाश आदि अनंत शक्तियां हैं । ऐसे आत्मा को आत्मा से जानना ही मोक्षमार्ग है ।

यहाँ अति संक्षेप में सार में भी सार गर्भित बात कही है। भगवान आत्मा अर्थात् निज परमात्मा की ओर दृष्टि करके पर्याय में उसका अनुभव करते ही कौनसे फल प्राप्त नहीं होते ? अर्थात् सर्व ही फल प्राप्त होते हैं। मति श्रुतज्ञान की विशेषता प्रगट हो, अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव हो तथा क्रम-क्रम से अनुभव की वृद्धि होते ही केवलज्ञान प्राप्त होता है। आत्मानुभव के साथ व्रत-तप आदि के शुभविकल्प होते हैं; उनका ज्ञान कराया है; किन्तु वे मोक्षमार्ग नहीं। स्वभाव का साधन तो स्वभाव ही है। सर्वज्ञ वीतराग स्वरूप आत्मा वीतरागी पर्याय द्वारा ही ज्ञात हो सकता है।

आत्मानुभव करते ही स्वाधीन-अपूर्व आनंद प्रगट होता है, क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का पुंज है, उसमें से आनंद ही आता है, तथा वह आनंद जैसा अरहंत तथा सिद्धों भगवंतों का है उसी जाति का है। उस आनंद के सामने इन्द्र का इन्द्रासन भी धर्मी को जीर्ण तृण के समान लगता है। छ्यानवें हजार रानियां हो, राजपाट हों, बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजा जिसकी आज्ञा में उपस्थित हों; हां जी, हां जी, करते हों तो भी धर्मी जानता है कि अरे ! मेरा आनंद तो मेरे पास ही है। मेरे आनंद के सामने इस वैभव की कुछ भी कीमत नहीं।

समकिति गृहस्थ हो या आत्मज्ञानी मुनि हो, तो भी उनके अनुभव के समय प्रत्येक शक्ति की व्यक्तता अन्दर प्रगट होती है। भगवान आत्मा के गुणों के भाव की अचिंत्यता तो अपार है और गुणों की संख्या भी अनंत है, अचिंत्य तथा अपार है। इन अनंत गुणों का धारक निज आत्मा का अनुभव होते ही प्रत्येक समय अनंत गुणों की अपनी-अपनी पर्यायों में शुद्धि की वृद्धि होती जाती है।

जिसके नेत्र हीरे को परखें वही जौहरी कहलाता है, उसी तरह जो वीर्य आत्मस्वरूप की रचना करे उसे वीर्य कहते हैं। जो ज्ञान आत्मा को ज्ञेय बनाये वही ज्ञान कहलाता है। यह तो अगम्य को गम्य करने की बात है बापू !

मोक्षमार्ग अर्थात् साधकपना असंख्यात समय का ही होता है, पर इसका फल अनंत समय का है। आ हा हा ! एक श्लोक में भी कितना भर दिया है। जंगल में बसने वाले योगीन्द्र देव पुकार कर कहते हैं कि, स्वयं को स्वयं से जानते ही कौनसा फल प्राप्त नहीं होता ? अनुभव के आनंद से लेकर रत्नत्रय और केवलज्ञान आदि सभी प्राप्त होंगे ही।

अनुभव का प्रथमफल अतीन्द्रिय आनंद का वेदन कहा । दूसरा फल वीर्य का उल्लसित-पना है, जिसमें स्वरूप की पूर्ण रचना का काम कर सकूंगा ऐसा वीर्य उछलता है । अब यह पूर्ण केवलज्ञान लेगा ही । उल्लसित वीर्यवान ही केवल ज्ञान का अधिकारी है । पामर का वीर्य केवल ज्ञान नहीं ले सकता । उल्लसित वीर्य अर्थात् क्या ? कि जो शक्ति रूप से वीर्य गुण है उसका अनुभव होते ही पर्याय में व्यक्त हुआ है कि अब मैं केवलज्ञान लेकर ही रहूंगा । अल्पकाल में सिद्ध पद प्राप्त करूंगा ऐसा उसका वीर्य उछाला मारता है । उसे ऐसा नहीं होता कि अरे ! अब क्या होगा ? केवलज्ञान पर्यन्त कैसे पहुंचा जावेगा ? ऐसा हीन वीर्य नहीं होता । जो द्रव्य है वह कभी भी बदलकर अद्रव्य नहीं होता वैसे ही जागृत हुआ वीर्य कभी पीछे नहीं पड़ता है । क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हो तो क्षायिक लेगा, क्षायिक हो तो शुक्लध्यान लेगा तथा शुक्लध्यान हो तो केवलज्ञान लेगा ।

शुद्ध महिमावंत आत्म द्रव्य स्वभाव को अनुभवते ही वीर्य ऐसा उछल कर काम करता है कि ज्ञान की वृद्धि, श्रद्धा की शुद्धता, चारित्र की स्थिरता, आनंद की वृद्धि, स्वच्छता की वृद्धि, प्रभुता की उग्रता, आदि सभी पर्यायों में शुद्धि की वृद्धि होती है । अनुभव होते ही वीर्य का शौर्य जागृत होता है । अल्पकाल में विकल्प तोड़कर निर्विकल्पता प्राप्त करता है ।

अब अनुभव के अन्य भी फल कहते हैं—अनुभव होते ही पाप कर्म का अनुभाग घट जाता है और पुण्य कर्म का अनुभाग बढ़ जाता है । आयु कर्म के अलावा सभी कर्मों की स्थिति घटती जाती है । जिसे मोक्षमार्ग प्राप्त हो गया उसे संसार की स्थिति क्यों बढ़े ? बढ़ती ही नहीं, स्थिति घटती जाती है । अनुभव होते ही उसी भव में केवलज्ञान तक का पुरुषार्थ नहीं कर सके और आयु पूर्ण हो जावे तो देव होगा । वहां से च्युत होकर उत्तम मनुष्य होगा और एक दो भव करने भी पड़े तो भी राग की मंदता है और पुरुषार्थ चालू है, इसलिए शुद्धि की वृद्धि करता ही रहता है ।

आत्मानुभव के फल में श्रुतकेवली होते हैं । भले ही बारह अंग का ज्ञान न हो तो भी शास्त्र ज्ञान बिना आत्मज्ञान से श्रुतकेवली होते हैं । अनुभव की जाति ही ऐसी है कि आगे बढ़कर श्रुतकेवली हो जायेगा । तथा आत्मानुभव के फल में शुद्धि की वृद्धि तो होती ही है । साथ में पुण्य बंध भी होता है जिसके फल में बाहर की अनुकूलता भी प्राप्त होती है । इंद्र, चक्रवर्ती आदि के भव पुण्य के फल में अनुभवी को ही प्राप्त होते हैं ।



जैसे आम के वृक्ष में पहले डाली-पत्ते लगते हैं; पीछे आम रूप फल फलता है, वैसे ही अनुभव होने पर प्रथम तो इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सुखों की प्राप्ति होती है, पीछे, पूर्णानंद केवलज्ञान का सुख प्राप्त होता है। इसी तरह दूसरा दृष्टान्त यह है कि चक्रवर्ती के घर की ओर का रास्ता भी कोई अन्य प्रकार का वैभव युक्त होता है। इस रास्ते पर चलने वाले बीच में थोड़ा आराम भी लें; वैसे ही मोक्षमार्ग से निर्वाण पहुँचने के लिए आत्मानुभवी सुखरूपी मार्ग पर चलता है। वह बीच में स्वर्ग आदि अनुकूल संयोगों को प्राप्त कर अंत में मोक्षमहल में पहुँच जाता है अर्थात् आठों कर्मों का नाश करके सिद्ध दशा प्राप्त करता है।

भगवान कहते हैं कि चैतन्य रत्न से भरे रत्नाकर के ऊपर जो दृष्टि करेंगे—वे सभी भगवान होंगे। श्री कुंदकुंदाचार्य-देव महाविदेह में भगवान सीमंधरनाथ के पास समवशरण में गये थे। वहां दिव्य-ध्वनि में आया कि ये भरतक्षेत्र के महान समर्थ धर्म धुरंधर आचार्य हैं। आचार्यदेव अभी देवलोक में है; वहां से आकर मनुष्य होकर, पुरुषार्थ की उग्रता द्वारा मोक्ष जायेंगे।

आत्मा का ध्यान करते ही, वीर्य की स्फूर्णा होते ही अनंत केवलज्ञान प्रगट करने की शक्ति खिल उठती है।

*पर-भाव का त्याग संसार-त्याग का कारण है*

**जे परभाव चएवि मुणि अप्पा अप्प मुणंति ।  
केवल-णाण-सरुव लइ (लहि ?) ते संसारु मुंचति ॥६३॥**

**परभाव को परित्याग जो अपनत्व आत्म में करें ।  
वे लहें केवलज्ञान अर संसार-सागर परिहरें ॥६३॥**

अर्थ : जो मुनिराज पर-भावों का त्याग कर आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं, वे केवलज्ञान सहित अपने स्वभाव को झलका कर संसार से छूट जाते हैं।

आ हा हा ! मुनिराज ने तो इस ग्रन्थ में अकेला मक्खन ही भरा है। यहां त्यागधर्म की मुख्यता बतलाते हैं। त्याग अर्थात् विकल्पों का, पर भावों का त्याग। तो धर्मात्मा शुभाशुभ रागादि परभावों का त्याग करके निज से निज को जानता है, वह केवलज्ञान रूपी प्रकाश प्राप्त करके भवाताप का नाश करता है।

जिसे धर्म करना है, उसे सर्वप्रथम तो कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु की श्रद्धा छोड़ना चाहिये। रागी-द्वेषी देव, परिग्रहधारी आत्मज्ञान शून्य कुज्ञानी गुरु तथा मिथ्या शास्त्रों की महिमा तथा भक्ति छोड़ना चाहिए। हिंसा, झूठ, चोरी, शिकार, परस्त्री-सेवन, वेश्या-गमन, जुआं-खेलना इन सप्तव्यसनों का भी त्याग करना चाहिये। अन्याय के कार्यों के प्रति ग्लानि होनी चाहिये। इस प्रकार कुदेवादि की श्रद्धा इत्यादि का त्याग करके वीतराग परमदेव आत्मज्ञानी निर्ग्रन्थ गुरु तथा अनेकान्तमय वस्तु स्वरूप को बतलाने वाले शास्त्रों की श्रद्धा करनी चाहिये। उनकी भक्ति एवं मनन करना चाहिये। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की यथार्थ श्रद्धा करे तथा आत्मा की पहचान करे तब अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का लाभ प्राप्त होता है। निज स्वरूप को पहचान कर उसमें स्थिरता करना वह सम्यग्चारित्र है।

सम्यग्दर्शन होते ही परभाव जो मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी आदि का नाश होकर स्वरूप की दृष्टि, ज्ञान तथा रमणता-स्वरूप में लीनता रूप स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। इस प्रकार ग्रहण त्याग दोनों हो गये। नित्यानंद स्वभावी निजात्मा का ध्यान करते ही निमित्तों के लक्ष से होने वाले पुण्य-पाप रूप अनित्य भावों का नाश हो जाता है।

**“हम परदेशी पंखी साधु इस देश के नहीं जी।  
आत्म अनुभव करके हम उड़ जायेंगे सिद्ध स्वदेश जी ॥”**

विकल्पों का देश हमारा नहीं, पुण्य-पाप के भाव आत्मा के देश के नहीं। भगवान आत्मा तो अनंत आनंद का देश है; वह हमारा स्वदेश है; उसमें हम जावेंगे। देखो ! श्री योगीन्द्र-देव ने बन-जंगल में सिंह-बाघों की गर्जना का लक्ष छोड़कर निजदेश में जाकर यह बात लिखी है। अहो ! अनंत सिद्ध पर्यायों का तू पिंड है। ऐसा निज आत्मा जिसके अनुभव में आया, उसे मुनिराज कहते हैं कि अब तुझे क्या करना शेष है ? आत्मा का अनुभव होते ही सब कुछ मिल गया है। स्वदेश का स्वामी हो गया है। पुण्य-पाप को अपना मानने वाला तो परदेशी है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

एक अपने परम-पारिणामिक भाव रूप जीवत्व स्वरूप कारण प्रभु में एकत्व करके उसका अनुभव करना वह सदा के लिए आनंद-अमृत का पान कराने वाला मोक्षमार्ग है। ऐसा मोक्षमार्ग प्रगट होने के बाद बाहर में चाहे जैसा उपसर्ग आवे, कौल्यू

में पेलते समय भी मुनिराज अन्दर के अतिन्द्रिय आनन्द में रमते रहते हैं। कोई बैरी देव साधु को लवण समुद्र में पटके वहां भी मुनिराज श्रेणि मांडकर केवलज्ञान लेकर सिद्धदशा को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए तो कहते हैं कि एक बार चैतन्य रत्नाकर की ओर दृष्टि करके अनुभव करे, तो तुझे कौनसा फल प्राप्त नहीं होगा ? अल्पकाल में सिद्धपद अर्थात् मुक्ति को पायेगा।

अब चौसठवीं गाथा में मुनिराज कहेंगे लोकालोक का प्रकाशक ऐसे निज आत्मा को जो अनुभवता है, उसकी केवलज्ञान लेने की तैयारी हो गई है। ऐसे धर्मात्मा धन्य-धन्य हैं। हम मुनिराज भी ऐसे मोक्षमार्गी साधक को धन्य-धन्य कहते हैं।

*त्यागी आत्मध्यानी महात्मा ही धन्य है*

**धण्णा ते भवयंत बुह जे परभाव चयंति ।  
लोयालोय-पयासय अप्पा विमल मुणंति ॥६४॥**

**हैं धन्य वे भगवन्त बुध परभाव जो परित्यागते ।  
जो लोक और अलोक ज्ञायक आत्मा को जानते ॥६४॥**

**अर्थ :** जो परभावों का त्याग करते हैं और लोकालोक प्रकाशक निर्मल अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे भगवान ज्ञानी महात्मा धन्य हैं।

जिसने अपने निर्मल शुद्ध स्वभाव को साध्य बनाकर साधा है, ऐसे धर्मी धन्य हैं। देखो ! पैसेवाले तो धूल के धनी हैं, उसे धन्य नहीं कहा। दान में खूब धन खर्च, उसे धन्य नहीं कहा, क्योंकि ये कोई धन्य कार्य नहीं हैं। अन्दर में सत्चिदानन्द ध्रुव लक्ष्मी पड़ी है, उसमें योग अर्थात् जुड़ान करके शुद्ध निर्मल भाव प्रकट करता है वह धर्मी धन्य है।

भगवान आत्मा की परम सम्पदा को रूचिपूर्वक साधते ही जगत के सभी पदार्थों से उदासीन हो जाता है। कदाचित् पुण्योदय से चक्रवर्ती, कामदेव, नारायण, प्रतिनारायण इन्द्र, धरणेन्द्र, अंहमिन्द्र आदि की पदवियाँ प्राप्त हों, तो भी धर्मी को उनमें मोह-ममत्व उत्पन्न नहीं होता। निजपद की पूर्ण साधना करने वाले धर्मी को लौकिक पदवियों की रंच-मात्र भी चाह नहीं है। धर्मानुराग, पंच-परमेष्ठि की भक्ति, शास्त्र वांचन का भाव, पूजन का भाव, अनुकंपा आदि के शुभभाव धर्मी को आते हैं, परन्तु उनका धर्मी को आदर नहीं होता। शुद्ध स्वभाव में स्थिर हो नहीं सकते इसलिए शुभभाव आते हैं किन्तु धर्मी को उन भावों का तथा उनके फल का आदर नहीं है। धर्मी को धर्मप्रभावना

का विकल्प आता है परन्तु उसे छोड़ने लायक ही समझता है। एक निजपद की निर्विकल्प साधना में ही उपयोग को रोकता है, क्योंकि शुद्ध स्वभाव में जितनी एकाग्रता हो उतना स्वयं का लाभ है।

संसार के सर्व प्रपंच जालों से विरक्त होकर, सप्त तत्व और नव पदार्थों आदि के विकल्पों को भी त्याग कर धर्मी जीव एक शुद्धात्मा को ही ध्याता है। तथा परमानंद के अमृत का पान करता है; अन्दर के सुधारस को पीता है। आचार्य-देव कहते हैं ऐसा धर्मी धन्य है, प्रशंसनीय है, वही महाविवेकी है, वही पंडित है, परम ऐश्वर्यवान भी वही है।

घर के एक कौने में बैठा ज्ञानी निज की शांति-शांति और शांति का वेदन करता है, वही धन्य है। परन्तु धनवान, वह ऐश्वर्यवान नहीं है। आत्म सम्पदा को भोगने वाला धर्मी है, ऐश्वर्यवान है। धर्मी जीव निज शुद्धात्मा की प्रतीति, ज्ञान, रमणता रूप रत्नत्रय का धनी है; वही धनवान है। पैसेवाला धनवान नहीं है।

**प्रश्न :** तो फिर पैसेवालों को क्या करना चाहिये ?

**उत्तर :** पैसे वालों को पैसे का मोह छोड़कर, आत्मा की रुचि करके रत्नत्रय प्राप्त करना चाहिये।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य रूप तीनों रत्नों को धारण करने वाला ही भाग्यवान है। अतिन्द्रिय ज्ञान तथा आनंद का स्वामी होकर वह अल्पकाल में मोक्ष पायेगा।

यहां आत्मानुशासन का दृष्टान्त देते हैं कि अतिन्द्रिय आनंद के स्वसंवेदन में मस्त हुए दिगम्बर संतों के शरीर में लगी रेत-मैल ही जिनका आभूषण है, पाषाण की शिला ही जिनके बैठने का आसन है, कंकरीली भूमि ही जिनकी शैया है, सिंह-बाघ की गुफायें ही जिनका सुन्दर घर है, अनुभूति जिनकी गिरिगुफा है तथा जिन्होंने अज्ञान की सभी ग्रन्थियां तोड़ डाली हैं, और ज्ञान आनंद का खजाना खोला है, ऐसे जगत से उदास तथा मुक्ति के प्रेमी सम्यग्ज्ञान के धनी योगीगण हमारे मन को पवित्र करें।

*गृहस्थ या मुनि, दोनों के लिए आत्मरमणता ही सिद्ध-सुख का उपाय है*

**सागारु वि णागारु कु वि जो अप्पाणि वसेई ।**

**सो लहु पावइ सिद्धि-सुहु जिणवरु एम भणेई ॥६५॥**

सागर या अनगर हो पर आत्मा में वास हो ।

जिनवर कहें अतिशीघ्र ही वह परमसुख को प्राप्त हो ॥६५॥

अर्थ : गृहस्थ हो या मुनि कोई भी हो, जो अपनी आत्मा के भीतर वास करता है वह शीघ्र ही सिद्धि के सुख को पाता है, जिनेन्द्र देव ने ऐसा कहा है ।

वर्तमान में कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में आत्म रमणता नहीं हो सकती । आत्मरमणता तो आठवें गुणस्थान में ही होगी, उनके लिये यह गाथा आई है । जिनेन्द्र परमात्मा तीर्थकर देव समवशरण में सौ इन्द्रों की उपस्थिति में ऐसा फरमाते हैं—सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित जीव गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी आत्मा का अनुभव करते हैं । वीतरागी जिनेन्द्र देव की इच्छा रहित वाणी खिरती है, उसमें यह आया है । ऐसी जिनेन्द्र देव की साक्षी देते हुये भी योगीन्द्र देव कहते हैं कि गृहस्थ हो या मुनि, दोनों के लिए आत्मरमणता ही सिद्धिसुख का उपाय है । चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ भी आत्मा में बसता है, बस सकता है । गृहस्थाश्रम में राग होने पर भी उससे निवृत्त होकर धर्मी जीव स्वरूप में बसते हैं-रमते हैं । मुनिराज उग्ररूप से आत्मा में बसते हैं।

समकिति को तीन कषाय चौकड़ियां हैं, श्रावक को दो कषाय चौकड़ियां व मुनिराज को मात्र एक कषाय चौकड़ी है; परन्तु निश्चय से तीनों आत्मा में ही बसे हुए हैं । वे कषाय में, राग में नहीं बसते, क्योंकि उनकी दृष्टि एक आत्मा पर ही है, रागादि हैं, वे उन्हें जानते मात्र हैं ।

समकिति गृहस्थावस्था में रहने पर भी विकल्पों को छोड़कर निर्विकल्प स्वभाव में कभी-कभी बसता है । समकिति की अपेक्षा मुनिराज का पुरुषार्थ विशेष उग्र होने से पुनः पुनः आत्मा में बसते हैं । “ आत्मा अर्थात् शुद्ध भाव का भंडार ” राग को तोड़कर ऐसे निजात्मा के भंडार को खोलता है वह उसी में बसता है । धर्मी को पुण्य-पाप भाव की रुचि, प्रीति नहीं होने से राग के होते हुए भी धर्मी राग में बसता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । धर्मी को एक आत्मा की प्रीति होने से उसके रहने का स्थान एक आत्मा ही है ।

इस गाथा में तीन बातें सिद्ध हुई, एक तो जिसने अन्तर्मुख दृष्टि करके श्रद्धा, ज्ञान तथा लीनता प्रगट की है वह आत्मा में ही बसता है । दूसरी बात, गृहस्थाश्रम में आत्मा में नहीं बस सकते, ऐसा कहने वालों का निषेध किया है । तीसरी बात, धर्मी

को राग रूप व्यवहार होता है, परन्तु उसका स्वामित्व नहीं होता । धर्मी राग से मुक्त ही है । समकिति कहते हैं—

**लगनी लागी मेरे चैतन्य के साथ अन्य भाव को नहीं रे आदरुँ  
धर्म जिनेश्वर गाऊं रंग से, भंग न पड़ना हो प्रीत जिनेश्वर-  
अन्य मन-मन्दिर में आवे नहीं ॥**

अखंड आनन्द स्वरूप प्रभू मेरा आत्मा उसी के मैं गुणगान करता हूँ । पुण्य-पाप के गुणगान मैं नहीं करता, अपने मन-मंदिर में विकल्पों को स्थान नहीं देना यह हमारे कुल की रीति है ।

जहां जिसकी रुचि वहां उसका वास होता है, जहां जिसकी रुचि नहीं वहां उसका वास नहीं होता । जिसने आत्मा में रुचि करके आत्मा में ही वास किया है, वे भले गृहस्थ हों या मुनि दोनों अल्पकाल में सिद्ध-सुख को पायेंगे । जहां जिसकी प्रीति होती है वहीं वह लीन होता है, अन्यत्र लीन होना उसे अच्छा नहीं लगता । जिसे निजात्मा की प्रभुता का दिव्य-संदेश सुनने को मिला है, उसका आत्मा सिवाय अन्यत्र रहना हो सकता नहीं । वनवासी दिगम्बर संत महालक्ष्मी के स्वामी योगीन्द्र देव भगवान की वाणी का आधार लेकर ऐसा फरमाते हैं ।

धर्मी को आत्म-रस के सामने अन्य कोई रस भाता ही नहीं । कहीं सूझ पड़ती ही नहीं, ज्ञानी गृहस्थ हो या मुनि-दोनों ही आत्मा में बसते हैं । भाई ! इस बात का निषेध मत कर । इस वस्तु स्वभाव का निषेध करेगा, तू जिनदेव का बैरी होगा । और जो जिनदेव का बैरी होगा वह आत्मा का बैरी है । मिथ्या-दृष्टि सम्यग्दृष्टि हुआ अर्थात् बहिरात्मा अन्तरात्मा हुआ । जब अन्तरात्मा हुआ तो उसकी दृष्टि में उसके जीवन में कुछ अन्तर होगा या नहीं ? राग में निवास तो बहिरात्मा का होता है, अन्तरात्मा राग में तो बस सकता नहीं, उसका वास तो आत्मा में ही होता है, ऐसा कुछ विचार कर भाई ! सीधा मना मत कर । जिसने आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान, रमणता प्राप्त की, वह गृहस्थ हो या मुनि, अल्पकाल में सिद्ध सुख अवश्य पायेगा ही ।

आ हा हा ! जंगल में रहने वाले वीतरागी संतों को तो देखो । जंगल में जैसे सिंह गर्जना करता है, वैसे ही मुनिराज वस्तु स्वरूप की गर्जना करते हैं । जैसा सिद्ध भगवान आत्मानुभव करते हैं, ठीक वैसा ही आत्मानुभव सम्यग्दृष्टि भी करता है । सिद्ध तथा साधक दोनों एक ही जाति का अतीन्द्रिय आनन्द अनुभवते हैं, उसमें कुछ भी

अन्तर नहीं है। जिस साधन द्वारा अतीन्द्रिय आनंद प्राप्त होता है, वही साधन सिद्ध-सुख का उपाय है।

इसलिए अतीन्द्रिय आनंद ही पूर्णानंद सिद्ध-सुख का साधन है; इसके अलावा अन्य कोई व्यवहार आदि साधन नहीं। स्वानुभव ही निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप रत्नत्रय है। यही मोक्षमहल का सीधा मार्ग है। मुनिराज ने यहां पर विकल्पों का तो चूरा कर डाला, कहीं विकल्पों को तो स्थान ही नहीं। शुभ विकल्प तथा पांच पापों का त्याग रूप शुभ प्रवृत्ति होती है किन्तु ये मोक्षमार्ग नहीं। निश्चय चारित्र तो एक स्वानुभव ही है।

*तत्त्वज्ञानी विरले होते हैं*

**विरला जाणहि तत्तु बुह बिरला णिसुणहि तत्तु ।  
विरला ज्ञायहि तत्तु जिय बिरला धारहिं तत्तु ॥६६॥**

विरले पुरुष ही जानते निज तत्त्व को विरले सुने।

विरले करें निज ध्यान अर विरले पुरुष धारण करें ॥६६॥

**अर्थ :** विरले ही पंडित आत्मानुभव को जानते हैं, विरले ही श्रोता तत्त्व को सुनते हैं, विरले जीव ही तत्त्व को ध्याते हैं, विरले ही तत्त्व को धारण करके स्वानुभवी होते हैं।

आज महावीर भगवान की द्विव्यध्वनि का दिन है। प्रभु को केवलज्ञान तो वैशाख सुदी दशमी को हुआ था, परन्तु छयासठ दिन तक वाणी नहीं खिरी, इसलिए व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि वाणी झेलने वाले गणधर की उपस्थिति नहीं थी इस कारण वाणी नहीं खिरी। परन्तु वास्तव में वाणी खिरने का योग नहीं था इसलिए वाणी नहीं खिरी। पीछे विचार करके इन्द्र इन्द्रभूति-गौतम के पास गया और छह द्रव्य, सात तत्त्व और नव पदार्थों का स्वरूप समझाने के लिये उससे कहा। यह तो गौतम को आता ही नहीं था, इसलिए उसने कहा चलो आपके गुरु के पास; अतः इन्द्र गौतम को भगवान के पास ले आया। जहां गौतम ने समवशरण देखा तहां उसका मान गल गया तथा अन्दर गया तो वहां आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया, उसकी योग्यता थी ना? तुरन्त भगवान की वाणी खिरी। श्रावण बदी एकम के दिन सर्वप्रथम वाणी खिरी, उसे गौतम-गणधर ने झेलकर भावश्रुत रूप से परिणमन कर सूत्र रूपी वाणी को गूथा।

अन्तरमुहुर्त में द्वादशांग की रचना करी । आज के दिन ये रचना हुई थी । उन बारह अंग और चौदह पूर्व का सार क्या है ? वह यहां कहने में आता है—

संयोग, विकल्प तथा एक समय की अवस्था की उपेक्षा करके त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव को आदर करना, ऐसा सार, योगसार के रूप में भगवान की वाणी में आया है। ध्रुव, शाश्वत, एक रूप, अनादि, अनंत ऐसे आत्मवस्तु में एकाकार होकर स्वरूपानंद का वेदन करना, उसे योगसार कहते हैं कि जो मोक्ष का मार्ग है ।

भगवान आत्मा शुद्ध आनंद पिंड है, इसे तो कोई पंडित ही जानता है । शुद्ध आत्म तत्त्व की बात सुनने वाले भी विरले ही होते हैं । इस तत्त्व का ध्यान भी कोई विरले ही करते है ।

आत्म ज्ञान प्राप्त होना बहुत कठिन है, इसलिए अति अल्प जीव ही आत्मज्ञान का लाभ पा सकते हैं । आत्म तत्त्व की बात कहने वाले तो दुर्लभ हैं, परन्तु उसे सुनने वाले भी दुर्लभ ही हैं । जिसे निमित्त की, व्यवहार की और रागादि की बात रुचती है, उसे आत्म स्वभाव की बात-नहीं रुचती ।

अंतर में भगवान आत्मा की ओर झुकाव करके, स्वरूप को ध्येय बनाकर उसका ध्यान करने वाले जीव भी विरले हैं । पुण्य करना या उसका फल-इन्द्रपद-चक्रवर्ती आदि की पदवी मिलना दुर्लभ नहीं कहा, परन्तु आत्म-ध्यान करना दुर्लभ है ऐसा कहा। इस कारण ध्यान करने वाले जीव जगत में दुर्लभ हैं । राग रहित वीतराग आत्मा की वीतरागी परिणति प्रगट करके उसकी धारणा करना महा-दुर्लभ है । इस धारणा को स्मृति में लेकर बारंबार अनुभव करने वाले जीव बहुत ही विरले हैं । दिव्य ध्वनि में आई हुई यह बात है ।

शास्त्रों की धारणा, शब्दों की धारणा करने वाले तो जगत में बहुत हैं । परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान में अर्थात् अनुभव में जो आत्मा आता है, उसकी धारणा करने वाले जीव बहुत थोड़े हैं । बहुत ही थोड़े जीव इस अनुपम तत्त्व का लाभ ले सकते हैं; क्योंकि मनरहित असैनी पंचन्द्रिय तक के जीवों में तो विचार करने की शक्ति ही नहीं, तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में नारकी तो रात-दिन कषाय के कार्यों में लगे हैं । पशुओं में भी आत्मज्ञान पाना अति दुर्लभ है । देवों में विषयों की अति तीव्रता है तथा वैराग्य-भावना की दुर्लभता है ।



मनुष्य गति में ही आत्मज्ञान प्राप्ति का साधन सुगम है तो भी उसकी प्राप्ति अति दुर्लभ है, क्योंकि मनुष्यों में कितने तो रात-दिन शरीर की अनुकूलता बनाये रखने में ही लगे रहते हैं। कितने ही व्यवहार की रुचि वाले व्यवहार के ग्रन्थों को ही पढ़ते-सुनते हैं। अध्यात्म के ग्रन्थों को पढ़ने-सुनने को उन्हें समय ही नहीं अर्थात् दरकार ही नहीं। न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक आदि के पंडित तो बन जाते हैं। अध्यात्म शास्त्रों को सूक्ष्मदृष्टि से कोई बांचता-विचारता ही नहीं। व्यवहार करते-करते धर्म हो जायेगा ऐसा मानते हैं; किन्तु असंग, निर्विकल्प, वीतराग तत्त्व को समझ कर मनन करने वाले बहुत थोड़े जीव हैं।

भगवान आत्मा के भीतर अकेली वीतरागता भरी है। मात्र चैतन्य रत्न ही भरे हैं। उसमें राग-द्वेष रूप विकार को कोई स्थान ही नहीं। निश्चय नय से एक अपना आत्मा ही आराध्य देव है; इस बात का व्यवहारी जन विश्वास ही नहीं कर सकते। वास्तव में आराधने योग्य, सेवने योग्य तो अपना निज आत्मा ही है। वीतराग देव तो व्यवहार से आराध्य देव हैं। ऐसी बात आध्यात्म शास्त्रों में भरी है, उन्हें कोई सूक्ष्म दृष्टि से वांचता-सुनता नहीं।

आचार्य कुंदकुंद देव भी समयसार में कहते हैं कि इस जीव ने राग की कथा सुनी है, परिचय किया है और अनुभव किया है, परन्तु राग से भिन्न और स्वभाव से अभिन्न आत्मा की बात कभी नहीं सुनी। निमित्त और राग से भिन्न भगवान आत्मा की बात सुनने को मिलना भी अति दुर्लभ है। निमित्त से, रागादि व्यवहार से आत्मा जाना जा सकता है, ऐसा मानने वालों को, निमित्तादि से आत्मा जानने में नहीं आ सकता, ऐसी बात स्वीकार करना भी बड़ा कठिन पड़ता है। स्वभाव से एकत्व और विभक्त आत्मा की बात जगत को सुनना दुर्लभ है, परिचय करना दुर्लभ है तथा अनुभव में लेना तो अति दुर्लभ है।

कितने ही लोग क्रियाकांड से धर्म मानते हैं, जबकि क्रियाकांड से तो धर्म होता नहीं भगवान आत्मा और उसका आनंद गुण ऐसे गुणभेद के लक्ष से भी धर्म नहीं होता। ऐसा कहने वाले विरले ज्ञानी कदाचित मिल जावे तो सुनने वाले रुचिवंत श्रोता मिलना दुर्लभ है।

भाई ! तू जो निर्दोष दशा अर्थात् रत्नत्रय प्रगट करना चाहता है, ऐसी अनंत पर्यायों का पिंड तू स्वयं ही तो है। इससे अन्य तुझे और क्या चाहिए ? रुचिवंत जीवों

के लिए यह बात है। ऐसे जीव दुर्लभ हैं। आत्मानुभूति करने वाले जीव तो अत्यन्त दुर्लभ हैं।

यह मनुष्य जन्म प्राप्त करके निर्मल अनुभूति प्रगट करने का उपाय जरूर करना चाहिये। जिसे आत्मज्ञान की रुचि हो उसे मार्ग मिलता ही है। उस मार्ग से जीव सीधा मोक्ष में पहुंच जाता है।

इस भयानक संसार में भ्रमते हुए जीव को आत्मज्ञान रूपी महारत्न कहीं मिला ही नहीं। यदि अब तुझे यह रत्न मिला हो-आत्मज्ञान हुआ हो तो जरा भी प्रमाद नहीं करना। विषयों की लोलुपता में यह रत्न खो न जाय उसका ध्यान रखना। यह बात “सार समुच्चय” में ली है तथा पंडित टोडरमलजी भी “रहस्य पूर्ण चिट्ठी” में लिखते हैं—आत्मा की अनुभूति में रहना, बाहर में खो मत जाना। यह चिट्ठी तो ऐसी अमूल्य है, कि एक व्यक्ति ने लिखा है कि यदि यह चिट्ठी अंग्रेजी में होती और विलायत में पहुंची होती तो एक-एक चिट्ठी की कीमत करोड़ों रुपया होती।

*कुटुम्ब मोह त्यागने योग्य है।*

**इहु परियण ण हु महत्तणड इहु सुहु-दुक्खहँ हेउ ।  
इम चिंतंतहँ किं करइ लहु संसारहँ छेउ ॥६७॥**

**‘सुख-दुःख के हैं हेतु परिजन किन्तु वे परमार्थ से ।  
मेरे नहीं’- यह सोचने से मुक्त हों भवभार से ॥६७॥**

**अर्थ :** यह कुटुम्ब परिवार मेरा निश्चय से नहीं है। यह भाव सुख-दुःख का ही कारण है, इस प्रकार कुछ विचार करने से संसार का छेद शीघ्र ही कर दिया जाता है।

धर्मात्मा जीव को निज आत्म स्वभाव में योग नाम जुड़ान-एकाग्रता करने के लिए कुटुम्ब संबंधी ममत्व भाव छोड़ने योग्य है। कुटुम्ब के मोह में रुककर आत्मध्यान की उपेक्षा करना योग्य नहीं। कुटुम्ब-परिवार ये तो लुटेरों की टोली है, नियमसार में आता है ना? अपने स्वार्थों के लिए, अपना पेट भरने के लिए लुटेरों की मंडली इकट्ठी हुई है। स्त्री, पुत्र, परिवार आदि लौकिक सुख-दुःख के अर्थात् दुःख के ही निमित्त हैं। उनके पालन-पोषण में रुकना नहीं, आत्मा की कीमत करके आत्मा का ध्यान करना।

**प्रश्न :** कुटुम्ब के व्यक्तियों को भूखे मरने देना ?

**उत्तर :** अरे ! भूखा कौन मरे ? सभी को अपने-अपने पुण्य के अनुसार मिल ही जाता है । उसका भरण-पोषण तू ही करेगा तो होगा ऐसा नहीं है । वे अपने कारण आये हैं, और अपने ही कारण टिक रहे हैं तथा अपने ही कारण चले जावेंगे । तेरा और उनका कोई संबंध नहीं । इस प्रकार मोह छोड़कर अन्दर में एकाकार नहीं होगा तो एकाग्रता/योगसार नहीं होगा । जहां शरीर ही मेरा नहीं, वहां शरीर के सम्बन्धी मेरे कैसे होंगे ? सभी मेरे शरीर को ही पहचानते हैं—यह मेरा पुत्र है और यह मेरा पिता है । आत्मा को तो कोई पहचानता ही नहीं ।

इन्द्रिय सुख को चाहने वाले जीव इन्द्रिय विषयों के सहकारी कारणों को नहीं छोड़ते । स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, मकान, बड़प्पन ये सभी मेरे सुख साधन हैं, ऐसा मानने वाला इनकी रुचि नहीं छोड़ सकता । बाल्यकाल में माता-पिता द्वारा पालन-पोषण तथा लाड़-प्यार मिलता है । इसलिए बालक को माता-पिता के प्रति तीव्र मोह होता है । जवानी में स्त्री तथा पुत्र-पुत्रीयों से सुख प्राप्त करता है, इससे उन पर मोह करता है । जिस मित्र तथा नौकर चाकर से इन्द्रिय सुख में सहकार मिलता है; उन्हें मानकर राग करता है और जो इन्द्रिय सुख में बाधक पड़ते हैं, उन्हें बुरा समझकर द्वेष करता है । इस तरह सभी प्राणी इन्द्रिय-सुख के स्वार्थ के खातिर दूसरों से मोह करते हैं । परन्तु आत्मा का सुख वही वास्तविक सुख है, और इन्द्रिय सुख तो दुःख ही है, ऐसी जिसे प्रतीति उत्पन्न हो वह इन्द्रिय सुख के निमित्तों को सहकारी मानना छोड़ देता है ।

जैसे कमल जल को स्पर्श नहीं करता, उससे अलिप्त ही रहता है । वैसे ही जिसने निजात्मानुभव करके अतीन्द्रिय सुख प्राप्त किया है, ऐसा धर्मी जीव गृहस्थाश्रम में भी जल कमलवत् निर्लेप रहता है ।

स्त्री, पुत्रादि मेरे आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं । आत्मा के साथ इनका कोई संबंध नहीं । उनका संयोग तो वायु समान चंचल है । वायु से जिस प्रकार पत्ते इधर-उधर उड़ते हैं उसी प्रकार पूर्व के पुण्य-पाप के अनुसार क्षणिक संयोग आते हैं और चले जाते हैं । इन्द्रिय सुख का लोलुपी अतीन्द्रिय सुख से अनजान मूर्ख जीव अनुकूल संयोग में ऐसी कल्पना करता है कि मानों मुझे स्वर्ग ही मिल गया । परन्तु आत्मानुभव द्वारा अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करने का वह प्रयत्न ही नहीं करता ।

केवलज्ञान लक्ष्मी का स्वामी है, ऐसे आत्मा की पहचान करके अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट करने की भावना मोक्षार्थी जीव ही करते हैं। विषयलोलुपी जीव तो अपने पुण्याधीन प्राप्त क्षणिक अनुकूल संयोगों में ही सच्चा सुख मानकर अटक जाता है। उसे अतीन्द्रिय सुख की रुचि होती ही नहीं।

अन्दर में सुख का पिंड-भगवान आत्मा बिराजमान है। उसकी दृष्टि नहीं करता और बाह्य क्षणिक संयोगों में सुख मानता है, यह भ्रम है।

*संसार में कोई अपना नहीं है*

**इंद्र-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति ।  
असरणु जाणिवि मुणि-धवला अप्पा अप्प मुणंति ॥६८॥**

नागेन्द्र इन्द्र नरेन्द्र भी ना आत्मा को शरण- दें ।

यह जानकर हि मुनीन्द्रजन निज आत्मा शरणा गहें ॥६८॥

अर्थ : इन्द्र, धरणेन्द्र व चक्रवर्ती कोई भी संसारी प्राणियों के रक्षक नहीं हो सकते, उत्तम मुनि अपने को अशरण जानकर अपने आत्मा द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं।

आत्मज्ञानी-ध्यानी महामुनि संत योगीन्द्र देव जगत के समक्ष करुणा पूर्वक कहते हैं कि इन्द्र, धरणेन्द्र या चक्रवर्ती कोई भी इस संसारी जीव का रक्षक नहीं हो सकता। प्रत्येक को अपना-अपना आत्मा ही शरण है—दातार-रक्षक है। इसलिए मुनिराज स्वयं अपना शरण लेकर निज को ध्याते हैं।

‘निजरूप वेदे आप’ ऐसा कहकर यह कहना है कि व्यवहार तथा निमित्त द्वारा आत्मानुभव हो सकता नहीं। शुद्ध वीतराग प्रभु निज आत्मा का शुद्ध वीतरागी परिणति द्वारा ही अनुभव हो सकता है। इसके सिवाय अनुभव का दूसरा उपाय नहीं है; ऐसा प्रथम निर्णय करना चाहिये।

जीव को जब प्रतिकूलता का या मरण का समय आता है तब उससे उसे छुड़ाने के लिए कोई समर्थ नहीं। चक्रवर्ती जैसे को भी मरण समय छह खंड का राज्य छोड़कर जाना पड़ता है।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सात सौ वर्ष की आयु भोगकर अंत समय में हीरों के पलंग पर सो रहा था। हजारों देव जिसकी सेवा में हाजिर थे, छयानवें हजार रानियां सामने खड़ी थीं। ऐसा ब्रह्मदत्त तैतीस सागर की आयु बांधकर सीधा सातवें नरक में गया।

वहां विलाप करता है—अरे रे ! मुझे यहां कोई शरण नहीं । भाई ! तूने अपने आत्मा को जाना नहीं । विकल्प भी जहां शरण नहीं, वहां संयोग तो क्या शरण देंगे ? अनंत सामर्थ्य का धनी आत्मा, उसकी दृष्टि तो कभी की नहीं, तो इसके बिना कौन शरण देगा ? भगवान भी शरणदाता नहीं । अपना आत्मा ही अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वमुनि, पांचों पद स्वरूप हैं, वही शरण दाता हैं ।

इस प्रकार ज्ञानी जीव को अशरण भावना भाकर कर्मक्षय का उपाय करना योग्य है क्योंकि कर्मों का संयोग एक समय के लिए भी लाभकारी नहीं ।

श्री समयसार में भी कहा है कि मैं पर जीव को सुखी-दुखी कर सकता हूँ यह मान्यता महा-मिथ्यात्व है । सभी अपने पूर्व कर्म के उदय के अनुसार आयु और संयोग लेकर आते हैं । उसमें कोई अन्य जीव फेरफार कर सकता नहीं । वृहद सामायिक पाठ में आया है कि जब मरण आता है तब वैद्य, ब्राह्मण, स्त्री, पुत्र, माता-पिता, नौकर-चाकर या इन्द्र आदि कोई भी बचा नहीं सकता । शरणभूत एक निज आत्मा ही है, ऐसा विचारकर सज्जनों को आत्मिक काम करने में देर नहीं लगाना चाहिये । ऐसा मनुष्य देह, उत्तम कुल तथा जैनधर्म मिलने के बाद आत्महित के कार्य में विलंब नहीं करना चाहिए । आज ही करना चाहिये । श्री आचार्य अमृतचन्द श्री प्रवचनसार की टीका में कहते हैं कि आज ही तेरा हित साध ले विलंब मत कर ।

पूर्णानंद का नाथ चैतन्य रत्नाकर ऐसे निजात्मा में दृष्टि करते ही निधान प्रगटे ऐसा है, बाहर नजर करते ही होली सिलगे जैसा है, विकल्प उठते हैं, आकुलता होती है और निराकुल स्वभाव में दृष्टि करने से पर्याय में निराकुलता प्रगटेगी । इसलिए हे जीव ! स्वभाव दृष्टि करने में तू किंचित् भी विलंब न कर । आज ही कर, अभी ही कर।

*जीव सदा अकेला है*

**इक्क उपज्जइ मरइ कु वि दुहु सुहु भुंजइ इक्कु ।  
णरयहँ जाइ वि इक्क जिउ तह णिव्वाणहँ इक्कु ॥६६॥**

**जन्मे-मरे सुख-दुःख भोगे नरक जावे एकला ।  
अरे ! मुक्तीमहल में भी जायेगा जिय एकला ॥६६॥**

**अर्थ :** जीव अकेला ही जन्मता है व अकेला ही मरता है, अकेला ही दुःख या सुख भोगता है, अकेला ही जीव नरक में जाता है तथा अकेला जीव ही निर्वाण को प्राप्त होता है ।

जीव अकेला ही जन्मता है और देह छोटे तब अकेला ही परलोक में जाता है, कोई स्वजन साथ में जाते नहीं जीवन पर्यन्त जैसे भाव किये थे उनके अनुसार जीव मरकर अकेला ही अन्य गति में जाता है । नरक में जावेगा भी अकेला और स्वभाव दृष्टि करके आत्मा में लीन होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मुक्ति में भी जीव अकेला ही जाता है । वहां देव शास्त्र गुरु या संघ साथ में नहीं जाता । स्वरूप में एकाग्रता करके अपना आत्मा ही अपने को मुक्ति प्राप्त कराता है, इसमें कोई मदद नहीं करता।

इस गाथा में एकत्व भावना पर विचार किया गया है । चार गति के भ्रमण में अनेक जन्मों में इस जीव को अनेक माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र, मित्र तथा जड़ वस्तुओं का संयोग हुआ और छूटा । आत्मा तो अकेला ही रहा । कोई साथ आया नहीं, इसलिए हे जीव ! ऐसा विचार कर तू अपना हित शीघ्र करले ।

जीव जैसे शुभ-अशुभ भाव करते हैं, वैसे कर्म बंधते हैं और वैसा ही उनका फल मिलता है । एक दृष्टान्त आता है—छोटा भाई बीमार था, बड़े भाई ने उसे अच्छा करने के लिए, उसे खबर पड़े बिना ही मांस-अंडा खिलाये । मरकर दोनों भाई नारकी हुये। वहां छोटा भाई बड़े भाई को मारने लगा तो बड़ा भाई बोला—अरे ! मैंने तो तेरे लिए पाप किया था और तू ही मुझे मार रहा है ? छोटा भाई बोला—मुझे तो खबर ही नहीं थी तूने मेरे लिए पाप क्यों किया ? मैं तो मारूँगा । इस दृष्टान्त से प्रत्येक जीव को विचार करना चाहिये । कुटुम्बीजन भागीदार नहीं होते । इसलिए पाप करने से पहले जीव को विचारना चाहिये ।

प्रत्येक जीव की सत्ता भिन्न-भिन्न, प्रत्येक के भाव अलग-अलग हैं । सभी का कर्म बंधन पृथक्-पृथक् है । प्रत्येक का साता-असाता का भोग तथा संयोग भिन्न हैं । संयोगों को कोई भोग सकता नहीं, सभी अपने-अपने राग-द्वेष को भोगते हैं ।

चार सगे भाई हों, उनमें से एक धनवान होकर सांसारिक सुख भोगे, दूसरा निर्धन होकर कष्ट का जीवन निर्वाह करे । एक विद्वान होकर देश मान्य हो जाये तो दूसरा मूर्ख रहकर निरादर पावे । इसी प्रकार श्रेणिक तथा अभयकुमार का खूब प्रेम था । एक थाली में साथ ही भोजन करते थे; किन्तु श्रेणिक मरकर नरक में गया और

अभयकुमार मरकर स्वर्ग में गया । जिसके जैसे भाव हों, वैसा उसे फल मिलता है । एक ही साथ रहने और खाने वाले भी एक नरक में और एक मोक्ष में जाते हैं । ये सब भावों की विविधता है । इसलिए तेरे परिणाम तू सुधार । निज आत्मा आनंदकंद है उसकी दृष्टि करके ध्यान-अनुभवकर । यही मोक्ष का मार्ग है अन्य नहीं । संसार में प्रत्येक जीव अपने स्वार्थ के सगे हैं । स्वार्थ न सधे तो स्त्री-पुत्र, मित्र भी त्याग देते हैं । इसलिए किसी के ऊपर ममत्व किये बिना अपना हित कर लेना चाहिए ।

नौका में कितने ही मनुष्य एक साथ बैठे रहते है, किन्तु जाते हैं सभी अपने अपने नगर को। उसीतरह कुटुम्ब में अनेक जीव इकट्ठे होते हैं, परन्तु मरकर कोई स्वर्ग, कोई नरक, कोई तिर्यच, कोई मनुष्य और कोई मोक्ष में जाता है । कोई किसी का साथीदार नहीं । इसलिए किसी पर भी राग-द्वेष न करके समभाव करना चाहिये।

दया, दान, पूजादि के भाव पुण्य भाव हैं । हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भाव पाप भाव हैं । दोनों भावों से अपने को निराला जानकर स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान तथा ध्यान करना यही शुद्धि की उत्पत्ति, वृद्धि और मोक्ष का उपाय है । रत्नत्रय की आराधना करके जीव अकेला ही मोक्ष पाता है ।

प्रत्येक जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न-भिन्न हैं । प्रत्येक जीव परम शुद्ध है। शुद्ध स्वभाव में अष्टकर्म, शरीर, विभावभाव तथा अन्य किसी का संयोग नहीं, वह तो असंयोगी तत्व है । निरंजन निज परमात्मा की श्रद्धा, ज्ञान, रमणता करना, यह मोक्षमार्ग है । यह स्वयं के स्वतंत्र पुरुषार्थ से होता है, इसमें कोई सहायक नहीं होता ।

*निर्माही हो आत्मा का ध्यान कर*

**एक्कुलउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि ।**

**अप्पा ज्ञायहि णाणमउ लहु सिव-सुख लहेहि ॥७०॥**

**यदि एकला है जीव तो परभाव सब परित्याग कर ।**

**ध्या ज्ञानमय निज आतमा अर शीघ्र शिवसुख प्राप्तकर ॥७०॥**

**अर्थ :** यदि तू अकेला ही जायेगा तो राग, द्वेष, मोहादि परभावों को त्याग दे । ज्ञानमय आत्मा का ध्यान कर तो शीघ्र ही मोक्ष का सुख पायेगा ।

हे आत्मन ! तू अकेला ही है, इसलिए मोह, राग, द्वेषादि सर्व परभावों को त्यागकर निर्मलानंद, ज्ञानमय सदा शुद्ध पवित्र निज आत्मा का ध्यान कर । इससे तुझे शीघ्र मुक्ति सुख मिलेगा ।

आत्मा जानन-स्वभावी है। जहां-जहां ज्ञान, वहां-वहां मैं हूँ और जहां जहां ज्ञान नहीं, वहां-वहां मैं नहीं हूँ। भक्ति में, रागादि भावों में ज्ञान नहीं, इसलिए वे मैं नहीं। मैं चैतन्यमात्र हूँ। ऐसे ज्ञानमय आत्मा को जानकर उसी में एकाग्र होना योगसार है।

हे भव्य जीवो ! तुम ऐसा काम करो जिससे आत्मा अपनी ज्ञान भूमिका में आजावे। देह छूटने के पहले यह प्रयत्न कर लो। घर जले तब कुंआ खोदने नहीं बैठा जाता। इसलिए मरने के पहले आत्मा का यत्न कर लो। मनुष्य देह से ही शिवपद मिल सकता है। देव, नारक पशु गति से शिवपद नहीं मिलता। इसलिए ये अमूल्य अवसर खोने जैसा नहीं है।

रागादि परभाव तेरी ज्ञान भूमिका से बाहर हैं। बाहर के संयोगों में तो आत्मा को एकाग्र होने का कोई स्थान नहीं, अपने मोह, राग, द्वेष भाव में भी कहीं एकाग्र होने का स्थान नहीं। भाव में स्थिर होने का स्थान जानकर, स्वभाव में परम रुचिवान बनकर उसमें ही मग्न होने अर्थात् आत्मिक आनंद प्राप्त करने का उद्यम कर। अखंड ज्ञानमय वस्तु यह मेरा द्रव्य, असंख्यात प्रदेश यह मेरा क्षेत्र, एक समय की पर्याय यह मेरा काल तथा ज्ञान, दर्शन सुख वीर्य आदि मेरा शुद्ध भाव है। यही खरेखर मेरा सर्वस्व है। जिस भाव में पर का आश्रय है वह भाव मेरा नहीं। मैं तो एकाकार, अखंड, शुद्ध, स्वसंवेदनगम्य, एक, अविनाशी पदार्थ हूँ। उसके श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र ये मेरे स्वभाव हैं, यही एक मोक्षमार्ग है।

*पुण्य को पाप जाने वही ज्ञानी है*

**जो पाउ वि सो पाउ मुणि सब्बु इ को वि मुणेइ ।  
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेई ॥७१॥**

हर पाप को सारा जगत ही बोलता—यह पाप है।

पर कोई विरला बुध कहे कि पुण्य भी तो पाप है ॥७१॥

**अर्थ :** जो पाप है उसको पाप जान, सब कोई उसे पाप ही मानते हैं ; जो कोई पुण्य को भी पाप कहता है वह बुद्धिमान कोई विरला ही है।

हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, अब्रह्म आदि के भावों को तो सारा जगत पाप कहता है। परन्तु दया-दान, अहिंसा, सत्य आदि पुण्य भावों को भी पाप कहने वाले विरले ही ज्ञानी हैं। पुण्य पाप है ऐसा यहां सिद्ध करते हैं।



ज्ञानी को भी अशुभ से बचने के लिए शुभ भाव आते हैं परन्तु निजात्मरूपी अमृत स्वरूप से च्युत होकर पुण्य भाव में आना, यह निश्चय से पाप है। पुण्य का फल जहर है। पुण्य के फल में संसार ही फलता है। इसलिए ज्ञानी पुण्य को भी पाप कहते हैं। निश्चय से अपने शुद्ध स्वरूप को छोड़कर जो भी शुभ-अशुभ भाव आते हैं, वे सभी अपवित्र भाव हैं, अमृत अर्थात् आनंद को लूटने वाले हैं, सहायक नहीं, इस कारण सभी शुभाशुभ भाव पाप हैं। सर्वज्ञ देव दिव्यध्वनि में फरमाते हैं—आनंद तेरे आत्मा में ही है, परभावों में तो अकेला दुःख ही है।

श्रीकुंदकुंदाचार्य समयसार की गाथा २६५ में कहते हैं—प्रथम में प्रथम आत्मा और बंध का लक्षण जानकर दोनों का भेदज्ञान करना है। आत्मार्थी को प्रथम में प्रथम कर्तव्य यह है कि ज्ञानस्वरूपी आत्मा को पहचान कर उसकी श्रद्धा करना और बंध तत्व को पहचान कर उसका सर्वथा छेद करना। जिसे भव भ्रमण से छूटना हो तो पुण्य-पाप भावों को सर्वथा छोड़ करके अमृत स्वरूप आत्मा का ध्यान करना चाहिये।

हे भाई ! तू सर्वज्ञदेव की वाणी सुनकर, विचारकर पहले सत्य निर्णय तो करा जहां निर्णय का ही ठिकाना नहीं वहां सत्य मार्ग कहां से हाथ आयेगा ? पुण्य-पाप भाव बंध तत्व हैं और निज आत्मा अबंध स्वरूपी है इन दोनों का भेद विज्ञान करना है। पुण्य-पाप भाव मेरा स्वरूप ही नहीं, ऐसा पहले निश्चय करके अबंध स्वरूप निज पावन परमात्मा की श्रद्धा, ज्ञान, अनुभव करना; यही मोक्ष मार्ग है।

साधारणतया सभी जीव पापभाव को हेय और पुण्यभाव को उपादेय मानते हैं। पुण्य के फल में सुख की आशा रखते हैं; क्योंकि पुण्य से इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, आदि महावैभव युक्त पदवियां प्राप्त होती हैं। ये पदवियां भी दुःख स्वरूप हैं। पुण्य-पाप भाव दोनों एक ही जाति के हैं। दोनों का फल संसार और दुःख ही है। ऐसा जानने वाले तो कोई विरले विद्वान ज्ञानी ही होते हैं। जिसके कारण संसार में रहना पड़े, विषय-भोगों में फंसना पड़े, स्वाधीनता का घातक हो ऐसा पुण्य भी पाप ही है-ऐसा ज्ञानी मानते हैं।

आत्मा तो महासामर्थ्यवान है। विपरीत पुरुषार्थ हो तो समवशरण में तीर्थकर देव के समझाने पर भी न समझे और सीधा पुरुषार्थी समकिति ऊपर से अग्नि की वर्षा बरसे परिषहों का पार न हो तो भी अपनी श्रद्धा से डिगाने पर भी नहीं डिगता। ऊपर से देव आकर परीक्षा करें-पुण्य से लाभ मानेगा तो तुझे परिषहों से बचाऊंगा,

नहीं तो मार डालूँगा, ऐसा प्रसंग आने पर भी नहीं डिगता । वह जानता है कि कौन, किसको मार सकता है ? हम तो पुण्य-पाप भाव रहित आत्मा से ही लाभ मानते हैं । पुण्य से लाभ तीन काल में भी नहीं मानते ।

ज्ञानी को आत्मा के आनंद के सामने अन्यभाव तुच्छ लगते हैं । पुण्य-पाप भाव दोनों दोष हैं । बंधन की अपेक्षा दोनों समान हैं । दोनों के बंधन के कारण कषायों की मलिनता है । दोनों का अनुभव स्वाभाविक अनुभव से विरुद्ध, अतीन्द्रिय शुद्ध भाव से दोनों ही विपरीत हैं । इसलिए ज्ञानी पाप के समान ही पुण्य को भी लाभदायक नहीं मानते ।

पुण्य-पाप भाव में तन्मय होनेसे बंधन होता है इसलिए वे मोक्ष-मार्ग के विरोधी हैं । आत्मिक धर्म को लूटने वाले हैं । वीतराग मार्ग की ऐसी बात पामर नहीं झेल सकता । ज्ञानी दोनों भावों को दुःख का कारण जानकर उनसे विरक्त रहते हैं ।

एक शुद्धोपयोग ही को कर्मक्षयकारक, आनंददायक मानते हैं । उसे ही मोक्ष का कारण जानते हैं ।

धर्मी की दृष्टि आत्मा पर होने से उसकी ऐसी भावना होती है कि मैं निरंतर अपने आत्मबाग में ही रमूं । आत्मा में ही एकाग्रता करके निरंतर वीतराग भाव की सेवा करूं । तथा सिद्ध समान अपने पद में ही प्रेम करूं ।

ज्ञानी को अभी भी आत्मवीर्य (आत्मबल) की कमी होने से कर्मोदयवश गृहस्थ के योग्य सभी कार्य करने पड़ते हैं । दया, दान, पूजा, भक्ति भी करते हैं किन्तु उनके पीछे उन्हें पांच इन्द्रियों के भोगों की लालसा नहीं । पुण्य बंध और पुण्य फल की चाहना नहीं । जिनसे अपना शुद्ध स्वरूप बंधन में आ जावे ऐसे भावों को ज्ञानी हितकर कैसे माने ? नहीं मानते । धर्मी-ज्ञानी अपने शुद्ध स्वरूप के रुचिवंत मुक्ति पथ के पथिक हैं, संसार के पथिक नहीं । इसलिए पुण्य तथा पाप दोनों को बंधकारी समान जानकर बंधन से छूटने के लिए उत्सुक हैं ।

जिसे आत्मा का पवित्र धर्म प्रगट करना है; पूर्णानंद स्वरूप मोक्ष की जिसे भावना है; उसे सर्व पुण्य-पाप छोड़ने योग्य हैं । उसकी दृष्टि में आत्मा का ज्ञान और रुचि होती है । जिसे पुण्य भाव की रुचि नहीं होती वही सच्चा मोक्षार्थी है ।

पुण्य कर्म सोने की बेड़ी है

जह लोहम्मिय णियउ बुह तह सुण्णम्मिय जाणि ।

जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि ॥७२॥

लोह और सुवर्ण की बेड़ी में अन्तर है नहीं ।

शुभ-अशुभ छोड़ें ज्ञानिजन दोनों में अन्तर है नहीं ॥७२॥

अर्थ : हे पंडित ! जैसे लोहे की बेड़ी है वैसी ही सुवर्ण की बेड़ी है ऐसा समझा जो शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के भावों का त्याग करते हैं वे ही निश्चय से ज्ञानी हैं ।

बनवासी दिगम्बर संत कहते हैं हे भाई ! पापभाव लोहे की बेड़ी तथा पुण्यभाव सोने की बेड़ी है । बंधन कारक भावों से रहित अबंध स्वभावी आत्मा की दृष्टि कर तो तू सच्चा पंडित है । प्रथम तो ज्ञान में ऐसा ले कि पुण्य-पाप दोनों बंधन हैं, पीछे उन दोनों भावों का त्याग कर अर्थात् शुभ-अशुभ भावों की दृष्टि छोड़कर पूर्ण शुद्ध निजस्वरूप में आ जा । पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा मानने वाला तो मिथ्यादृष्टि है । पुण्य-पाप भावों में चैतन्य का नूर नहीं । दोनों ही कर्म जीव को संसार में फंसाने वाले हैं । इसलिए मोक्षमार्गी को उचित है कि इन दोनों भावों को संसार बंधन का कारण जानकर उनकी रुचि छोड़कर मुक्ति मार्ग का उपाय करे ।

जैसे क्रोध, मान, लोभ, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म आदि के अशुभ भावों से घातिया कर्म बंधते हैं उसी प्रकार शुभ भावों से भी घातिया कर्म बंधते हैं । घातिया कर्म अकेली पाप प्रकृतियां ही हैं । अघातिया कर्म में पुण्य भाव से अनुकूल संयोग मिले ऐसा शुभ कर्म बंधता है और पाप भाव से प्रतिकूल संयोग प्राप्त हों, ऐसा अशुभ कर्म बंधता है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि चार घातिया कर्मों में शुभाशुभ दोनों भावों से पाप बंध ही होता है । इसलिए अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद लिया है ऐसे धर्मी जीव को शुभभाव में, उसके फल में प्राप्त पांच इन्द्रियों के विषयों में रुचि नहीं है । उनमें सुख बुद्धि नहीं होती, कारण कि पुण्य परिणाम से भी आत्मघात ही होता है ।

पुण्य फल में प्राप्त विषयों में फंस जाने के कारण अज्ञानी जीव नरक, निगोद आदि में चला जाता है । “श्रीपरमात्मप्रकाश” में योगीन्द्र देव लिखते हैं—पुण्य के फल में वैभव मिले और वैभव के अभिमान में मति भ्रष्ट होती है । ऐसा जीव नरक में चला जाता है । पुण्य के फल में देवपद मिले, तृष्णा के कारण देव के वैभव भोगने की इच्छा से अर्थात् लोलुपता से मिथ्यादृष्टि जीव वहां भी दुःखी ही है, वहां से सीधा एकेन्द्रिय

आदि हल्की पर्यायों में चला जाता है। दूसरे स्वर्ग तक के देव मर कर एकेन्द्रिय भी हो सकते हैं। बारहवें स्वर्ग तक के देव मरकर पशु हो सकते हैं। उसे आगे के देव मरकर मनुष्य ही होते हैं। स्वर्ग में भी तृष्णा के रोग से पीड़ित हैं। इसलिये श्रीमद् रायचंद ने कहा है—“आत्म भ्रान्ति सम रोग नहीं”। आत्मा को भूलकर इन्द्रिय सुख तथा पुण्य में प्रीति रखना यही आत्मभ्रान्ति का रोग है। इसके समान अन्य कोई बड़ा रोग नहीं है।

स्वयं भगवान होने पर भी अज्ञानी बाह्य संयोगों से, मकान से, स्त्री से, पुत्र से, दौलत आदि जड़ वस्तुओं से सुख की भीख मांगता है। इसे तो तृष्णा रूपी क्षय रोग (टी. बी.) लगा है। इस रोग से पीड़ित होकर इन्द्रियविषयों से सुख की भीख मांगता है; किन्तु प्रतिकूलता, रोग, निर्धनता आदि दुःख के साधनों के मिलने से जैसी आकुलता होती है, वैसी ही आकुलता तृष्णा रूपी रोग से होती है। इस जीव ने अनंत बार देव, मनुष्य, बड़े राजा आदि के वैभव प्राप्त किये परन्तु यह तृष्णा रोग मिटा नहीं; क्योंकि आत्मा के आनंद की रुचि बिना तृष्णा की दाह शमन हो सकती नहीं।

धर्मी जीव पांच इन्द्रियों के विषयों को हेय-छोड़ने लायक समझते हैं इसलिए विषयसुख के कारणभूत पुण्य भाव को भी हेय मानते हैं। इसके विपरीत अज्ञानी जीव इन्द्रिय विषयों में सुख मानता है। इसलिए उसके पुण्य कर्म के बंध को भी सुखरूप मानता है और इसके कारणभूत शुभभाव को भी उपादेय मानता है। शुभाशुभ भावों को जिसने अधिक (महान) माना उसने आत्मा को हीन माना। उसे आत्मा का प्रेम नहीं परन्तु विषय और विषयों के कारणों में प्रेम है।

शुद्ध चिदानंद निज आत्मा की रुचिवाला अनुभवी भले ही पशु हो तो भी उसे आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का वेदन है। वही वास्तविक सुखी है। छोटे से मेंढक हो या चिड़िया परन्तु है तो आत्मा ना ? उसे आत्मा का अनुभव हो सकता है। भगवान के समवशरण में तो सर्प, सिंह आदि क्रूर हिंसक जीव भी जाते हैं। वहां यदि आत्मा की दृष्टि पूर्वक अनुभव करले तो उसे भी अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होता है। कितने ही जीव विशेष आत्मलीनता करके पंचम गुण-स्थान भी प्राप्त कर लेते हैं। इसके बाद रात्रि में भोजन-पान नहीं करते। दिन में भी निर्दोष भोजन बनस्पति आदि मिले तो लेते हैं। ऐसे पशु भी अपने शुद्ध स्वरूप के अलावा अन्य किसी भी विषयों में आनंद नहीं मानते। जबकि आत्म स्वरूप से अनजान बड़ा सेठ हो तो भी पाप-पुण्य भाव और उनके फल में सुख मानकर आकुलता ही वेदता है।

समकिति को तो नरक में भी अतीन्द्रिय आनंद है—

**“बाहर नारक कृत दुःख भुगते अन्तर सुख रस गटागटी”**

आत्मा की शुद्ध दृष्टि के कारण नरक के असह्यदुखों के बीच भी समकिति को सुख की गटागटी है। आ हा हा ! कहां ज्ञानी पशु और नारकी; कहां मिथ्यादृष्टि सेठा मिथ्यादृष्टि देव नवमें ग्रेवेयक में भी आकुलता वेदता है। और सातवीं नरक में कोई मरकर जावे और वहां याद आ जावे कि संतों ने हमको ऐसा कहा था कि स्वभाव का साधन करने में तू स्वतंत्र है—ऐसा जानकर जब अन्दर में दृष्टि करता है तब अनुभव में अतीन्द्रिय आनंद पा लेता है। इस अतीन्द्रिय आनंद का कारण स्वभाव की दृष्टि और अनुभव है। अज्ञानी को पुण्य की रुचि होने से स्वर्ग के दैवीय सुखों के बीच भी अकेली आकुलता का ही वेदन है।

*भाव निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्गी है*

**जइया मणु णिग्गंथु जिय तइया तुहुँ णिग्गंथु ।  
जइया तुहुँ णिग्गंथु जिय तो लब्भइ सिवपंथु ॥७३॥**

**हो जाय जब निर्ग्रन्थ मन निर्ग्रन्थ तब ही तू बने ।**

**निर्ग्रन्थ जब हो जाय तू तब मुक्ति का मारग मिले ॥७३॥**

**अर्थ :** हे जीव ! जब तेरा मन निर्ग्रन्थ है तब तू सच्चा निर्ग्रन्थ है। जीव ! जब तू निर्ग्रन्थ है तो तूने मोक्षमार्ग पा लिया।

हे आत्मन् ! यदि तेरे मन में राग की एकता टूट गई है; मिथ्यात्व की ग्रन्थी भेद डाली है और शुद्ध आत्मा की दृष्टि की है तो तेरा मन निर्ग्रन्थ है। अर्थात् जिसने आत्म सम्पदा में एकत्व किया है उसका मन वास्तव में निर्ग्रन्थ है। उसने मोक्ष पंथ प्राप्त कर लिया है। यदि तूने भाव निर्ग्रन्थ दशा प्राप्त की है तो तू समझ कि तू शिवपंथी हो गया है। बाह्य में द्रव्यलिंग तो हो परन्तु भावनिर्ग्रन्थता रहित मोक्षमार्ग नहीं होता ऐसा यहां बतलाया है।

श्रद्धा अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी भावनिर्ग्रन्थ है। निज शुद्ध स्वभाव की प्रीति, दृष्टि और अनुभव करने वाले समकिति को राग के प्रति प्रीति न होने से वास्तविक भावनिर्ग्रन्थता है। जब तक वस्त्र का ग्रहण है तब तक परिग्रह का पूरा त्यागी नहीं। प्रथम तो अन्तरंग में मन को ग्रन्थिरहित करना चाहिये। मन में दया, दान के विकल्प

उठते हैं वह भी राग की ग्रन्थि है। उस ग्रन्थि को भेद कर प्रथम मन को निर्ग्रन्थ करना ही मोक्षमार्ग है। आत्मवस्तु स्वयं निर्ग्रन्थ है तो उसकी दृष्टि करने वाला भी भाव से निर्ग्रन्थ है। तथापि मात्र बाह्य में द्रव्य से निर्ग्रन्थ का एक भी भव घटता नहीं।

भाव निर्ग्रन्थ जीव के अन्तरंग का परिग्रह नहीं होता। मन में होने वाले सब राग द्वेष मलिन भावों को दूर किया है। सर्व जीवों पर समभाव तथा करुणाभाव होता है। परम संतोषी होता है तथा भावनिर्ग्रन्थ ज्ञानी समकिति जीव को आत्मरस की अति पिपासा होती है। ऐसे लक्षणों से युक्त जो हो वही भाव निर्ग्रन्थ है, इसके विपरीत कोई जीव सभी बाह्य परिग्रह स्त्री, पुत्र, परिवार, मकान, धनदौलत को त्याग कर जंगल में रहने लगे; परन्तु अन्तरंग परिग्रह-मिथ्यात्व, कषाय आदि के त्याग बिना वह निर्ग्रन्थ नहीं; मोक्षमार्गी भी नहीं, वह तो संसारमार्गी है।

जैसे चावल के ऊपर का छिलका तो निकाले परन्तु उसकी अन्तर की ललाई न निकले तो चावल का असली स्वाद आता नहीं। वैसे ही कोई जीव बाह्य संयोगों को त्याग दे, परन्तु अन्तर में शुद्धात्मा की दृष्टि, अनुभव न करे, समदर्शी-समताभाव प्राप्त न करे, आत्मिक आनंद का पिपासु न बने और मोह-राग-द्वेष रूपी अन्तरंग परिग्रह को धारण किये ही रखे तो उसे मोक्ष का लाभ प्राप्त नहीं होता। वह सच्चा निर्ग्रन्थ नहीं, मात्र द्रव्य से निर्ग्रन्थ है।

सनातन वीतराग धर्म संतों ने बतलाकर सरल कर दिया है। रत्नत्रय शिवपंथ है, उस पर चलकर ज्ञानी मोक्ष महल में पहुंच जाता है।

*देह में भगवान होता है*

**जं बउमज्झहँ बीउ फुडु बीयहँ वडु वि हु जाणु ।  
तं देहहँ देउ वि मुणहि जो तइलोय पहाणु ॥७४॥**

**जिस भाँति बड़ में बीज है उस भाँति बड़ भी बीज में ।  
बस इसतरह त्रैलोक्य जिन आत्म बसे इस देह में ॥७४॥**

**अर्थ :** जैसे बरगद (बड़) के वृक्ष में उसका बीज स्पष्टपने व्यापक है वैसे बरगद (बड़) के वृक्ष को भी जानो। तैसे इस शरीर में उस देव को भी अनुभव करो जो तीन लोक में प्रधान है।

जैसे बीज में वट वृक्ष प्रगट है और वटवृक्ष में बीज व्याप्त है वैसे ही इस शरीररूपी वट में भगवान बिराजमान हैं तथा आत्मबीज में परमात्मशक्ति का वट प्रगट है। तेरी शक्ति में परमात्मपना होगा तभी तो पर्याय में प्रगट होगा ना ? त्रिलोक में तेरा आत्मा ही प्रधान देव है। भगवान अरहंत और सिद्ध तेरे लिये प्रधान देव नहीं। परमात्मा जैसे पर्याय में भी पूर्ण हैं वैसे ही प्रत्येक जीव शक्ति अपेक्षा पूर्ण हैं। ऐसी निज शक्ति का जब तक विश्वास नहीं करता, तब तक दृष्टि सम्यक् नहीं होती अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता।

शादी के समय दुल्हा तो मात्र एक दिन के लिए ही मुख्य रहता है, किन्तु हे जीव ! तू तो तीनों काल और तीनों लोक में प्रधान है। तू ऐसी शक्ति से सदा ही त्रिलोक प्रधान है।

बीज में जैसे वट व्यापक है वैसे ही भगवान आत्मा अनंत ज्ञान-दर्शन में व्यापक है। आत्मा देह के आकार रूप देह में रहने पर भी देह से अत्यंत भिन्न अपने गुण-पर्याय में व्यापक है। पूरे वट के बड़े वृक्ष में मूल बीज सर्वत्र व्यापक है वैसे ही भगवान आत्मा अपने में सर्वत्र व्यापक है। केवलज्ञान आदि अनंत पर्यायों में बीजभूत तो आत्मा है, इसलिए तू ही तेरा देव है।

मोक्षार्थी को ऐसा विचारना चाहिये कि मेरे आराधने योग्य, सेवने योग्य मेरा आत्मा ही है। अनन्त आनन्दादि अनन्त गुणों से बिराजमान है वही मेरे लिये ध्याने योग्य है।

जैसे लेंडीपीपर कद में छोटी, रंग में काली होने पर भी उसमें ६४ पहरी अर्थात् पूरीपूरी चिरपराहट भरी है जो उसे पीसने से व्यक्त होती है। अन्दर में चिरपराहट थी तो बाहर आई। इसलिए प्राप्त की ही प्राप्ति है वैसे ही प्रत्येक आत्मा में ज्ञान आनंद आदि अनंत गुण अन्तर में शक्ति रूप से पड़े हैं तो उसमें प्रगट होते हैं। इस आत्मा के अन्तर सत्व में—ध्रुवशक्ति में पूर्ण ज्ञान, आनन्द व्यापक है किन्तु इस जीव को जगत के पदार्थों की तो महत्ता आती है। किन्तु अपने स्वभाव की महत्ता नहीं आती।

कंकड़ बोकर के पानी का तो क्या मगर दूध घी का भी सिंचन करे तो भी वट वृक्ष नहीं होता, क्योंकि कंकड़ में वट होने की सामर्थ्य नहीं है। अरे ! निमौली में भी वट वृक्ष होने की सामर्थ्य नहीं। वट के बीज में ही वटवृक्ष होने की शक्ति है। यह सब तो लॉजिक (Logic) से, न्याय से समझना चाहिए।

कूयें में पानी होगा तो बाल्टी में आयेगा वैसे ही प्राप्त की प्राप्ति होती है ।

लोटे में पानी भरा है, किन्तु पानी लोटे से अत्यन्त भिन्न है । चिदानंद भगवान् आत्मा शरीर के आकार रूप शरीर के अन्दर रहता है किन्तु शरीर से अत्यन्त भिन्न है ।

आत्मा में अनंत ज्ञान, अनन्त आनन्द आदि अनन्त शक्तियां भरी हैं । जिसका स्वभाव ही जानने का है वह किसे नहीं जानेगा ? स्वभाव में मर्यादा क्या ? वह सबको जानेगा । स्वभाव में मर्यादा नहीं होती ।

जो परमात्मा हो गये हैं वे अपनी स्वतंत्र शक्ति से हुये हैं और जो होंगे वे भी अपनी स्वतंत्र शक्ति से होंगे । क्योंकि प्रत्येक आत्मा की शक्ति स्वतंत्र है । जैसे लाखों, करोड़ों लेंडी पीपर बोरी में भरी हो, उन प्रत्येक छोटी पीपर में सोलहों आना पूर्ण शक्ति भरी है । वैसे ही अनंत आत्मायें अपनी-अपनी स्वतंत्र शक्ति से बिराजमान हैं ।

ऐसे आत्मा को, हे जीव ! तू शरीर से, कर्म से न देख ! पर्याय भेदों से न देखा परन्तु एक रूप स्वभाव से देख । स्वभाव पर दृष्टि करने से ही श्रद्धा-ज्ञान में सभी शक्तियों की झलक प्रगट होती है । अनुभव में आती है । वर्तमान पर्याय में राग दिखता है वह स्वभाव नहीं । उसका नाश होने से स्वभाव प्रगट होगा । अल्पज्ञता दूर होने से सर्वज्ञता प्रगट होगी । राग में से अल्पज्ञता में से पूर्णता नहीं आती । पूर्णता स्वभाव में से प्रगट होती है ।

जैसे पीपर को शक्ति-सत्त्व से देखने पर अल्प चिरपराहट और कालापन उसमें नहीं वह तो पूर्ण चिरपराहट और हरे रंग से भरी है । वैसे ही भगवान् आत्मा को स्वभाव से देखने पर कर्म के संग से उत्पन्न विकार तथा कर्म के उदय से हुई हीनाधिकता उसके स्वभाव में नहीं । सिद्धान्त समझने के लिए दृष्टान्त दिये जाते हैं; उनसे सिद्धान्त समझना चाहिए ।

जगत के जीवों ने अप्रयोजनभूत बहुत पढ़ा, किन्तु सत्य तत्व पढ़ा नहीं । शास्त्र पढ़ कर उसका सार समझे तो शास्त्र पढ़ना काम का है । अपना स्वरूप कैसा है ? क्या है ? उसका कभी जीव ने विचार किया नहीं ।

पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनंद, पूर्ण स्वच्छता, प्रभुता, शांति आदि पूर्ण स्वभाव की दृष्टि करने से जो वर्तमान में नवीन पर्याय प्रगट हुई; उसकी भी अपेक्षा त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि में नहीं रहती । अनादि अनंत सत्...सत्...सत्...है...है...है , जिसकी आदि अर्थात्



उत्पत्ति नहीं और नाश नहीं ऐसा आत्म तत्व है। उसकी प्रत्येक शक्ति भी त्रिकाल सत है। त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि करने वाले को शरीर, विकार तथा अधूरी निर्मल पर्याय तो नहीं, परन्तु निर्मल पर्याय जितना भी आत्मा दिखता नहीं। पूर्ण...पूर्ण...निर्मल एकरूप ही वस्तु दृष्टि में दिखे तभी पर्याय में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र प्रगट होता है। इसलिए ऐसी दृष्टि करनी वही एक मात्र मुक्ति का उपाय है, अन्य नहीं।

कर्म और कर्म के निमित्त से होने वाले परिणाम वो मैं नहीं; मैं तो परिपूर्ण अखंडानंद, एक रूप, शुद्ध तत्व हूँ। निजात्म स्वभाव को जब दृष्टि स्वीकार करती है तब शांति तथा आनंद प्रगट होता है। इसलिए जिसे सुख शांति और स्वतंत्रता चाहिये हो तो वे पूर्णानंद प्रभु की दृष्टि करें, यही एक सुखी होने का उपाय है।

चैतन्य स्वभाव स्फटिक की भाँति पूर्ण निर्मल है। उसमें पुण्य-पाप की लाल-काली झाँड़ का प्रवेश नहीं है। ऐसी दृष्टि नहीं करना वही धर्मदृष्टि है। धर्मदृष्टिवंत जीव ही सुखी हैं। इनके अलावा इन्द्र, नरेन्द्र, राजा, महाराजा, अरबपति सेठ ये सभी भिखारी हैं, दुःखी हैं।

स्वभाव दृष्टि से देखने पर प्रत्येक आत्मा समान ही दिखते हैं। इसलिए कोई शत्रु या मित्र नहीं। इस कारण स्वभाव दृष्टिवंत को किसी के ऊपर राग-द्वेष नहीं होते वे सब को भगवान ही देखते हैं। अज्ञानी भी जब अपना भगवानपना संभालेंगे स्वीकार करेंगे तब वे भी भगवान बन जायेंगे। प्रत्येक में परमात्मपने की शक्ति भरी पड़ी है। इसलिए मुमुक्षु को उचित है कि वह समता स्वभाव में स्थिर हो, लीन हो, रमे, सर्व नयों के विचार से भी मुक्त होकर आत्मानंद में लीन रहे।

*‘आप ही जिन हैं’ यह अनुभव मोक्ष का उपाय है*

**जो जिण सो हउँ सो वि हउ, एहुउ भाउ णिभंतु ।  
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥७५॥**

**जिनदेव जो मैं भी वही इस भाँति मन निर्भ्रान्त हो ।  
है यही शिवमग योगिजन ! ना मंत्र एवं तंत्र है ॥७५॥**

**अर्थ :** जो जिनेन्द्र परमात्मा है वह मैं हूँ वही मैं हूँ ऐसी ही शंका रहित भावना कर। हे योगी ! मोक्ष का उपाय यही है और कोई तंत्र या और कोई मन्त्र नहीं है।

आत्मा की पूर्ण वीतराग दशा को प्राप्त परमात्मा है वैसा ही मैं हूँ। क्योंकि मैं ही परमात्मा होने के लायक हूँ। योगीन्द्र देव कहते हैं, तुझे यदि मुक्ति का प्रयोजन हो तो प्रथम ऐसा निश्चित कर। निर्णय कर कि मैं ही परमात्मा हूँ।

जिसने आत्मा में से राग, द्वेष और अल्पज्ञता का नाश करके वीतराग, सर्वज्ञपना प्रगट किया उन परमात्मा के समान ही मैं हूँ। मेरी और परमात्मा की जाति में कुछ अन्तर नहीं। भगवान् सर्वज्ञ ने जो दशा प्राप्त की है वैसी दशा को धरने वाला शक्तिवान् मैं स्वयं ही जिनेन्द्र हूँ।

जैसे तिल में से निकला हुआ तेल स्वच्छ है, उतना ही स्वच्छ तेल तिल में भरा है। वैसे ही आत्मा में वीतरागता भरी है। ऐसा आत्मा को दृष्टि में स्वीकार करना यह ही सुख पाने का परमात्मा होने का सीधा सरल उपाय है। ऐसी बात सुनने को मिलना भी बहुत दुर्लभ है।

जैसे बर्फ की शीतल शिला के किसी भी अंश में ऊपर, नीचे, मध्य में कहीं भी गर्मी का अंश भी नहीं होता, वैसे ही अविकारी, चैतन्य पिंड में कहीं भी मोह-राग-द्वेष नहीं हैं। ऐसी वीतराग शांतरस की शिला आत्मा है। भगवान् आत्मा देह से रहित, शुभाशुभ भाव से रहित अरूपी चिद्घन वीतराग चैतन्य की शिला है।

भगवान् कहते हैं—तेरी और मेरी जाति में कुछ भी अन्तर नहीं। तूने स्वरूप प्रगट नहीं किया, मात्र इतना ही अन्तर है। इसलिए परमात्मा के समान ही तेरा आत्मा है। उसकी निभ्रान्ति होकर, निशंकपने भावना कर। शक्ति से सभी आत्मा भगवान् हैं। तू तेरी चैतन्य सत्ता को स्वीकार कर। जानना...जानना...जानना...यह जानने की ज्ञानशक्ति की बेहदता, अचिंत्यता, अमाप्ता है। वही मैं हूँ, ज्ञान के साथ रहा हुआ आनंद मैं ही हूँ। अतीन्द्रिय और पूर्ण आनंद ही मेरा स्वरूप है। ऐसे ज्ञानानंद स्वरूप आत्मा की दृष्टि करते ही, सत्य स्वरूप को स्वीकार करते ही पर्याय में सत्दशा प्रगट हो वही वास्तविक आत्मा का निजधर्म है। और राग, द्वेष को स्वीकार करना यही वास्तविक अधर्म है, हिंसा है। इसमें आत्म स्वभाव का अनादर होता है।

जैसे पीपर में चरपराहट और हरे रंग को अस्वीकार करने में पीपर के स्वभाव का घात होता है, क्योंकि इसमें अस्ति की नास्ति होती है। वैसे ही सत् स्वरूप निज भगवान् आत्मा को अस्वीकार करने में अस्ति स्वरूप की नास्ति होती है, यही हिंसा है।

इस शास्त्र में तो अकेले तत्वों के सिद्धान्त भरे हैं। भ्रांति छोड़कर ऐसी भावना कर जो जिनेन्द्र हैं वहीं मैं हूँ। अल्पज्ञता और राग-द्वेष पर्याय होने पर भी मैं पूर्ण अखंड वीतराग हूँ भगवान ही हूँ। ऐसी निर्भ्रान्त श्रद्धा करना इसमें अति उग्र पुरुषार्थ चाहिये। ऐसे उग्र पुरुषार्थ द्वारा ही निर्णय हो सकता है।

भाई ! तेरा जुड़ान अभी परद्रव्य-पर भावों में हो रहा है, वह तुझे दुःख का कारण है। उसे छोड़कर स्वद्रव्य में जुड़ान कर तो तुझे सुख होगा। भगवान आत्मा के पूर्ण स्वभाव में जो जीव दृष्टि ज्ञान को जोड़ता है वही योगी है। योगी का यह व्यापार वही योग, और यह योग ही धर्म है। ऐसा योगीपना प्रगट किये बिना ही व्रत, तप करे तो भी आत्मकल्याण नहीं होता। सर्वज्ञ पिता ने तुझे विरासत में जो जिनवाणी दी है, उसके पृष्ठ खोलकर बांचे तो तुझे सत्य स्वरूप समझ में आवे।

निश्चय से निजात्मा की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता वही मोक्षमार्ग है। वर्तमान में जितनी अन्तर में एकाग्रता उतना धर्म, जितने शुभाशुभ विकल्प वे सभी अधर्म हैं। जो जीव अरहंत के स्वरूप को अर्थात् उनके द्रव्य को, अनन्त गुणों को और वर्तमान अवस्था को जानता है वह अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है और उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है। ऐसे भगवान समान अपने आत्मा को स्वीकारना, उसमें एकाकार होना, यही स्वानुभव की कला है।

स्वभाव की महिमा आते ही राग-द्वेष, पैसा भोगादि की महिमा उड़ जाती है। अतीन्द्रिय सुख की दृष्टि होते ही इन्द्रिय सुख, निमित्त तथा संयोगी पदार्थों और पुण्य-पाप भाव की महिमा नहीं रहती। मनुष्य देह में आत्म-वस्तु को प्राप्त करने का अमूल्य अवसर मिला है। उसे चूक जायेगा तो चौरासी लाख योनियों के अवतार की खदान में डूब जायेगा, वहां से तुझे बचाने वाला कोई नहीं।

*आत्मा के गुणों की भावना करे*

**बे ते चउ पंच वि णवहँ सतहँ छह पंचाहँ ।**

**चउगुण सहियउ सो मुणह एपइँ लक्खण जाहँ ॥७६॥**

**दो तीन चउ अर पाँच नव अर सात छह अर पाँच फिर ।**

**अर चार गुण जिसमें बसें उस आत्मा को जानिए ॥७६॥**

**अर्थ :** उस अपने आत्मा को दो, तीन, चार, पांच, नव, सात, छः पांच और चार गुण सहित ज्ञाने उस परमात्मा के या आत्मा के ये ही लक्षण हैं।

अनंत गुणों का पिंड एक रूप आत्मा है; उसका लक्ष करके उसी में स्थिर होना वह निश्चय है और उसमें स्थिर होने से पहले अपना विविध गुणों से विचार करना वह व्यवहार है। यह निकट से भी निकट का व्यवहार है। देव-शास्त्र-गुरु आदि की भक्ति का व्यवहार तो बाहर का, दूर का व्यवहार है।

वीतराग, आनंदस्वरूप, अनंत गुणों के गोदाम ऐसे आत्मा को एक ज्ञायक रूप माना यह धर्म करने वाले का मुख्य कर्तव्य है। स्वरूप में स्थिर न हो सके तब धर्मी, दो, तीन, चार आदि गुणों द्वारा विचार करता है : भावना भाता है, वह व्यवहार है। यह योगसार का व्यवहार भी भिन्न प्रकार का है। संक्षेप में बहुत अच्छी बात कही है।

ज्ञानी स्वयं के पुरुषार्थ की कमजोरी से स्वभाव में स्थिर न हो सके तब मेरा आत्मा ज्ञान स्वरूप है; सुख स्वरूप है; वीर्य, स्वच्छत्व, प्रभुत्व आदि अनंत-शक्ति स्वरूप बिराज रहा है। ऐसा विचार करे वह व्यवहार है।

आत्मा अनंत गुण वाला है तो उसकी पर्यायें भी अनंत हैं। ऐसे एकरूप आत्मा को गुण-पर्याय दो रूप विचारना व्यवहार है। एकड़े एक बिगड़े बे, दो पने के विचार में ही विकल्प खड़ा होता है, व्यवहार खड़ा होता है। एक रूप आत्मा में लीन न हो सके तब अनेक स्वरूप आत्मा को भाता है, परन्तु यह योगसार नहीं है।

प्रभु ! यह तो मात्र मक्खन (सारभूत) की बातें हैं। आत्मा का विकल्प पूर्वक घोलन करने से व्यवहार खड़ा होता है, यह बात यहां की है।

भगवान् आत्मा दर्शन-ज्ञानस्वरूप है; ऐसा भी दोपने से आत्मा का विचार कर सकता है। धर्मी जीव लोक में प्रत्येक को जाने, देखे किन्तु कहीं भी अपनापन नहीं करता, मैं स्व-पर को जानने के स्वभाव का धारक हूँ, ऐसा विकल्प भी धर्मी को आता है, किन्तु यह वीतरागता का व्यवहार है सो भी बंध का कारण है। इसलिए ऐसे विचारों से भी धर्मी को हर्ष नहीं होता, खेद होता है कि ऐसा व्यवहार बीच में आता है यह मेरे पुरुषार्थ की कमजोरी है।

भाई! परमेश्वर का पंथ तो कोई अलौकिक है। प्रत्येक आत्मा स्वयं परमेश्वर है, परम-ईश्वरता-महानता का पुंज है। उसमें भी एक ही गुण ऐसा है, ऐसा नहीं; परन्तु प्रत्येक गुण की ईश्वरता का पिंड आत्मा है। एक-एक गुण तो ईश्वर है ही उसकी एक-एक पर्याय भी ऐश्वर्यवान है। ऐसे अनंत गुण-पर्यायों की ईश्वरता का पुंज एक आत्मा है।

त्रिलोकी नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर का बताया हुआ यह पंथ है। यह तो अलौकिक ही होगा ना ? लौकिक के साथ मेल नहीं खाता। दुनिया से भिन्न जाति का यह परमेश्वर का पंथ है।

धर्मी जीव 'उत्पाद-व्यय-ध्रुव' ऐसे तीन प्रकार से आत्मा का विचार करता है। जिसे आत्मा का अनुभव हो गया वह भी ऐसा विचार करता है और जिसे आत्मा का अनुभव करना है वह भी इसी जाति के विचार करता है। आत्मा ध्रुव अपेक्षा कायम/टिकता है उत्पाद की अपेक्षा नई पर्याय रूप होता है और व्यय की अपेक्षा पूर्व रूप से नष्ट होता है। ऐसे तीन रूप परिणमता है; यह भी व्यवहार है। समयसार की आठवीं गाथा के अनुसार 'व्यवहार' उपदेश देने वाले या सुनने वाले किसी को भी अनुसरने योग्य नहीं। उत्पाद व्यय रूप निरन्तर बदलने पर भी वस्तु ध्रुव है; वह अनुसरने योग्य है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र स्वरूप आत्मा है, ऐसे तीन भेद से भी आत्म स्वरूप विचारा जा सकता है। तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और परमानंद की उग्र वीतराग दशा अर्थात् सम्यक् तप इन चार आराधना रूप भी आत्मा का विचार धर्मी करता है।

प्रभु! तेरे घर में निर्विकल्प रीति से प्रवेश बिना छुटकारा नहीं। ऐसे भेद विचारना, यह भी बाहर निकलना है।

अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान सुख और अनंत वीर्य यह अनंत चतुष्टय रूप भी आत्मा का स्वरूप विचारा जा सकता है। एक अभेद स्वरूप को चार रूप विचारना यह व्यवहार है। यह व्यवहार आवे भले ही; परन्तु उसमें हर्ष नहीं है। सम्यग्दर्शन होने के बाद सर्वज्ञदशा तुरन्त नहीं आ जाती; इस कारण बीच में व्यवहार आ जाता है।

भगवान आत्मा आनंद, बोध, चैतन्य और अस्तित्व इन चार प्राणों को धरने वाला है। शरीर वाणी, कर्म आदि को तो आत्मा व्यवहार से भी नहीं धरता।

आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का स्वामी है। अन्य वस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का स्वामी नहीं। अखंड एक रूप आत्मद्रव्य की श्रद्धा, ज्ञान, रमणता यही साक्षात् मोक्षमार्ग है। उसमें मैं शांत...शांत...उपशम रस कंद हूँ ऐसा विकल्प उठना वह भी भेद होने से व्यवहार है।

पांच भाव स्वरूप आत्मा का विचार करने में आवे तो आत्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र और अनंत वीर्य स्वरूप है अथवा तो उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक और परम पारिणामिक भाव इन पांच रूप आत्मा है। राग, द्वेष आदि औदयिक रूप परिणमने की पर्याय में योग्यता है। कर्म के या पर द्रव्य के कारण आत्मा उदय भाव रूप नहीं परिणमता। अपनी पर्याय की उस समय की योग्यता से स्वयं परिणमता है; वह द्रव्य का त्रिकाली गुण नहीं परन्तु पर्याय की ऐसी शक्ति है।

उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक ये तीन निर्मल पर्याय और उदय भाव यह विकारी पर्याय, ये चार पर्याय हैं। पंचम परम पारिणामिक भाव यह द्रव्य रूप है। पांच भावरूप एक आत्मा को विचारना यह भी व्यवहार है।

जब मुनिराज उपशम श्रेणी चढ़ते हैं, तब क्षायिक सम्यक्त्व, उपशम चारित्र, उदय भाव, क्षयोपशमिक ज्ञान और परम पारिणामिक भाव ये पांचों भाव मुनिराज को एक साथ होते हैं।

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमेष्ठि पद को धरने वाला भगवान आत्मा एक ही है। पांचों पद रूप होने की शक्ति प्रत्येक आत्मा में है। इस प्रकार पांच भेद रूप विचारना यह भी व्यवहार है।

धर्मी ऐसा विचारता है कि नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव इन चार गति और पंचम गति मोक्ष स्वरूप परिणमने की मेरे में सामर्थ्य है।

अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र स्वरूप मैं बिराजमान हूँ; अथवा छह गुणों से मैं शोभायमान हूँ। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधो इन दिशाओं में गमन करने की मेरे में शक्ति है। कोई कर्म या धर्म द्रव्य मुझे गमन कराता नहीं। अथवा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व इन छह सामान्यगुणों को धरने वाला मैं हूँ। ऐसे छह प्रकार से आत्मा को विचारना यह भी व्यवहार है।

धर्मी अस्ति, नास्ति आदि सात अंग रूप से भी आत्मा का विचार करता है। अथवा जीव द्रव्य का जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्व रूप से भी विचार करता है। नैगमादि सात नयों से आत्मा का विचार करता है।

धर्मी ज्ञानावरणादि आठ द्रव्य कर्म रहित तथा सम्यक्त्व आदि आठ गुण सहित जीव का विचार करता है।

धर्मी केवली भगवान को नव लब्धि की पर्याय प्रगटहोती है उनका विचार करता है और उन पर्यायों को प्रगट करने की सामर्थ्य मेरे में है; ऐसा श्रद्धान करता है ।

साधारण जीवों को ये उपरोक्त सभी अंकों का विवरण याद न रहे परन्तु भाव तो याद रह सकता है ना । अपने को अंकों से काम नहीं; भाव से काम है ।

इस प्रकार विविध प्रकार से आत्मा के गुणों की भावना करते-करते उन से हटकर अन्तर में एकाकार होना; यह स्वानुभूति है । ऐसे गुणों की भावना वह विकल्प है परन्तु उसे पीछे राग की पुष्टि नहीं होती स्वभाव की पुष्टि होती है ।

*दो को छोड़कर दो गुण विचारे*

**बे छंडिवि बे गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेई ।**

**जिणु सामिउ एमई भणइ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥७७॥**

**'दो छोड़कर दो गुण सहित परमात्मा में जो वसे ।**

**शिवपद लहें वे शीघ्रही'—इस भाँति सब जिनवर कहें ॥७७॥**

**अर्थ :** जो दो को अर्थात् राग-द्वेष को छोड़कर ज्ञान, दर्शन दो गुणधारी आत्मा में तिष्ठता है वह शीघ्र ही निर्वाण पाता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं ।

जिनेन्द्र भगवान ऐसा कहते हैं; हे आत्मन् ! तू राग-द्वेष भावों को छोड़ ! ज्ञान-दर्शन धारी स्वरूप में बस जा । निज स्वरूप की रुचि, ज्ञान और उसमें स्थिरता यह स्वरूप में बसना कहलाता है । जिनेन्द्र भगवान ऐसा फरमाते हैं—हे जीव ! जो जीव जानन-देखन स्वभाव वाले एक आत्मा में लीन होते हैं, वे जीव शीघ्र निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं ।

बंध के कारण राग-द्वेष हैं । भगवान आत्मा अखंड वीतराग स्वरूप है । ज्ञेयों में यह इष्ट और यह अनिष्ट ऐसे दो खण्ड करना, वह राग-द्वेष है । यह अनुकूल और प्रतिकूल ऐसा विकल्प उठाना, यह आत्मा का स्वरूप नहीं । इसी प्रकार द्रव्यों में भी कोई अनुकूल और कोई प्रतिकूल ऐसा द्रव्यों का स्वरूप नहीं ।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि शरीर निरोग हो तो धर्म होता । सब प्रकार की अनुकूलता हो तो धर्म हो सकता है । उसे जिनेन्द्र भगवान कहते हैं, अरे प्रभू ! अनुकूल या प्रतिकूल ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं । शरीरादि तो जानने लायक अर्थात् ज्ञेय

हैं। ज्ञेय पदार्थ आत्मा को धर्म करने से रोकते नहीं। इसलिए हे भाई ! तू राग-द्वेष छोड़कर स्वभाव की साधना कर।

आत्मा के सिवाय पर पदार्थों में इष्ट अनिष्टपने की मान्यता करना, वह अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ है। उसमें से क्रोध और मान ये द्वेष रूप हैं और माया तथा लोभ ये राग रूप हैं। मिथ्यादृष्टि जीव पर-पदार्थों में अहंकार और ममकार करता है। अर्थात् ये मैं हूँ और ये मेरे हैं ऐसा मिथ्यात्व का सेवन करता है। इन्द्रिय सुख को सच्चा सुख समझता है; यह भी मिथ्याबुद्धि है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक में पं. टोडरमलजी लिखते हैं—मिथ्यादृष्टि जीव स्वयं को रुचे ऐसे पदार्थों में तथा उनमें सहायक पदार्थों में राग करता है। और स्वयं को न रुचे ऐसे पदार्थों में तथा उनमें सहायक पदार्थों में द्वेष करता है। भगवान कहते हैं कि हे जीवो ! ऐसे अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व का त्याग करके स्वरूप का श्रद्धान करो तो शीघ्र निर्वाण की प्राप्ति होगी।

ज्ञानी राग-द्वेष इन दो दोषों को त्याग कर ज्ञान-दर्शन इन दो गुणों को ग्रहण करता है। चौथे गुणस्थान में भी समकिति राग-द्वेष में एकत्व नहीं करता। ज्ञानी को राग-द्वेष होते हैं सही, परन्तु ज्ञानी उन्हें रोग समान जानता है : अहितरूप हैं ऐसा मानता है। हितरूप तो एक निज शुद्ध स्वरूप की दृष्टि, ज्ञान और रमणता ही है।

अज्ञानी जीव ने अनंत काल से अपने स्वरूप की दृष्टि की ही नहीं। इसलिए ज्ञानी कहते हैं -प्रथम तू तेरे अतिन्द्रिय आनंद स्वरूप आत्मा की श्रद्धा और ज्ञानकर; राग-द्वेष जो तेरा स्वरूप नहीं उनमें से एकत्वपने की श्रद्धा छोड़।

प्रत्येक आत्मा सूर्य के समान स्व-पर प्रकाशक शक्ति वाला है। अपने को जानता है और निज सत्ता में रहकर ही अन्य सर्व पदार्थों को भी जानता है। ऐसा ही आत्मा का सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व स्वभाव है। ऐसे आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करना यह प्रथम भूमिका है।

सिद्ध भगवान को जैसा अतीन्द्रिय आनन्द है; वैसे ही अतीन्द्रिय आनंद मेरे में भी है। उसका अनुभव करना यही मेरा कर्तव्य है। तथा यही मेरा भोजन है—ऐसा प्रथम श्रद्धा में ले। स्वयं की सत्ता भूमि में ही कर्ता-भोक्तापन है। पर सत्ता में रहने वाले पदार्थों का आत्मा कर्ता-भोक्ता नहीं।

**प्रश्न :** श्रीकुंदकुंद आचार्य कहते हैं कि आत्मा पर को भोगता है ?



**उत्तर :** वह तो निमित्त का कथन है । वास्तव में आत्मा पर को भोगता ही नहीं। आत्मा पर रूप हुये बिना पर को कैसे करे और भोगे कैसे ? श्री कुंदकुंद आचार्य स्वयं कहते हैं कि कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं; माटी ही घड़े को करती है । अर्थात् वस्तु स्वयं ही स्वतंत्रपने परिणमती है; उसे अन्य कोई कर या भोग नहीं सकता । अज्ञान दशा में जीव राग-द्वेष करता है और भोगता है और ज्ञान दशा में जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र को करता है और उन्हें भोगता है । पर को तो आत्मा अज्ञान दशा में भी भोग नहीं सकता। भाई ! जगत के पदार्थ अपनी वर्तमान अवस्था रूप परिणम रहे हैं और पूर्व अवस्था में बदल रहे हैं। उसमें तेरा करना-भोगना कहां आया ।

प्रत्येक जीव स्वरूप से परमात्मा है । मैं अतीन्द्रिय पूर्ण आनंद स्वरूप प्रभू हूँ । ऐसी बारंबार भावना करना अर्थात् स्वरूप में एकाग्रता करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं । और मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषाय टूट जाती है, तब जीव निर्वाण पद को प्राप्त करने योग्य बनता है ।

*तीन को छोड़कर तीन गुण विचारे*

**तिहिं रहियउ तिहिं गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ ।  
सो सासय-सुह-भायणु वि जिनवरु एम भणेइ ॥७८॥**

**तज तीन त्रयगुण सहित नित परमात्मा में जो वसे ।  
शिवपद लहें वे शीघ्र ही इस भांति सब जिनवर कहें ॥७८॥**

**अर्थ :** तीन राग-द्वेष-मोह से रहित होकर तीन गुण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित आत्मा में जो निवास करता है सो अविनाशी सुख का भाजन होता है, जिनेन्द्र देव ऐसा कहते हैं ।

जो जीव मोह, राग, द्वेष इन दोषों को छोड़कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन गुणों के द्वारा आत्मा में स्थिर होता है वह अविनाशी सुख का पात्र बनता है । ऐसा जिनेन्द्रदेव ने दिव्यध्वनि में कहा है और संत उसे जगतके सामने जाहिर करते हैं ।

जिसे परमानंद-स्वरूप निज आत्म प्रगति की चाहना है उसे मोह-राग-द्वेष इन तीन दोषों को छोड़कर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय के द्वारा आत्मा में स्थिर होना चाहिये, यही उपाय है । परन्तु अनादि से जीव ने निज स्वरूप को देखने की ओर से आंख बंद कर रखी है, और पर को ही देख रहा है। निज स्वरूप की प्राप्ति की भावना

वाले जीव को स्वरूप की दृष्टि ज्ञान और लीनता करना चाहिये । इससे मुक्ति के समीप पहुंच जाते हैं अर्थात् अल्पकाल में उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है ।

**प्रश्न :** प्रभु ! ये ज्ञाननेत्र खोले कौन ?

**उत्तर :** स्वयं के ज्ञाननेत्र स्वयं ही खोले । गुरु नहीं खोलते । गुरु ने अपने ज्ञाननेत्र खोले हैं और शिष्यों के ज्ञाननेत्र खुलने में गुरु की वाणी निमित्त होती है । परन्तु गुरु कहीं शिष्य के नेत्र खोलते नहीं । उपादान तो स्वयं का है । श्रीमद् रायचन्द्रजी कहते हैं :

**“शुद्ध बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयं ज्योति, सुखधाम,  
बीजूं कहिये केटलुं, कर विचार तो पाम ।”**

तू विचार करेगा तो पायेगा ऐसा कहा है । गुरु शिष्य को ज्ञान नहीं देता है इष्टोपदेश में भी आता है—स्वयं ही स्वयं का गुरु है । स्वयं ही समझनेवाला है । आत्मा अपना हित चाहता है, जो हित को बतावे और हितरूप स्वयं ही प्रवर्तन करे वह गुरु है । ऐसा निश्चय गुरु का स्वरूप है ।

जिसे निश्चय गुरुपना प्रगट हुआ है वह व्यवहार गुरु का उपकार मानता है । मुनिराज भी ऐसा कहते हैं कि हमारे गुरु के प्रताप से हम भवसागर तिर गये । श्री नेमीचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती गोम्मटसार में भी यहीं लिखते हैं । श्री कुंदकुंद आचार्यदेव भी लिखते हैं कि सर्वज्ञ भगवान से लेकर हमारे गुरु पर्यन्त सभी ने कृपा करके हमको यह शुद्धात्मा बतलाकर उसी में लीन हो जाने का उपदेश दिया है ।

ज्ञानी की दृष्टि ऐसा स्वीकार करती है मैं वर्तमान में ही आठ कर्म, पुण्यपाप विकार और शरीरादि नोकर्मों से रहित पूर्ण हूँ । दृष्टि का इतना जोर कहां से आता है ? आत्मा में से आता है । ज्ञानी की दृष्टि द्रव्य स्वभाव के अलावा किसी को स्वीकारती ही नहीं । वर्तमान अवस्था रागमय और कर्म का निमित्त होने पर भी उससे भेदज्ञान करके अपने वीतराग विज्ञानमय आत्मा को अनुभवता है; उस पुरुषार्थ का बल कितना ? ऐसे पुरुषार्थी जीव अल्पकाल में मुक्ति पाते हैं ।

व्यवहार में शत्रु-मित्र, धनवान-निर्धन, राजा-प्रजा, देव-नारकी, पशु-मनुष्य, सूक्ष्म-बादर, अनाथ-सनाथ, वगैरह अनेक प्रकार के भेद लिखते हैं । उनमें संसार का लोलुपा जीव इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके राग-द्वेष करता है । ऐसा व्यवहार नय से जगत का स्वरूप राग-द्वेष होने में निमित्त बनता है । इसलिए ज्ञानी निश्चय दृष्टि से ही

जगत का स्वरूप देखते हैं। निश्चय दृष्टि से सभी जीव एक समान परमात्मा हैं। भगवान् आत्मा का स्वभाव ही स्व को स्व रूप और पर को पर रूप जानने-देखने का है।

रत्नत्रय स्वरूपी आत्मा अभेददृष्टि से एक रूप है। शुद्ध स्फटिक समान निर्मल है। परम निरंजन, परम ज्ञानी, परम आनंदमय, परम परमेश्वर है। ऐसे बारंबार अपने आत्मा को ध्याने से स्वयं आत्मानुभव प्राप्त होता है। वही सच्चा मोक्षमार्ग है।

पं. बनारसीदासजी ने हिन्दी पद्य बनाया है न? कि धर्मी अपने स्वरूप को ऐसा विचारता है —

“कहे विचक्षण पुरुष सदा में एक हूँ  
अपने रस सों भरयो अनादि टेक हूँ  
मोहकर्म मम नहीं, नाहि भ्रम कूप है  
शुद्ध चेतना सिंधु हमारो रूप है।”

मोह तो भ्रम का कुंआ है और भगवान् आत्मा शुद्ध चेतना का सागर है। ऐसी दृष्टि करनी वही सम्यग्दृष्टि है।

*चार को छोड़कर चार गुण विचार*

**चउ कसाय सण्णा रहिउ चउ गुण सहियउ वुत्तु ।  
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ जिम परु होहि पवित्तु ॥७६॥**

जो रहित चार कषाय संज्ञा चार गुण से सहित हो ।  
तुम उसे जानों आत्मा तो परमपावन हो सको ॥७६॥

**अर्थ :** चार क्रोधादि कषायें, चार संज्ञा-आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह-रहित व दर्शन, ज्ञान, सुख तथा वीर्य चार गुण सहित आत्मा कहा गया है। हे जीव ! तू उसका ऐसा मनन कर जिससे तू परम पवित्र हो जावे।

हे जीव ! तू ऐसा मनन कर कि मेरा भगवान् आत्मा क्रोध, मान, माया, लोभ-इन चार कषायों से तथा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं से रहित है : और अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य इन चार गुणों से सहित है। हे जीव ! यदि तू ऐसा मनन करके ऐसे स्वभाव का आश्रय लेगा तो तू परम पवित्र बन जावेगा।

यह जीव “अपने को आप भूल के हैरान हो गया” है। इसे अपना भगवान आत्मा कैसा है यह जानने की परवाह भी नहीं। दया, दान, भक्ति आदि करता है; परन्तु पहले मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप कैसा है? यह तो जानना चाहिये न।

आम के वृक्ष में आम लगने पर उनके भार से वह नम जाता है। वैसे ही मुनिराज ज्ञानी को कहते हैं कि तेरे में तप और विनय आदि गुण प्रगट हुए हों तो नम्रता आना चाहिये। जैसे रोगी के प्रति दया आती है वैसे ही अपराधी के प्रति दया लाना चाहिये। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से मन को दूर रखना चाहिये तथा आहार आदि चार संज्ञाओं को जीतना चाहिये। तथा अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य रूप अनंत चतुष्टय से युक्त आत्मा को ध्याना चाहिये क्योंकि जिसे निर्दोष-पवित्र होना है; उसे निर्दोष-पवित्र भगवान आत्मा को ध्याना चाहिये तभी पवित्र हो सकता है। पवित्र स्वरूप को ध्याते ही जो स्वानुभव प्रगट हुआ उसी की उग्रता ही शुक्लध्यान है।

आत्मानुशासन में कहा है-जहां मगरमच्छ होता है वहाँ अन्य जीव नहीं रह सकते; क्योंकि मगरमच्छ उन्हें खा जाता है। वैसे ही जब तक गंभीर और निर्मल मनरूपी सरोवर में क्रोध मान, माया, लोभ रूपी मगरमच्छों का वास है तब तक गुणों का समूह वहां शंकारहित नहीं रह सकता। इसलिए हे जीव ! समता और इन्द्रिय दमन द्वारा इन चार कषायों और चार संज्ञाओं को जीतने का प्रयत्न कर।

*पांच के जोड़ों से रहित व दश गुण सहित आत्मा को ध्यावे*

**बे-पंचहँ रहियउ बे-पंचहँ संजुत्तु ।**

**बे-पचहँ जो गुण सहियउ सो णिरुवुत्तु ॥८०॥**

**जो दश रहित दश सहित एवं दश गुणों से सहित हो ।**

**तुम उसे जानों आत्मा अर उसी में नित रत रहो ॥८०॥**

**अर्थ :** दो प्रकार के पांचों से रहित होकर अर्थात् पांच इन्द्रियों को रोककर व पांच अव्रतों को त्यागकर, दो प्रकार के पांच अर्थात् पांच इन्द्रिय दमन रूप संयम व पांच महाव्रत सहित होकर आत्मा का मनन करो, जो दस गुण उत्तम क्षमादि सहित है व अनंत ज्ञानादि दस गुण सहित उसको निश्चय से आत्मा कहा जाता है।

ज्ञायक स्वभाव का ध्यान करना यही यथार्थ ध्यान है। परन्तु जब ध्यान में ज्ञानी टिक न सके तब भिन्न गुणों से आत्मा का स्वभाव विचारता है, वह व्यवहार है।

ज्ञानी दस गुणों से आत्मा का विचार निम्नानुसार करता है, यह आत्मा क्रोध रूप विकार से रहित पृथ्वी समान क्षमागुण का धारी है। शास्त्र में पृथ्वी को क्षमा की उपमा दी है-जैसे पृथ्वी को कोई खोदे, पीटे, उस पर विष्टा डाले तो भी पृथ्वी क्रोध नहीं करती वैसे ही भगवान आत्मा क्षमा गुण का भंडार ज्ञाता-दृष्टा रहता है, क्रोध नहीं करता।

आत्मा मार्दव धर्म का धारी है अर्थात् निर्मानता-कोमलता का पिंड है। माया के अभाव में आत्मा उत्तम आर्जव धर्मधारी सरल परमात्मा है। महा-सत्य स्वरूप को धरने वाला है। लोभ के अभाव में आत्मा उत्तम शौचधर्म-धारी है, पवित्र है, संतोष स्वरूप है। ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि करके उसी में लीन होना यही आत्मा के कल्याण का उपाय है।

आत्मा संयम धर्मधारी है; उसमें असंयम का अभाव है। सर्व इच्छाओं के अभाव स्वरूप वीतराग स्वरूप में, शुद्धता में एकाकार होकर तपना अर्थात् उसी में प्रयत्न करना यही उत्तम तप धर्म है। बाहर का तप तो व्यवहार है। आत्मा तो त्रिकाल परम तपस्वी है; उसका ध्यान करना उत्तम तप है।

लोगों को त्याग की बहुत महिमा आती है। बाहर की वस्तुओं का त्याग करना या शास्त्र, औषध आदि दान देना, वह उत्तम त्याग नहीं। वास्तविक त्यागधर्म तो शुद्धस्वरूप में एकाग्र होकर पर्याय में शुद्धता प्रगट करना और अशुद्धता का त्याग करना वह और अशुद्धता का त्याग करना वह उत्तम त्यागधर्म है।

मेरे स्वरूप में अन्य आत्माओं का तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल का अभाव है। राग, शरीर, मन, वाणी आदि मेरे नहीं; ऐसी अन्तर में भावना करने का नाम अकिंचन धर्म है। आत्मा त्रिकाल अपरिग्रहवान् है। उसका ध्यान करके पर्याय में अपरिग्रह दशा प्राप्त करना वह अकिंचन धर्म है। आत्मा परम असंग है उसे किसी का संग नहीं।

यह आत्मा उत्तम ब्रह्मचर्य गुण का धारी है। निरंतर अपने ब्रह्मभाव में लीन रहता है उत्तम ब्रह्म रूप तो आत्मा अनादि-अनंत है ही, उसमें लीन होना उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है तथा काया से ब्रह्मचर्य पालना वह व्यवहार ब्रह्मचर्य धर्म है।

हे जीव ! इस प्रकार तू दशलक्षण धर्म से तेरा स्वरूप विचार अथवा तो अन्य दस गुणों से तेरा स्वरूप विचार।

आत्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, अनंतदान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग, अनंत वीर्य और अनंत सुख ऐसे दस विशेषणों से सहित परमात्म स्वरूप है ।

एक-एक गुण की व्याख्या करते हुये मुनिराज कहते हैं—आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने पर भी आत्मज्ञ और आत्मदर्शी है; ऐसा भेद से विचारना । आत्मा सर्व को देखने जानने वाला है । आत्मज्ञ वही सर्वज्ञ वही आत्मज्ञ है । ऐसा नहीं है कि सर्वज्ञ कहने से उसमें पर का जानपना आया । परन्तु सर्वज्ञत्व आत्मा का स्वरूप ही है । ज्ञेयों की अपेक्षा वह सर्वज्ञ कहलाता है और अपनी अपेक्षा आत्मज्ञ कहलाता है ।

शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी होकर आत्मा निरन्तर आत्म प्रतीति करता रहता है। जब ज्ञानी पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करते हैं तब प्रतीति में ऐसा आता है कि आत्मा को त्रिकाल प्रतीयमान ही है । जब वीतराग चारित्र पर्याय में अंश रूप व्यक्त होता है तब अनुभव में आता है कि आत्मा त्रिकाल वीतराग स्वरूप ही है ।

अतीन्द्रिय आनंद स्वरूप आत्मा में एकाग्र होकर पर्याय में आनंद का दान देना यही यथार्थ दान है । मुनिराज को आहारदान देना वह तो शुभराग है । खरेरवर तो आत्मा एक कण का भी दान नहीं दे सकता और ले भी नहीं सकता । क्योंकि पुद्गल का स्वामी आत्मा नहीं । पुद्गल में अदला-बदली होना वह तो जड़ का खेल है । अनुभव प्रकाश में पं. दीपचन्द जी कहते हैं, खाना-पीना, लेना-देना, हलना-चलना आदि सब जड़ की क्रिया है । ये दीपचन्द जी पं. टोडरमल जी से पहले महान प्रख्यात दिगम्बर पंडित हुये हैं । अहो ! देखो पहले के तो पंडित भी सम्यग्ज्ञानी थे ।

पंडित जी और भी लिखते हैं—नर-नारकादि पर्याय, स्वर्ग का वैभव आदि सभी पुद्गल का नाटक है । बनाना, खाना, पीना, कमाना ये सभी पुद्गल का अखाड़ा है । ये आत्मा के कार्य नहीं । हे चिदानंद ! तू उनमें रम रहा है यह तुझे शोभा नहीं देता ।

जैसे सर्प काटे किसी को और जहर चढ़े किसी अन्य को, ऐसा होना अशक्य है वैसे ही हे चेतन ! यह खाना-पीना, तेल-मर्दन करना आदि करे जड़ और तू माने कि मैंने खाया, मैंने पीया, मैंने भोगा, क्या यह सत्य है ?

रास्ते पर चलने वाला व्यक्ति रास्ते की या बाजार की वस्तुओं को अपनी मानले तो वह पागल है । वैसे ही यह जीव जिस गति में गया वहां जो स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादि होते हैं उन्हें अपना मान लेता है, यह भी पागलपन ही है ना ।

नौकर भोजन करे तो राजा ऐसा नहीं मानता कि मेरा पेट भर गया । हे जीव ! तू जड़ के भोजन से अपना भोजन मानता है तेरी यह चाल तुझे ही दुःखदायी है । यह सब दीपचन्द्र जी ने लिखा है । अनुभव प्रकाश, चिद्विलास और आत्मावलोकन आदि ग्रन्थ दीपचन्द्रजी ने बनाये हैं । उनके ग्रन्थ शास्त्र प्रमाण से और अन्तरदृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं परन्तु खेद है कि लोगों को उन्हें पढ़ने की फुरसत भी नहीं मिलती।

योगीन्द्रदेव कहते हैं—निरंतर स्वानुभव करना यही अनंत लाभ है । पुत्र, पैसा या कीर्ति की प्राप्ति होना लाभ नहीं, पर्याय में निर्विकारता प्रगट होना, यह सच्चा लाभ है ।

**प्रश्न :** प्रभु ! जड़ की क्रिया को आत्मा की नहीं मानना; परन्तु धर्म कार्य में दान देना या नहीं ?

**उत्तर :** भाई ! दान कौन किसे दे सकता है ? दान देने का भाव वह शुभभाव है । परन्तु यह शुभभाव हुआ तो धन दिया जाता है ऐसा नहीं है । तथा धन दिया इसलिए शुभभाव हुआ ऐसा भी नहीं; और शुभभाव हुआ तो धर्म होगा ऐसा भी नहीं है।

आनंद स्वरूप आत्मा की दृष्टि करके आनंद का अनुभव करना उसका नाम भोग है । तथा उसी का बारंबार अनुभव करना उसका नाम उपभोग है । जड़ वस्तु को तो आत्मा भोग सकता ही नहीं, तो उसका उपभोग कहां से करे ?

आत्मा अनंत वीर्य का धनी है । वह अपनी शक्ति रूप परिणमने में थकता नहीं अपितु उसके बल की वृद्धि होती है ।

जीव जब अभेदनय से एक अखंड आत्मा को ध्याता है तब उसे स्वानुभव का लाभ होता है, वही आत्मदर्शन है, वही सुख शांति है, वही आत्म समाधि है और वही निश्चय रत्नत्रय की एकता है । इसलिए मुमुक्षु जीव को निश्चित होकर परम रुचि से अपने आत्मा को सेवन करना चाहिये ।

*आत्मरमण में तप-त्यागादि सब कुछ है*

**अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि ।  
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चाक्खाणि ॥८१॥**

**निज आतमा है ज्ञान दर्शन चरण भी निज आतमा ।  
तप शील प्रत्याख्यान संयम भी कहे निज आतमा ॥८१॥**

**अर्थ :** आत्मा ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जानो; आत्मा को सम्यक्चरित्र समझो, आत्मा ही संयम है, शील है, तप है, आत्मा ही प्रत्याख्यान या त्याग है ।

आचार्य कुंदकुंद देव ने भी यही भाव अपने ग्रन्थों में व्यक्त किया है ।

अरे भाई ! इस मनुष्य देह की स्थिति कब पूरी होगी, उसकी तुझे कुछ खबर है ? तू अपनी चिंता कर ना । पर की चिंता में क्यों रुका है ?

यहाँ तो कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य वीतराग चरित्रमयी शांत स्वरूप निज आत्मा की दृष्टि करके उसी में स्थिरता करने से जो चरित्र प्रगट होता है, वह आत्मा ही है। क्योंकि निर्मल पर्याय आत्मा के साथ अभेद है । महाव्रतादि के भावरूप व्यवहार चरित्र वह आत्मा नहीं । क्योंकि वह तो राग है; वह आत्मा के साथ अभेद नहीं होता ।

आत्मा ही संयम है, आत्मा ही शील है, आत्मा ही तप है, आत्मा ही त्याग है; क्योंकि आत्म स्वभाव में रमणता होते ही निश्चय से मोक्ष के सभी साधन प्रगट हो जाते हैं ।

सच्चे देव, गुरु, शास्त्र तथा सात तत्वों की श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है । परन्तु वह तो शुभाराग रूप है । और निर्मल वीतराग स्वरूप आत्मा की श्रद्धा-रुचि करने से पर्याय में जो निर्मल प्रतीति होती है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है । ज्ञान में अपना शुद्ध स्वभाव झलकना-शुद्ध स्वभाव का प्रगटना सम्यग्ज्ञान है । शुद्ध स्वभाव में रमणता करने पर जो निर्विकल्प आनंद का अनुभव होता है वह सम्यक्चरित्र है ।

पाँच इन्द्रिय और मन का निरोध करना तथा छह काय के जीवों की रक्षा का भाव होना, वह व्यवहार संयम है, और अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिर रहना, तथा राग-द्वेष नहीं करना वह निश्चय संयम है ।

मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना इस प्रकार नव प्रकार से कामविकार को टालना वह व्यवहार ब्रह्मचर्य है और अपने ब्रह्म अर्थात् आनंद स्वरूप निजात्मा में चरना, रमना, वह निश्चय ब्रह्मचर्य है ।

पंचम काल है तो भी वस्तु का स्वरूप तो जैसा का तैसा ही है । उसमें किसी भी काल से अन्तर पड़ता नहीं । निश्चय से वस्तु का स्वरूप जैसा कहा है, वही यथार्थ है । व्यवहार तो मात्र जानने लायक है । पंचम काल में हुये संत भी आत्म-प्रतीति, ज्ञान तथा रमणता को रत्नत्रय कहते हैं । आत्मा की महिमा करते हुये थकते नहीं ।



देह की क्रिया तप नहीं, क्योंकि वह जड़ है। पुण्य-पाप भाव भी तप नहीं, क्योंकि वे अनात्मा है। आत्म प्रतपन ही निश्चय तप है।

निजात्मा को सर्व पर द्रव्य और पर भावों से भिन्न अनुभव करना यह निश्चय प्रत्याख्यान है। आत्मस्थ रहना वही निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चरित्र-तप और त्याग है। ऐसा ही आचार्य कुंदकुंद ने स्वरचित ग्रंथ समयसार व नियमसार में कहा है।

*परभावों का त्याग ही सन्यास है*

**जो परयाणइ अप्प परु सो चयइ णिमंतु ।**

**सो सण्णासु मुणेहि तुहुँ केवलणाणि उत्तु ॥८२॥**

**जो जान लेता स्व-पर को निभ्रान्त हो वह पर तजे ।**

**जिन-केवली ने यह कहा कि बस यही संन्यास है ॥८२॥**

**अर्थ :** जो आत्मा व पर को पहचान लेता है वह बिना किसी भ्रान्ति के पर को त्याग देता है तू उसे ही सन्यास या त्याग जान ऐसा केवलज्ञानी ने कहा है।

जो आनंदस्वरूप शुद्ध आत्मा को स्व जानता है और शरीर, कर्म, पुण्य-पाप आदि पर-द्रव्य, परभाव को पररूप जानता है; वह जीव किसी भी प्रकार की भ्रान्ति बिना पर को त्याग देता है; और स्वरूप में स्थिर होता है, वही जीव सन्यासी है। ऐसे सन्यास का प्रारम्भ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से हो जाता है। सम्यग्दृष्टि के अभिप्राय में राग का त्याग वर्तता है और स्वभाव का ग्रहण होता है।

सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती छयानवे हजार रानी और छयानवे करोड़ पैदल का अन्दर से स्वामी नहीं होता। ज्ञानी पुदगल शरीर, वाणी, मन और अन्दर में होने वाले शुभाशुभ भावों का भी स्वामी नहीं है। ऐसा ज्ञानी दृष्टि की अपेक्षा सन्यासी है, परन्तु स्थिरता की अपेक्षा तो मुनिराज ही सन्यासी हैं।

आत्मा में स्व-स्वामी संबंध नाम का एक गुण है। स्व अर्थात् अपना सहजात्म स्वरूप उसका आत्मा स्वामी है। विकल्पों का आत्मा स्वामी नहीं। आत्मा अपने स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का स्वामी है। अन्य के चतुष्टय का स्वामी आत्मा नहीं।

एकरूप बिराजमान शुद्ध वस्तु वह मेरा द्रव्य है। लक्ष्मी वह मेरा द्रव्य नहीं। आत्मा का असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र वह मेरा क्षेत्र है। मकान का, शरीर का, राग का क्षेत्र वह मेरा क्षेत्र नहीं। मेरे आत्मगुणों के समय-समय का परिणमन वह मेरा काल है।

मेरे आत्मिक शुद्ध गुण वह मेरा भाव है । मैं सिद्ध समान शुद्ध, निरंजन, निर्विकार, चैतन्य पूर्ण ज्ञान-दर्शन मय हूँ ।

आत्मा अगाध...अगाध...अगाध अमाप अकृत्रिम चैतन्य गुणों का महासागर है । ऐसी दृष्टि का धारक सम्यग्दृष्टि दृष्टि अपेक्षा परम कृतकृत्य है । जीवन मुक्त है तथा सच्चा सन्यासी है ।

अज्ञानी लोग कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को त्याग नहीं होता । देखो ! यहाँ मुनिराज कहते हैं कि जो अपने आत्मा को जानकर, पुण्य-पाप आदि परभावों का त्याग करता है वह ही सच्चा सन्यासी है । शुद्ध ज्ञानानंद स्वरूप अपने स्वरूप का और अजीव तथा विकारादि परभावों के बीच जिसे भेदज्ञान है, उसकी दृष्टि में से परभाव छूट जाते हैं । धर्मी अपने शुद्ध स्वरूप का ही आदर करता है । विकार तथा संयोग का आदर नहीं करता, उन्हें वह अपना नहीं मानता ।

आत्मा शुद्ध, अरूपी, आनंदघन है । आत्मदृष्टिवंत ऐसा विचारता है कि मेरा, मेरे से भिन्न अन्य आत्माओं के साथ तथा पुद्गल स्कंधों के साथ कोई संबंध नहीं । पर द्रव्य तथा पर भावों के संबंध से मैं त्रिकाल रहित हूँ । जिसकी दृष्टि में आत्मा आता है वह वर्तमान पर्याय में भी पर-द्रव्य-परभावों से भिन्न है, उसे त्याग कहने में आता है ।

जैसे पुत्र की शादी या अन्य कोई प्रसंग में किसी से पाँच-दस हजार का जेवर पहिनने के लिये लाया हो उसे अपनी पूंजी में नहीं गिनता, वैसे ही विकार तो आगंतुक भाव हैं, उन्हें धर्मी अपने स्वभाव रूप में स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वह त्रिकाल टिकने वाली वस्तु नहीं ।

धर्मी जीव ऐसा विचारता है कि धर्म-अधर्मादि द्रव्यों से मैं भिन्न हूँ । ज्ञानावरणादि आठ कर्म, शरीरादि पर-द्रव्य नोकर्म और रागादि भाव-कर्म मेरे नहीं । पाँच इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा का भी मेरे में अभाव है । अस्थिरतावश पाँच इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग आ जाता है, परन्तु उनमें सुख बुद्धि नहीं । इसलिए अभिप्राय में धर्मी को सर्व परद्रव्यों तथा परभावों का त्याग वर्तता है ।

आगे कहेंगे कि “जहाँ चेतन तहाँ अनंत गुण, केवली बोले एम” केवली भगवान सर्वज्ञ देव ऐसा फरमाते हैं—जहाँ...चैतन्य...चैतन्य...जानन स्वभावी आत्मा है वहीं अनंत गुण हैं । पर में, शरीर, कर्म या राग में आत्मा का कोई गुण नहीं रहता । ऐसा जानने वाले ज्ञानी को बाहर कहीं सुख भासित नहीं होता ।

सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती छह खंड का अधिपति हो । छयानवे हजार रानियों का संयोग हो तथा वैभव का कोई पार नहीं फिर भी उनमें उसे सुखबुद्धि नहीं ।

जहाँ सुख नहीं वहाँ सुख मानना, यह तो मिथ्यादृष्टि का लक्षण है । सम्यग्दृष्टि भले ही भोग भोगता हुआ दिखे, परन्तु उसकी दृष्टि अपने अतीन्द्रिय सुख के अलावा कहीं सुखबुद्धि नहीं करती उस दृष्टि में महान पुरुषार्थ की जागृति है । दृष्टि कहती है कि मेरे आत्मा में आनंद है । इन्द्रिय सुख, सुख है ही नहीं, वह तो दुःख है, जहर है, उपसर्ग है ।

धर्मी जीव लौकिक ज्ञान को तथा शास्त्र ज्ञान को ज्ञान नहीं मानता । वह तो अतीन्द्रिय ज्ञान को ही ज्ञान मानता है, जो मन से पार, राग से भिन्न, इन्द्रियों से रहित, इन्द्रियातीत ज्ञान और सुख है वही वास्तविक ज्ञान है, वही सुख है ।

लोग धूल समान धन के पीछे दौड़ते हैं ना ! वैसे धर्मी अपना धन अन्दर में देखते हैं तो उसके पीछे दौड़ते हैं । सम्यग्दृष्टि जीव भले ही स्त्री हो या पुरुष, चाहे आठ वर्ष की बालिका हो तो भी अपने अतीन्द्रिय ज्ञान सुख के पीछे दौड़ते हैं । अरे रे ! सम्यग्दृष्टि मेंढक हो या हजार योजन का महामच्छ हो, वह भी ऐसा मानता है कि मेरी लक्ष्मी मेरे पास है । पुण्य-पाप भाव और उनके फल में प्राप्त संयोग वह मेरी लक्ष्मी नहीं ।

सहजात्म स्वभाव की पर्याय प्रतीति बिना बाहर के संयोगों का त्याग पर्याय त्याग नहीं हैं ।

मिथ्यादृष्टि शुभराग में लाभ मानता है, शरीर की क्रिया को धर्म की साधन मानता है, जबकि सम्यग्दृष्टि राग को रोग जानता है और उस रोग को टालने का उपाय करता है । अज्ञानी शरीर के रोग को तो रोग जानता है, उसे टालने का उपाय भी करता है । उसे शरीरादि में मेरेपने की बुद्धि रूप सन्निपात का रोग लगा है । उसका अज्ञानी को भान नहीं । ज्ञानी को यह रोग तो नहीं है । परन्तु पुण्य-पाप भाव रूप फोड़े हो आते हैं उन्हें टालने का प्रयत्न करता है ।

आत्मा अतीन्द्रिय आनंद की बड़ी खान है, उसमें दृष्टि ज्ञान तथा स्थिरता करते ही अनंत अतीन्द्रिय आनंद बाहर आता है अनुभव में आता है । आत्मा ज्ञान-आनंदमय है । पुण्य पाप तथा रागमय तीन काल में भी नहीं । भाई ! तू शरीर की जाँच कराता है, परन्तु एक बार तेरे आत्मा की जाँच तो कर कि उसमें क्या भरा है ? श्रीमद् रायचन्दजी लिखते हैं—

**“आत्म भ्रान्ति सम रोग नहीं, सदगुरु वैद्य सुजान  
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान”**

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंदमय है, ऐसा न मानकर आत्मा को राग, शरीर, पुण्य-पाप, संयोगों वाला मानना यह भ्रान्ति है। इसके समान जगत में और कोई रोग नहीं। उसे टालने का उपाय सदगुरु बतलाते हैं। सदगुरु तो यहाँ तक कहते हैं कि तू हमारे प्रति राग करता है, यह भी रोग है।

**प्रश्न :** प्रभु ! इस रोग को टालने का उपाय क्या ?

**उत्तर :** “अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप,  
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्ष स्वरूप”

शुद्धात्मा का अनुभव करना यही एकमात्र रोग टालने का उपाय है। इसलिये ही ज्ञानी व्यापार आदि कार्यों के बीच में भी अनुभव का समय निकाल लेते हैं। आत्मा का स्पर्श करके अनुभव कर लेते हैं। अनुभव ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसे बाहर की प्रवृत्ति में और संयोगों से वैराग्य बढ़ता जाता है। व्यापार आदि प्रवृत्ति में कहीं भी चैन नहीं पड़ती। इस कारण आत्मा में विशेष लीन होने के लिये धर्मी बाहर के संयोगों को त्याग कर मुनि बनकर जंगल में चले जाते हैं।

अपने आत्मा के उग्ररूप से साधने का पुरुषार्थ होते ही बाहर की वस्तुओं का त्याग सहज हो जाता है। जैसे पागल कुत्ते ने जिसे काटा हो उसे पानी, हवा, भोजन आदि कुछ भी नहीं रुचता; कहीं चैन नहीं पड़ती। वैसे ही जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र की अन्दर में लगन लगी हो ऐसे धर्मी को बाहर में चैन नहीं पड़ती, रुचि नहीं लगती। बोलना, चालना, व्यापार, प्रसिद्धि, मनोरंजन आदि में कहीं मन लगता नहीं। एक आत्मा की लगन लगी है। वह अपने अन्तर स्वभाव में विशेष लीनता के लिए घर, वस्त्र आदि बाहर के संयोगों का त्याग करता है, उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं।

मालवा का अधिपति राजा भर्तृहरि ने जब अपने प्राणों से भी प्यारी पींगला रानी का मायाचार जाना तब उसे कैसा वैराग्य आया होगा ? धर्मी को चौथेगुणस्थान में समस्त जगत के प्रति अन्दर से सच्चा वैराग्य प्रगट हो जाता है।

प्रभु ! तुझे तेरे माहात्म्य की खबर नहीं । अनंत...अनंत अतीन्द्रिय आनन्द का प्रवाह पर्याय में अनन्तकाल तक बहे तो भी कभी समाप्त न हो, ऐसा अनन्त आनन्द का समुद्र तू स्वयं ही है । भाई ! ऐसे आत्मा की एक बार दृष्टि प्रगट होते ही राग का श्रद्धा-ज्ञान में से नाश हो जाता है । चरित्र में राग आता है; परन्तु उसे ज्ञानी काले-सर्प के समान जानकर उसका त्याग करते हैं । स्वरूप में विशेष स्थिरता-स्वानुभव का अधिक अभ्यास करने के लिए मुनीपना अंगीकार करते हैं । मुनिदशा में वीतरागता की अधिक वृद्धि होती है ।

आत्मा जब उग्र पुरुषार्थ करके स्वरूप लीनता का भरपूर अभ्यास करता है तब केवलज्ञान दौड़ता हुआ आता है । आत्मानुभव की उग्रता केवलज्ञान को बुलाती है ।

इस गाथा में सम्यग्दर्शन, मुनिदशा और केवलज्ञान की भूमिका की बात आ गई। अब आगे रत्नत्रय युक्त जीव ही उत्तम तीर्थ है यह बात करेंगे—

*रत्नत्रय धर्म ही उत्तम तीर्थ है*

**रयणत्रय-संजुत जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु ।  
मोक्खह कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥८३॥**

**रत्नत्रय से युक्त जो वह आत्मा ही तीर्थ है ।  
है मोक्ष का कारण वही ना मंत्र है ना तंत्र है ॥८३॥**

अर्थ : हे योगी ! रत्नत्रय सहित जीव उत्तम व पवित्र तीर्थ है । यही मोक्ष का उपाय है और कोई तन्त्र या मन्त्र नहीं है ।

आचार्य श्री योगीन्द्र देव मुनिराज १३०० वर्ष पहले नग्न दिगम्बर महासंत हो गये । जैसे जंगल में सिंह गर्जन करता हुआ घूमता है वैसे ही मुनिराज गर्जना करते हुये कहते हैं । कि उत्तम तीर्थ तो रत्नत्रय युक्त जीव ही है । अन्य सम्मेदशिखर, गिरनार, शत्रुंजय आदि तीर्थ तो शुभभाव में निमित्त हैं । उससे शुभभाव होता है; परन्तु धर्म नहीं होता । भवसागर में तारने वाला तीर्थ तो शुद्ध आत्मा का दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही है । उसके अलावा अन्य उपाय नहीं ।

निश्चय रत्नत्रय ही साक्षात्, उत्तम, पवित्र तीर्थ है । उसकी यात्रा करने से ही जन्म, जरा, मरण का नाश होकर मुक्ति प्राप्त होती है ।

आत्मा स्वयं ज्ञान चेतनामय है। ज्ञान स्वरूप का वेदन वह ज्ञान चेतना है। रागादि का वेदन वह अज्ञान चेतना है। निराकुल भगवान आत्मा की दृढ़ श्रद्धा वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। वह आत्मा के आश्रय से होता है। राग में तथा राग से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। आत्मा का ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है, आत्मा में स्थिरता वह सम्यक्चारित्र है। इन तीनों से सहित यह आत्मा उत्तम तीर्थ है। आत्मा रूपी जहाज को आत्मा रूप सागर में चलाते-चलाते आत्मा मोक्षद्वीप में पहुंच जाता है।

### रत्नत्रय का स्वरूप

दंसणु नं पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महत्तु ।

पुणु-पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्तु ॥८४॥

निज देखना दर्शन तथा निज जानना ही ज्ञान है।

जो हो सतत वह आत्मा की भावना चारित्र है ॥८४॥

अर्थ : यह आत्मा मल रहित शुद्ध व महान परमात्मा है ऐसा जो श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है व ऐसा जानना सो ज्ञान है। बारबार इस आत्मा की भावना करनी सो पवित्र या निश्चय शुद्ध चारित्र है।

योगसार वह पर्याय है। उसका विषय ध्रुव, शाश्वत, शुद्ध, त्रिकाल सत आत्मा है। उसे ध्येय बनाकर उसकी श्रद्धा, ज्ञान, रमणता करना उसे योगसार कहते हैं।

आत्मा मल/दोष रहित विमल व महान है। एक समय में अनंत परमात्म दशा जिसके गर्भ में पड़ी है, ऐसा ध्रुव-शाश्वत स्वयं ही है। उसकी श्रद्धा करना वह सम्यग्दर्शन है। कैसे श्रद्धा करना? पर सन्मुखता तथा भेद के विकल्प छोड़कर, स्वसन्मुखता पूर्वक आत्मा को देखना-श्रद्धान करना उसका नाम सम्यग्दर्शन है। अपने आत्मा को ज्ञेय बनाकर उसका यथार्थ ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है।

भगवान आत्मा अनंतगुण स्वरूप और असंख्यात प्रदेशी है। परन्तु उसमें गुण तथा प्रदेश भेद नहीं है। वह एक रूप अखंड है इसलिये उसकी दृष्टि भी एकरूप हो तब आत्मा की श्रद्धा होती है।

आत्मा महान पदार्थ है, उसके एक-एक गुण भी महान हैं। अनंत शक्ति का धारक ऐसा अनंत शक्तिवान अखंड पिंड आत्मा तो महान ही होगा ना? भगवानने

प्रत्येक आत्मा को ऐसा ही असंख्यात प्रदेशी अनंतगुण स्वरूप देखा है। ऐसे निजात्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करना चाहिये।

पर सत्तावलंबी ज्ञान वह ज्ञान ही नहीं। स्वसत्तावलंबी ज्ञान कि जो त्रिकाल ज्ञान स्वरूप में से प्रगटता है, वहीं सच्चा ज्ञान है। जैसे अभेद-अखंड-एक रूप आत्मा को दृष्टि-ज्ञान में लिया था; उसी आत्मा में स्थिरता, लीनता करना अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करना, उसीको सर्वज्ञ देव ने यथार्थ चारित्र कहा है।

असंख्यात प्रदेशी आत्मा क्षेत्र से छोटा बड़ा कितना भी हो परन्तु भाव से महान है। इस अनन्त गुण स्वरूप आत्मा में लीनता करना चारित्र है। यह चारित्र ही वास्तविक मोक्ष का मार्ग है। चारित्र का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान है। इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है।

भगवान आत्मा अनन्त गुणों का पिंड है। इन गुणों का स्वभाव, परिणमन करना है। द्रव्य है-पर्याय है, परिणमन शक्ति से पर्याय का परिणमन होता है। सब व्यवहारनय का विषय है और यह आश्रय करने लायक नहीं। व्यवहार का विषय ही नहीं, ऐसा नहीं। विषय तो है परन्तु आदरने लायक नहीं।

चौदह गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि की पर्यायें आश्रय करने लायक नहीं इसलिए उन्हें व्यवहार कहा है। पर्याय को गौण करके व्यवहार, अभूतार्थ कहा है। तथा द्रव्य के पूर्ण ध्रुव स्वरूप को मुख्य करके निश्चय और भूतार्थ कहा है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग रूप पर्यायें हैं। पर्याय ही नहीं ऐसा मानेगा तो मोक्षमार्ग का अभाव हो जावेगा, परन्तु ऐसा नहीं। पर्याय हैं उसका लक्ष करने से जीव का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसलिए उसे गौण करके व्यवहार और अभूतार्थ कहा है। तथा त्रिकाली ध्रुव स्वभाव का आश्रय लेने से प्रयोजन सिद्ध होता है। इसलिए स्वभाव को मुख्य करके भूतार्थ कहा है।

जीव का प्रयोजन शांति और आनंद है और वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से प्रगट होता है।

भगवान आत्मा अनादि-आनंत स्वतः सिद्ध वस्तु है। जन्म-मरण रहित है। जगत में संख्या अपेक्षा अनंत जीव हैं। वे सब जाति अपेक्षा समान हैं। आलू के छोटे से छोटे टुकड़े में अनंत जीव हैं अर्थात् अभी तक जितने सिद्ध हुये है उससे अनन्त गुणे जीव हैं। वे सभी जीव स्वभाव से समान हैं और प्रत्येक की सत्ता भिन्न भिन्न है।

हे भाई ! ऐसे अनंतानत पर द्रव्यों की सत्ता और स्वयं की सत्ता का एक बार स्वीकार करने की सामर्थ्य तेरी एक समय की पर्याय में है, उसका तू स्वीकार कर ।

भगवान आत्मा किसी पर-द्रव्य का कार्य नहीं तथा किसी परद्रव्य के कार्य का कारण भी नहीं । ऐसी अकार्य-कारण शक्ति है । इस कारण उसके सभी गुण भी अकार्य कारण स्वरूप हैं ।

अध्यात्म में अन्तर की बातों को ग्रहण करने के लिये बहुत पुरुषार्थ चाहिये । ये तो सर्वज्ञ भगवान के घर की बातें हैं । इन्हें समझने के लिए तीव्र पुरुषार्थ चाहिये । धर्म कोई साधारण वस्तु नहीं । इसके फल में भूतकाल से भी अनन्तगुणी भविष्य की पर्यायों में अतीन्द्रिय आनन्द का फल मिले, ऐसे धर्म की क्या बात करें ? और यह धर्म जिसके आश्रय से प्रगट हो उस द्रव्य का तो कहना ही क्या ? उसकी महिमा का कोई पार नहीं ।

परन्तु अरे रे ! अज्ञानी जीव को अपनी स्वतंत्र महान सत्ता की बात रुचती ही नहीं । परन्तु भाई ! तू तो सिंह जैसा पराक्रमी है; तुझे पराधीनता-कायरता शोभा नहीं देती ।

आत्मा स्वभाव से अकर्ता-अभोक्ता है । पर का कर्ता-भोक्ता तो आत्मा नहीं; परन्तु स्वभाव से राग का कर्ता-भोक्ता भी नहीं । गजब बात है भाई । समझने जैसी बात है।

क्या राग आत्मा के स्वभाव की खान में पड़ा है, जिसे आत्मा करे ? वास्तव में यदि आत्मा राग का कर्ता हो तो पूरा द्रव्य विकारी हो जाये; परन्तु ऐसा नहीं है । इसलिए राग का कर्ता आत्मा है ही नहीं ।

वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा सर्वज्ञ देव ने बताया है; कहीं बनाया नहीं । जैसा स्वरूप है वैसा सर्वज्ञ ने जाना । जैसा जाना, वैसा वाणी में आया ।

भाई ! तू आत्मा है ना । तेरे में महान पवित्रता भरी है । उस पवित्रता रूप परिणम जा । यह परिणमन व्यवहार है और ध्रुव स्वयं निश्चय है ।

एक रजकण का भी आत्मा कर्ता नहीं है तो फिर उसे पर को बचाने वाला दयापालने वाला या पर को मारने वाला कैसे कहना ? ऐसा कहना तो भगवान आत्मा के लिए कलंक है । जो स्वभाव नहीं उसे स्वभाव मानना वह तो कलंक है प्रभू । इस कलंक का फल बहुत नुकसानकारक है भाई ! स्वयं को नुकसान हो, ऐसा तू क्यों मानता है ?



भाई ! भगवान के स्वदेश की बातें हैं । जिसे परदेश से निकल कर स्वदेश में आना हो उसके लिए ये बातें हैं । भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के रसकंद से तराबोर-भरा हुआ है । पूरे असंख्यात प्रदेश अतीन्द्रिय आनन्द से तराबोर हैं, उसमें आनन्द ठसाठस भरा पड़ा है । उसमें अन्य कुछ के प्रवेश के लिए अवकाश ही नहीं । आत्मा वास्तव में ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता है । परन्तु ऐसा भेद करके कहना यह भी व्यवहार है ।

आत्मा कैसी वस्तु है ? कैसी इसकी महिमा है? उसका अज्ञानी जनों ने अन्तर से विचार ही नहीं किया । अरे रे ! आत्मा तो ऐसा है कि आत्मा के पेट में से परमात्मा का प्रसव होता है । आत्मा, परमात्मा का प्रसूतिगृह है । परमात्मा की अनन्त पर्यायें आत्मा के पेट में भरी हैं । जब आत्मा स्वभाव में एकाकार होता है, तब एक के बाद परमात्म पर्याय प्रगट होने लगती हैं ।

प्रवचनसार की अन्तिम गाथा में आचार्य देव कहते हैं कि 'एक पूर्णशाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज ही अव्याकुलपने नाचो । आज ही आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द लो । और फिर कहते हैं कि इस शास्त्र की रचना मेरे से नहीं हुई । यह तो पौद्गलिक शब्दों की रचना है । इसलिए यह टीका अमृतचन्द सूरि ने रची है ऐसा मत नाचो । भाषा में स्वपर को कहने की सामर्थ्य है और ज्ञान में स्वपर को जानने की सामर्थ्य है। "इस चैतन्य को चैतन्य रूप ही आज ही प्रबल-पने अनुभवो ।" अच्छे कार्य में चतुर पुरुष वायदा नहीं करते । इसलिये भगवान आत्मा किसी का कर्ता-हर्ता नहीं, मात्र जानने- देखने वाला है; ऐसा स्वीकार करके अभी ही अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करो । वायदा मत करो ।

भाई ! अनन्त काल में दुर्लभता से यह थोड़ासा समय मिला है; अहो ! मनुष्य भव का काल बहुत थोड़ा है; इसे तू अन्य कार्यों में गुमा देगा तो तेरे कल्याण का समय चला जावेगा । इसलिए मिथ्या मान्यता छोड़कर स्वानुभव करले । कहा भी है कि

**अनुभव चिन्तामणि रत्न, अनुभव है रसकूप ।  
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्ष स्वरूप ॥**

आत्म स्वरूप का अनुसरण करके जो दशा होती है वह अनुभव है । इसलिए मुमुक्षु को उचित है कि आत्म स्वरूप में बारंबार भावना भावे । भावना में रहना वह

चारित्र है। आत्मा अपने से अपने में एकाकार हो जाता है वही रत्नत्रय है। यह रत्नत्रय धर्म ही निज आत्मा का स्वभाव है।

एक हजार वर्ष पहले हुये अमृतचन्द्राचार्य वास्तव में अकेला अमृत का ही घोलन कराने वाले थे। ये आचार्य कैसे लगते होंगे? मानों चलते-फिरते सिद्ध ही देखलो। ऐसे अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय में लिखते हैं कि आत्मा का निश्चय होना वह सम्यग्दर्शन है। आत्मा का ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान है। आत्मा में लीनता वह सम्यग्चारित्र है इन तीनों से कर्मबंधन नहीं होता।

*आत्मानुभव में सब गुण हैं*

**जहिं अप्पा तहिं सयल-गुण केवलि एम भणंति ।  
तिहि कारणाँ जोइ फुडु अप्पा विमलु मुणंति ॥८५॥**

जिन-केवली ऐसा कहें—'तहँ सकल गुण जहँ आतमा।'

बस इसलिए ही योगीजन ध्याते सदा ही आतमा ॥८५॥

**अर्थ :** जहां आत्मा है वहां उसके सर्वगुण हैं। केवली भगवान ऐसा कहते हैं इस कारण योगीगण निश्चय से निर्मल आत्मा का अनुभव करते हैं।

केवली भगवान की साक्षी देते हुए मुनिराज बात करते हैं। जैसे स्वच्छ निर्मल जल में आकाश में स्थित तारे दिखाई देते हैं; तारों को देखने के लिए ऊपर नहीं देखना पड़ता, वैसे ही भगवान को निज आत्मा के अवलंबन से प्रगट हुई केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में तीनकाल और तीन लोक जानने में आते हैं। परन्तु जैसे पानी में तारे नहीं आते वैसे ही ज्ञान में लोकालोक आते नहीं। मात्र लोकालोक सम्बन्धी ज्ञान होता है।

केवलज्ञान की एक समय की पर्याय की इतनी सामर्थ्य है। ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायों को धरने वाला एक गुण। ऐसे-ऐसे अनन्त गुणों का पिंड एक आत्मा है। उसकी महिमा की क्या बात करना? लोगों को धर्म तो करना है; परन्तु धर्म करने वाला स्वयं कैसा है? कितना महान है? उसका तो मान नहीं। हे प्रभु! चैतन्य संपदा तेरे धाम में है, उसे तू सम्हाल; यही तेरा धर्म है। परन्तु अरे रे! ऐसे महिमावंत आत्मा की महिमा तुझे आती नहीं। राग की, पुण्य की, वैभव की महिमा आती है।

**प्रश्न :** प्रभु ! आप ऐसी बात करते हो कि सुनते ही खुशी-खुशी-सी हो जाती है ।

**उत्तर :** भगवान ! तेरे घर की बात है न भाई ! तुझे यह रुचना ही चाहिये । कोई किसी को कुछ करा नहीं देता । तीन लोक के नाथ तीर्थंकर देव भी किसी को आत्मा की रुचि या दृष्टि करा नहीं सकते । स्वयं ही को अपनी रुचि-दृष्टि-ज्ञान और अनुभव करना है । महाविदेह में तो अभी धर्मधुरन्धर तीर्थंकर विचरते हैं तो क्या वहां सभी जीव समकिति होंगे ? अरे ! सातवें नरक में जानेवाले जीव भी वहां हैं और मोक्ष जाने वाले जीव भी वहां हैं । यही तो जीव की स्वतंत्रता को बतलाता है ।

यहां गाथा में यह कहते हैं—भाई! प्रशंसा करने योग्य अच्छे-अच्छे सभी गुण तेरी आत्मा में ही हैं । संयोगों में तो नहीं परन्तु तेरी एक समय की पर्याय में भी सभीगुण नहीं आ जाते । श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द, शांति, स्वच्छता, परमेश्वरता, कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, भाव, अभाव आदि अनन्त गुण जहां आत्मा है वहां असंख्यात प्रदेशों में ठसाठस भरे हैं । एक भगवान आत्मा को अन्तरदृष्टि से अनुभवते ही उसमें रहने वाले अनन्त गुण एक साथ अनुभव में आ जाते हैं ।

लोग कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र नहीं होता । परन्तु भाई ! सोचो, यदि स्वरूपाचरण चारित्र न हो तो चारित्र के अंश के बिना आनन्द का अंश भी नहीं आयेगा और अनन्त आनन्द का धारक ऐसा द्रव्य दृष्टि में प्रतीति में आने का फल क्या ? सम्यग्दर्शन ऐसी चीज है कि सर्वगुणों के अंश को प्रगट करके अनुभवता है । इसलिए ही कहा है 'सर्वगुणांश ते समकित' भगवान के ज्ञान में जितने गुण आये हैं । उन सभी गुणों का आंशिक अनुभव समकिति को होता है ।

जैसे आम का ग्रहण करते ही उसके स्पर्श-आदि सभी गुणों का ग्रहण हो जाता है वैसे ही आत्मा का ग्रहण होते ही उसके सभी गुणों का ग्रहण हो जाता है; उसका नाम स्वानुभूति कहो, समकित कहो या धर्म कहो सभी एक ही बात है ।

भगवान आत्मा एक समय में अनन्त गुण सम्पन्न एक वस्तु है । अनन्त गुण अर्थात् कितने ? आकाश प्रदेशों से अनन्त गुण गुण प्रत्येक आत्मा में हैं ।

आकाश के प्रदेश अनन्त हैं; अनन्त अर्थात् कितने ? छः महिना आठ समय में छः सौ आठ जीव मोक्ष में जाते हैं । अभी तक जितने जीव मुक्त हुये हैं उनसे अनन्त गुण जीव एक निगोद शरीर में हैं । ये सभी मिलकर सिद्धों से अनन्त गुण जीव हैं।

जीवसे अनन्त गुणे पुदगल हैं। पुदगल से अनन्त गुणें तीन काल में समय हैं। उन समयों से अनन्त गुणे आकाश के प्रदेश हैं। उन प्रदेशों से अनन्त गुणे गुण एक-एक जीव में हैं।

भगवान कहते हैं कि प्रत्येक जीव में अनन्तानन्त गुण हैं। जो दोष दिखाई देते हैं वे तो किसी गुण की कोई पर्याय में अल्पदोष हैं। अनन्त गुणों में दोष नहीं। अनन्तानन्त गुण हैं। ये प्रत्येक गुण आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में व्यापक हैं।

आकाश का कहीं अंत है? चले जाइये-चले जाइये और देखिये आकाश का कहीं छोर हैं? नास्तिक को भी स्वीकार करना पड़े ऐसी यह बात है। ऐसी चीज का अन्तर में विश्वास आना चाहिये। मात्र धारणा में, विचार में या क्षयोपशम में स्वीकार ले इतने मात्र से नहीं चलेगा। उसे दृष्टि में लेने से, ज्ञान में ज्ञेय बनाने से, चारित्र में उसका आश्रय लेने से अनन्त गुणों की पर्याय एक समय में प्रगट होती है। अनन्त गुण समुदाय कहो या भावसमुदाय कहो, ऐसे निज आत्मा का अन्तर में पोषण होना चाहिये।

केवली भगवान कहते हैं; प्रभु ! तेरे में अनन्त गुण हैं; उनको तू पर से तथा राग से प्रेम हटाकर प्रतीति में ले; अनुभव में ले तो तुझे प्रतीति में अनन्त गुणों स्वरूप एक आत्मा की श्रद्धा होगी। अनन्त गुणों का आंशिक अनुभव होगा। परन्तु अनादि से अज्ञानी जीव ने परद्रव्य और रागादि के प्रेम में आत्मा का अनादर किया, असादना की है, उसकी खबर नहीं।

एक-एक गुण को ग्रहण करने में पूरे आत्मा का ग्रहण नहीं होता। परन्तु अखंड अभेद आत्मा के ग्रहण में अनन्त गुणों का ग्रहण हो जाता है।

यह भाषा में आवे ऐसी वस्तु नहीं। अनन्तानन्त गुणों का एक स्वरूप साक्षात् परमात्मा ही मैं हूँ ऐसी महिमा लाकर अन्तर में घुस जावे तो उसे वस्तु का अनुभव हो।

सोना जैसे गेरु से शोभता है। वैसे ही भगवान आत्मा अपनी उग्र दृष्टि से आत्मा को पकड़ता है तहां तो अतीन्द्रिय आनन्द के प्रतपन से शोभता है। तथा बाहर में इच्छा का निरोध होता है, उसका नाम तप है। उसी समय राग-द्वेष-के अभाव में निश्चय अहिंसाव्रत भी प्रगट हो जाता है। दया का परिणाम वह वास्तविक अहिंसाव्रत नहीं।

आत्मा जब पर के लक्ष से विकल्प में जाता है, तब निर्विकल्प स्वभाव की हिंसा होती है। इसलिए पर के दया भाव में भी अपनी हिंसा होती है। परन्तु लोगों की मान्यता ऐसी है कि—

**दया धरम का मूल है पाप मूल अभिमान ।  
तुलसी दया न छोड़िये जब तक घट में प्राण ॥**

यहां तो कहते हैं कि सर्वज्ञ परमेश्वर का कहा हुआ इस आत्मा की अन्तरदृष्टि करके एकाकार होना; अनुभव करना वही सत्य दया है। पर की दया तो जीव पाल सकता ही नहीं, क्योंकि परद्रव्य की पर्याय आत्मा तीन काल में कर सकता ही नहीं। क्या परद्रव्य वर्तमान पर्याय से रहित है कि उसकी पर्याय को आत्मा करे? यह तो महासिद्धांत है कि “कोई भी पदार्थ किसी भी समय पर्याय से रहित होता नहीं।”

सत् साहब भगवान आत्मा की दृष्टि करते ही सत्यव्रत प्रगट होता है। तथा अनन्त गुण रूप भगवान आत्मा का अनुभव होते ही अर्थात् अपने स्वभाव का स्वीकार होते ही राग के एक कण का भी ग्रहण नहीं करना वही सच्चा अचौर्यव्रत है।

**जहां चेतन तहां अनन्त गुण केवली बोले एम ।  
प्रगट अनुभव आपनों, निर्मल करो सप्रेम ॥  
चैतन प्रभु । चैतन्य संपदा रे तारा धाम मां ।**

चैतन्य संपदा बैकुंठ में या सिद्ध शिला में नहीं। चैतन्य संपदा तो प्रभु तेरे स्वभाव धाम में ही भरी पड़ी है। ज्ञानी आत्मा का परम ब्रह्म स्वरूप निज आत्मा में बिहार करना, अर्थात् निजस्वरूप में एकाकार होना निश्चय ब्रह्मव्रत है।

अनन्त गुणों के पिंड स्वरूप आत्मा में लीन होते ही अर्थात् असंग भाव में रमण होते ही सर्व विभाव तथा पर पदार्थ की मूर्च्छा दूर हो जाती है वही अपरिग्रह व्रत है। आत्मा का अपने आत्म स्वभाव में राग द्वेष रहित होकर स्थिर होना निश्चय सामायिक है।

भाई ! तेरे क्षेत्र में गुणों की कहां कमी है कि तुझे तेरे गुणों को शोधने के लिए अन्यत्र जाने पड़े। भगवान आत्मा अनन्त गुणों का संग्रहालय है। अरे ! केवली भगवान भी यदि आत्मा के अनन्त गुणों का वर्णन करें तो भी करोड़ पूर्व आयु की स्थिति में भी उनका पूर्ण वर्णन नहीं कर सकते।

आत्मा की दृष्टि और अनुभव करते ही भूतकाल के कर्मों की निवृत्ति होती है अर्थात् कर्म स्वयं निर्जरा को प्राप्त होते हैं, उसका नाम प्रतिक्रमण है। तथा भविष्य में होने वाले रागादि भावों का त्याग होता है वह निश्चय प्रत्याख्यान है। इस प्रकार पांच महाव्रत, तीन गुप्ति आदि के भाष आत्म अनुभव में समा जाते हैं। क्योंकि आत्मा अन्तरस्वरूप का आश्रयकरते ही जो दशा प्रगट होती है उसमें क्या कमी रहेगी? सभी गुणों की पर्याय का परिणमन हो जाता है।

चिदानंद निज आत्म स्वभाव की दृष्टि तथा अनुभव करना यही भगवान की स्तुति है। समयसार में भी कुंदकुंद आचार्यदेव शिष्य को केवली की स्तुति का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं—“शरीर, मन, वाणी, विकल्प, रागादि से रहित निज परमात्म स्वरूप में लीनता करना ही केवली की स्तुति है।” ऐसा हम नहीं परन्तु सर्वज्ञ भगवान भी कहते हैं। इसलिये यहां भी कहा है ‘केवली बोले एम’

पूर्णानंद स्वरूप भगवान आत्मा की आराधना करना, सेवा करना, स्वभाव सन्मुखता करना यही सच्चा विनय है और यही गुरु की सच्ची वंदना है। निश्चय स्वरूप में जब तक पूर्णलीनता नहीं होती तब तक व्यवहार आये बिना नहीं रहता। भक्ति, स्तुति, वंदना, पूजा आदि के भाव आते हैं परन्तु उनकी मर्यादा पुण्यबंध जितनी है। वस्तु स्वरूप में ये भाव समा सकते नहीं।

व्यवहार हो तो निश्चय होता है ऐसा नहीं है। राग की मंदता है तो अराग परिणाम होता है ऐसा नहीं है। जब तक स्वभाव का पूर्ण आश्रय लिया नहीं तब तक पराश्रित व्यवहार आये बिना रहता नहीं। वह व्यवहार उस समय जाना हुआ प्रयोजनवान है। व्यवहार और निश्चय दोनों की दिशा भिन्न, दोनों का फल भिन्न तथा दोनों का भाव भी भिन्न-भिन्न है।

भाई ! तू शुद्धात्मा है। तुझे कहीं ठीक न लगे, चैन न पड़े तो अन्दर में अच्छा लगे ऐसा है। अन्दर में जा। तेरी पुकार से कोई साथ नहीं आयेगा; तू अकेला जा। तुझे किसी का क्या काम है। ८६ वीं गाथा में भी यहीं विषय आयेगा।

अहा ! योगसार तो कोई अलौकिक शास्त्र। दिगम्बर संतों की क्या बात कहना? एक-एक श्लोक में चौदह पूर्व का सार भर दिया है। दिगम्बर संत क्षण-क्षण में साक्षात् परमात्मा को स्पर्शते हैं। एक दिन में हजारों बार आत्मा का स्पर्श करते हैं। ऐसे संत द्वारा यह ग्रंथ रचा गया है।

आत्मा जब स्वरूप में सावधान होता है तब मन-वचन-काय की ओर का लक्ष छूट जाता है, उसका नाम त्रय गुप्ति है। अतीन्द्रिय स्वरूप में एकाकार होते ही पांचों इन्द्रियों का लक्ष छूट जाता है उसका नाम संयम है; यही उत्तम क्षमादि दश धर्म है।

सर्व विशुद्ध गुणों का निवास स्थान आत्मा है। जिसने आत्मा की आराधना की उसने सर्व आत्मिक गुणों की आराधना कर ली। आत्मा के ध्यान से आत्मा के गुण विकसित होते हैं अर्थात् पर्याय में प्रगट होते हैं। साथ में अवधि, मनः-पर्यायज्ञान की वृद्धि भी प्रगट होती है। केवलज्ञान का लाभ होता है। इस तरह निर्वाण का परम उपाय एक आत्मा का ध्यान है।

तत्त्वानुशासन में कहा है—जो आत्मा वीतरागी आत्मा में, आत्मा द्वारा आत्मा को जानता देखता है वह स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप होता है। जिनेन्द्र देव इसे ही मोक्षमार्ग कहते हैं।

दिगम्बर संत जहां-तहां जिनेन्द्र देव को मुख्य रखते हैं। भाई ! परमात्मा ऐसा कहते हैं। भाई ! तू इन्कार मत कर। भाई ! ना न कर। आ हा हा ! संतो की करुणा का पार नहीं है।

*एक आत्मा का ही मनन कर*

**एक लड इन्द्रिय-रहियउ-मण-वय-काय-ति-सुद्धि ।  
अप्पा अप्पु मुणेहि तुहुं लहु पावहि सिव-सिद्धि ॥८६॥**

**तु एकला इन्द्रिय रहित मन वचन तन से शुद्ध हो ।  
निज आत्मा को जान ले तो शीघ्र ही शिव सिद्ध हो ॥८६॥**

**अर्थ :** एकाकी निर्ग्रथ होकर पांचों इन्द्रियों से होकर मन-वचन-काय की शुद्धि से तू आत्मा के द्वारा आत्मा का मनन कर मोक्ष की सिद्धि शीघ्र ही कर सकेगा।

पांच इन्द्रियों से विरक्त होकर; निरन्तर एक स्वभाव का ही घोलन कर। विकल्प मत कर। आत्मा द्वारा आत्मा का मनन कर। मनन अर्थात् अन्तर स्वरूप में एकाकार होना। ऐसा मनन जो करेगा, वह मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र करेगा।

गृहस्थाश्रम में धर्म, अर्थ, और काम इन तीन पुरुषार्थों में तो विकल्प जाल में अटकना पड़ता है। अर्थ और काम ये तो अशुभ पुरुषार्थ हैं। धर्म का शुभ पुरुषार्थ है। लेकिन हैं तीनों विकल्प जाल ही।

**प्रश्न :** आप धर्म को शुभभाव क्यों कहते हैं ?

**उत्तर :** भाई ! इस धर्म को समयसार में पुण्य कहा है। व्यवहार धर्म कहो या पुण्य कहो दोनों एक ही हैं। यह निश्चय धर्म नहीं हैं।

स्वतंत्र वस्तु स्वभाव की दृष्टि करने में यदि राग की रुचि रह जाये, राग में लाभ माना जाय तो दृष्टि वहां से नहीं हटेगी। प्रभु ! तुझे तेरी शांति नहीं रुचती और राग रुचता है तो तू कहां जायेगा ? जब तक राग की रुचि रहेगी तब तक वीर्य अन्तर में काम नहीं कर सकेगा। वीर्य गुण का सही कार्य अपने स्वभाव की रचना करना है। परन्तु जब तक वीर्य राग, गुण पुण्य, संयोग आदि में उल्लास से काम करेगा तब तक स्वभाव का काम नहीं कर सकेगा। इसलिए गृहस्थ को पहले ही रागादि की रुचि छोड़ देना चाहिये।

कर्म के लक्ष से उत्पन्न हुई कर्मधारा है वह ज्ञानधारा में विघ्न करने वाली है। तीन काल और तीन लोक में वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा बताया गया है—“एक होय त्रण काल मां परमार्थ नो पंथ” उसमें शिथिलता या फेरफार नहीं किया जा सकता। प्रभु ! तेरे स्वरूप में शिथिलता कहां है ? ज्ञान से देख तो तू अकेला ज्ञान का ही पुंज है। वीर्य से देखे तो अकेले वीर्य का पिंड है। आनन्द से देखे तो अकेले आनन्द का पिंड है। गुणपुंज आत्मा है। आत्मा तो अनन्त गुणों का समूह है।

हे भाई ! तू अकेला तेरे आत्मा को देख। यह आत्मा कैसा है ? परमार्थ दृष्टि से आत्मा कर्म, विकार, शरीरादि से रहित है। अतः हे भाई ! मन-वचन-काय की शुद्धि पूर्वक स्वभाव सन्मुख होकर तेरे आत्मा का ध्यान कर। यही मोक्षमार्ग और यही योगसार है।

मुनिराज को आत्मा का उत्कृष्ट ध्यान होता है। परन्तु गृहस्थाश्रम में रहने वाले श्रावक भी एकदेश आत्मा का ध्यान कर सकते हैं। नियमानुसार भक्ति अधिकार के प्रथम श्लोक में ही श्री कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि श्रावक हो या मुनि, दोनों ही निश्चय रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। इसलिए सिद्ध होता है कि श्रावक को भी निश्चय रत्नत्रय का ध्यान होता है।

आत्मानुभव पूर्वक अन्तर स्थिरता वह निश्चय रत्नत्रय की भक्ति है। सर्वार्थसिद्धि के चतुर्थ गुणस्थानवर्ती देवों से भी अधिक जिसकी शांति बढ़ गई; वह श्रावक भले स्त्री, कुटुम्ब के बीच हो, राज्य भोग भोगता हो, उसे विषयभोग की वासना भी हो, परन्तु वह श्रावक स्वभाव के आश्रय से शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करता है।



भाई ! तू वस्तु का स्वरूप समझ । परमानंद की मूर्ति, परमात्म स्वरूप की अन्तर में निश्चय-स्वाश्रित दृष्टि करना निश्चय सम्यग्दर्शन है । सात तत्वों की श्रद्धा वह व्यवहार सम्यक्त्व है । ज्ञान स्वभाव का ज्ञान करना स्वसंवेदन करना वह निश्चय ज्ञान है । शास्त्रज्ञान करना वह व्यवहार ज्ञान है । अपने स्वरूप की दृष्टि-ज्ञान सहित स्थिरता करना वह निश्चय चारित्र है और ज्ञानी के व्रत संयमादि के परिणाम वह व्यवहार चारित्र है । अरे ! चौथे गुणस्थान में भी मुक्त स्वरूप आत्मा का जहां भान हुआ, वहां उसे निर्विकल्प प्रतीति होती है । श्रावक को दो कषाय के नाश पूर्वक विशेष शांति बढ़ जाती है । स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई शांति को यहां निश्चय रत्नत्रय कहा है ।

निर्वाण का साक्षात् उपाय तो निर्ग्रन्थ पद है । अहो ! अलौकिक बात है । अन्दर में तीन कषाय के अभाव रूप निर्ग्रन्थ भाव और बाह्य में नग्न दशा यह दशा साक्षात् मोक्ष का उपाय है ।

सम्यग्दृष्टि को स्वभाव में ही सुख है, इन्द्रिय विषयों में सुख नहीं ऐसी दृढ़ प्रतीति होने पर भी इन्द्रिय विषयों की आसक्ति रहती है । क्योंकि आसक्ति होना वह चारित्र का दोष है और इन्द्रिय विषयों में सुख है ऐसा मानता है वह तो श्रद्धा का दोष है । सम्यग्दृष्टि को तीनकाल और तीनलोक में एक आत्मा के सिवाय कहीं सुखबुद्धि नहीं होती । जहां सुख हो वहां सुखबुद्धि होगी । या जहां सुख नहीं वहां सुखबुद्धि होगी? अपना आनन्द तो अपने में ही है । पुण्य-पाप में आत्मा का आनन्द नहीं, ऐसी श्रद्धा धर्मी को प्रथम दृष्टि में ही हो जाती है ।

इसलिये श्री कुंदकुंदाचार्य ने मूलाचार में लिखा है—देख भाई ! यदि तेरी दृष्टि सम्यक हुई है तो तेरे सम्यग्दर्शन में दोष न लगे इसका बराबर ध्यान रखना । आसक्ति न छूटे तो तू विवाह कर लेना; परन्तु मिथ्यादृष्टि साधु का संग कदापि नहीं करना । क्योंकि विवाह करना तो चारित्र का दोष है । परन्तु मिथ्याश्रद्धावन्त के संग रहने से तो स्वयं की श्रद्धा मिथ्या हो जावेगी तो तू श्रद्धा से भ्रष्ट हो जायेगा ।

**प्रश्न :** अरे रे ! क्या संत विवाह करने को कहेंगे ?

**उत्तर :** अरे भाई ! इसका अर्थ समझना चाहिये । मुनि को तो विवाह आदि कार्यों का मन-वचन-काय से कृत-कारित-अनुमोदना से नव नव कोटि से त्याग होता है । यहां तो मिथ्यात्व से बचाने के लिये यह बात कही है । मिथ्यादर्शन का पाप चारित्र दोष से महान/बड़ा दोष है । परन्तु लोगों को मिथ्यादर्शन का पाप और सम्यग्दर्शन का पाप और सम्यग्दर्शन धर्म की कीमत क्या है उसकी खबर नहीं ।

“सिञ्जंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिञ्जंति” स्त्री के संग में चारित्र दोष लगेगा। श्रद्धा का दोष नहीं लगेगा। जिसकी दृष्टि विपरीत है वह भले साधु क्यों न हो उसके संग में समकिति की श्रद्धा विपरीत हो जायेगी। यह महादोष लगेगा। मूलाचार में मुनिराज के उपरोक्त बात कहने का यही अभिप्राय है। स्त्री के संग में पाड़ने का आशय नहीं। ब्रह्म स्वरूप में लीन रहने वाले आत्मानंदी मुनिराज ऐसा कहते हैं तो उसका आशय बराबर समझना चाहिये।

यहां योगीन्द्रदेव भी यही कहते हैं—सम्यग्दृष्टि होने पर भी विषयों की आसक्ति तेरे न छूटे तो गृहस्थाश्रम में रहकर आत्मा का मनन करना और जब आत्मिक सुख का प्रेम अधिक बढ़ जावे, विषयों का रस फीका पड़ जावे, कहीं आसक्ति न हो तो जितेन्द्रिय होकर निरंतर आत्मा का मनन में लगना अर्थात् मुनिहोकर स्वरूप में लीन हो जाना योग्य है।

आत्मानुशासन में गुणभद्र स्वामी लिखते हैं कि मुनि को योग्य है कि वे बारंबार सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करके उसको बढ़ाते रहें। चैतन्य ज्योति स्वरूप आत्मा की दृष्टि पूर्वक ज्ञान का विकास करें अर्थात् आत्मा की सर्वशक्तियां- आनंद, शांति, चारित्र, वीर्य आदि का विकास हो और राग को घटावें, ज्ञान को फैलावें वह मुनि को योग्य कार्य है।

भाई ! मोक्ष का मार्ग ऐसा निरालंकी है। निश्चय मोक्षमार्ग को व्यवहार मोक्षमार्ग का अवलंबन नहीं।

जैसे कलियों का विकास होकर फूल खिलता है। वैसे ही परम पारिणामिक स्वभाव शक्तिरूप है, उसमें एकाग्र होकर पर्याय में उसका विकास करो। अनंत शक्तियों को पर्याय में खिलाओ। तथा राग-द्वेष न करते हुये समताभाव से आत्मा को ध्यावो, क्योंकि परमानंद मूर्ति आत्मा का ध्यान करना, वही मोक्ष का मार्ग है। द्रव्य संग्रह की ४७ वीं गाथा में भी यही बात कही है।

अहो ! कोई भी शास्त्र देखो, चारों ओर से आचार्यों ने एक ही वीतराग स्वरूप मोक्षमार्ग बताया है स्पष्ट किया है। वीतरागी मोक्षमार्ग का ढिढोरा पीटा है।

सहज स्वरूप में रमण कर

जइ बद्धउ मुक्कडउ मुणहि तो बंधियहि णिभतु ।  
सहज-सरुवइ जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु ॥८७॥

यदि बद्ध और अबद्ध माने बंधेगा निर्भ्रान्त ही ।  
जो रमेगा सहजात्म में तो पायेगा शिव शान्ति ही ॥८७॥

अर्थ : यदि तू बंध-मोक्ष की कल्पना करेगा तो निःसंदेह तू बंधेगा । यदि तु सहज स्वरूप में रमण करेगा तो शान्त स्वरूप मोक्ष को पावेगा ।

आ हा हा ! आत्मा यदि तू बंध-मोक्ष की कल्पना करेगा तो निःसंदेह बंधेगा । यह मुझे राग होता है, यह छूटेगा तो मोक्ष होगा, ऐसा विकल्प भी बंध का कारण है ।

भाई ! तू बंध और मोक्ष इन दोनों को पर्याय दृष्टि से देखने जायेगा तो नियम से बंधेगा । यह तो योगसार है ना । योगस्वरूप में एकाकार हो बंध-मोक्ष का विकल्प नहीं करना, इसका नाम योगसार है । आचार्य देव कठोर भाषा में कहते हैं, बंध-मोक्ष का विचार भले चले; परन्तु विकल्प तो बंध के ही कारण है ।

प्रश्न : परन्तु एक भी जीव का घात नहीं हुआ ना, फिर भी बंधन ?

उत्तर : हां, यह जीव का घात बंध का कारण नहीं है, लेकिन विकल्प बंध का कारण है । पर्याय दृष्टि/व्यवहार नय का आश्रय करने से बंध होता है।

मोक्ष का प्रयोजन पर्याय के लक्ष से सिद्ध नहीं होता । क्योंकि निर्मल पर्याय में से भी नई पर्याय उत्पन्न नहीं होती । नियमसार पचासवीं गाथा में क्षायिक सम्यग्दर्शन को भी परद्रव्य कहा है। क्यों ? जैसे परद्रव्य में से अपनी निर्मल पर्याय नहीं आती, उसी प्रकार अपनी निर्मल पर्याय में से नई निर्मल पर्याय नहीं आती । इस अपेक्षा से उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक इन चारों पर्यायों को परद्रव्य कहा । नई पर्याय उत्पन्न होने का स्थान एक ध्रुव स्वभाव है, वही स्वद्रव्य है ।

वास्तविक तत्व की समझ बिना किसी का कल्याण हो सके ऐसा नहीं । क्योंकि कल्याण की खान आत्मा स्वयं ही है । उसकी एकरूप दृष्टि बिना कल्याण का अंकुर कहां से उत्पन्न होगा ?

आचार्य कहते हैं—निर्वाण का उपाय एक शुद्धात्मानुभव ही है । जहां मन के विचार, विकल्प आदि सब बंद हो जाते हैं और स्वानुभव का प्रकाश होता है, उसे

निर्विकल्प समाधि कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में राग रहित वीतराग शांति है वह निर्विकल्प समाधि है, वही मोक्ष का मार्ग है।

भाई ! बात तो कठिन है, परन्तु तू समझने का प्रयत्न कर। नय, प्रमाण, निक्षेप छोड़कर एक रूप निज परमात्मा के ऊपर दृष्टि दे, उसी में लीनताकर तो तेरा निर्वाण होगा ही होगा। जैसे ठंडा, बन को जला डालता है वैसे ही अकषाय शांति, संसार वन को जला डालती है। उसका मोक्ष होता ही है।

भक्ति में आता है कि “उपशम रस बरसे रे प्रभु तारा नयन मां”। उपशम अर्थात् अकषाय शांति, उसकी पूर्णता वही वीतरागता। आत्मा अकषाय स्वरूप है, वैसा अकषाय भाव पर्याय में प्रगट होना, वह उपशम भाव है।

प्रभु ! ये सभी बातें भाषा में तो सुगम लगती हैं, लेकिन उसकी प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ की उग्रता चाहिये। भाषा में कहीं भाव आ नहीं जाते। पुरुषार्थ करने से ये भाव प्रगट होते हैं।

बंध-मोक्ष का विचार यह भी राग है, बंध का कारण है।

प्रश्न : लेकिन प्रभु ! विचार तो ज्ञान की पर्याय है ना ?

उत्तर : भाई ! है तो ज्ञान की पर्याय, परन्तु साथ में जो राग आता है, भेद पड़ता है, वह बंध का कारण है। समयसार कलश में पं. राजमल्लजी ने यह बात ली है। विचार भी बंध का कारण है। वहां ज्ञान को बंध का कारण नहीं कहा, परन्तु ज्ञान राग में या भेद में रुक जाता है। उसका नाम विचार है और वह बंध का कारण है। मैं मनुष्य हूँ, भव्य हूँ, सम्यग्दृष्टि हूँ आदि, गुणस्थान-मार्गणास्थान के विचार, कर्मों के आश्रव भावों का विचार, चार प्रकार के बंध के विचार आदि सभी व्यवहार नय के होने से शुभोपयोग रूप हैं। निश्चय ही सत्य है, व्यवहार उपचार है।

पर्याय क्षणिक है लेकिन दुःखदायक नहीं। उसमें जो विकल्प उठते हैं वे दुःखदायक हैं। केवलज्ञान पर्याय है, क्षणिक है लेकिन दुःखदायक नहीं। पर्याय में जो राग-द्वेष के विकल्प उठते हैं, वे ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में दाखिल रूप है इसलिए दुःखरूप होने से छोड़ने लायक है।

भाई ! सर्वज्ञ भगवान का कहा हुआ मार्ग ही आत्मकल्याण का सत्य मार्ग है। उसमें कुछ भी फेरफार नहीं चल सकती। आँख में तो थोड़ी रज समा भी जाय, परन्तु इस मार्ग में कुछ भी नहीं समाता। राग रहित भेद का ज्ञान करना, वह दुःख का

कारण नहीं। क्योंकि ज्ञान तो स्वभाव है। परन्तु जो रागी है और भेद का ज्ञान करने जाता है तो वहाँ विकल्प उठते हैं, वे दुःख के कारण हैं। भेद का ज्ञान यदि दुःख का कारण हो तो सर्वज्ञ को भी दुःख होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है, विकल्प दुःख का कारण है।

अब यहाँ कोई प्रश्न करे कि पर्याय तो द्रव्य का ही भेद है, अवस्तु तो नहीं, तो फिर उसे व्यवहार कैसे कहा ?

उसे उत्तर देते हैं कि भाई ! तेरी बात सत्य है परन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान करके उपदेश है। अभेद दृष्टि में भेद गौण होने से अभेद का अच्छी तरह ज्ञान हो सकता है। सरागी को भेद दृष्टि में विकल्प रहा करता है। इसलिए जब तक राग मिटे नहीं तब तक भेद को गौण करके अभेद को मुख्य किया जाता है। वीतराग होने बाद तो भेदाभेद वस्तु का ज्ञाता हो जाता है।

सर्वज्ञ भगवान तो एक द्रव्य में अनन्त गुण, एक गुण की अनन्त पर्यायें, एक-एक पर्याय के अनन्तानन्त अविभागी प्रतिच्छेद आदि सब भेदों को एक समय में जानते हैं, लेकिन उन्हें राग नहीं होता। इसलिए भेद का ज्ञान राग का कारण नहीं, परन्तु रागी को भेद के लक्ष्य से राग होता है। रागी एकरूप स्वभाव को जाने तो तब वह निर्विकल्प हो जाता है और भेद को जाने तब उसे राग होता है। उसका कारण वह रागी है इसलिए राग होता है।

इसलिए कहा है—वीतराग दशा प्राप्त करने के लिए रागी को व्यवहार नय का लक्ष छोड़ कर निश्चय नय से स्व और पर को जानना चाहिये।

अज्ञानी जीव स्वयं समझना न चाहे तो अनन्त तीर्थकर आकर समझायें तो न समझे और समझना चाहे तो अनन्त परिषह आवें तो भी अड़िग रहकर समझ लेता है। इसलिए अनुभव प्रकाश में कहा—प्रभु ! जैसे तेरी शुद्धता तो महान है उसी तरह तेरी अशुद्धता भी महान है।

सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी अपने स्वभाव में इतना दृढ़ है कि चाहे जितने परिषह आवें पूरी दुनियां फिर जावे तो भी ज्ञानी अपनी दृष्टि और स्थिरता से डिगता नहीं।

ज्ञानी भी शास्त्र बांचे, विचारे, उपदेश देवे, उपयोग न टिके तो व्यवहारनय का विचार भी करे परन्तु भावना तो एक ही होती है, मैं शीघ्र ही स्वानुभव में पहुँच जाऊँ। ज्ञानी को भी जितना राग आता है उतना बंध होता है। जितना अबुद्धि पूर्वक उतना

बंध अनुभव के समय में भी होता है। प्रथम अनुभव होते ही पूर्ण स्थिरता नहीं होती। इससे जितनी अस्थिरता है उतना बंध ज्ञानी को भी होता है। ज्ञानी को अबंध कहा है वह तो द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा कहा है। परन्तु पर्याय में राग बाकी है, उतना बंध दसवें गुणस्थान तक भी होता है। इसलिये ज्ञानी को भी श्री गुरु समझाते हैं कि तुझे शुभराग भले ही हो, परन्तु भावना तो मैं अन्दर में कैसे स्थिर होंऊ, यही रखना, यही मोक्ष का उपाय है।

*सम्यग्दृष्टि सुगति पाता है*

**सम्माइट्ठी जीवइहँ दुग्गइगमणु ण होइ ।  
जइ जाइ वि तो दोसु णवि पुव्वाक्कि उ खवणेइ ॥८८॥**

**जो जीव सम्यग्दृष्टि दुर्गति गमन ना कबहुँ करें ।  
यदि करें भी ना दोष पूरब करम को ही क्षय करें ॥८८॥**

**अर्थ :** सम्यग्दृष्टि जीव का गमन खोटी गतियों में नहीं होता है यदि कदाचित् खोटी गति में जावे तो हानि नहीं, यह पूर्वकृत कर्म का क्षय करता है।

सम्यग्दृष्टि का अशुभ गति में गमन नहीं होता। क्यों? सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में अपने पूर्ण स्वभाव का ही आदर है और संसार की ओर उपेक्षाभाव है। एक अपने शुद्ध स्वभाव का ही ग्रहण है, बाकी शुभ विकल्प से लेकर सम्पूर्ण संसार का ज्ञानी को ग्रहण नहीं, आदर नहीं। इसलिए ज्ञानी अशुभ गति में जाता ही नहीं, और कदाचित् सम्यग्दर्शन से पूर्व आयु बांध ली हो तो जाय तो भी उसमें ज्ञानी को हानि नहीं, उसके पूर्वकर्म का क्षय ही होता है।

**प्रश्न :** सम्यग्दृष्टि किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** जिसे आत्मा के शुद्ध स्वरूप की गाढ़ रुचि है और अतिन्द्रिय सुख में परम प्रेम है वह सम्यग्दृष्टि है। उसे समस्त संसार के प्रति अन्दर से रुचि, प्रेम उड़ गया है। मेरी शांति और आनन्द के सामने सब तुच्छ है। शुभराग में भी मेरा आनन्द नहीं तो अन्यत्र कहां होगा? ऐसे दृढ़ प्रीतिवंत ज्ञानी मुक्ति के पथिक हैं।

मोक्ष स्वरूप आत्मा की जिसे रुचि और प्रतीति हुई वह मोक्ष का पथिक है। आत्मा वस्तु स्वभाव से राग, शरीर या कर्म से कदापि नहीं बंधा है। वर्तमान काल की एक समय की पर्याय में राग है परन्तु जिसने पर्याय पर से दृष्टि ही हटाली है और स्वभाव दृष्टि की है, उसे मुक्त स्वरूप ही जानना चाहिये। वह पर्याय में भी मोक्ष-मार्ग प्रारम्भ कर चुका है।

भगवान आत्मा का राग तथा कर्म का संबंध कहा है ? वस्तु तो पूर्ण मुक्त है । और सम्यग्दृष्टि की दृष्टि मुक्त स्वभाव पर ही है । इसलिए वहां राग, कर्म का निमित्त, बंध की पर्याय आदि का ज्ञान रहता है, लेकिन उनका आदर नहीं रहता ।

भवरहित स्वभाव की दृष्टि होते ही ज्ञानी को किसी से पूंछने नहीं जाना पड़ता कि हे भगवान ! अब मेरे कितने भव बाकी हैं ? अरे ! मैं तो भव रहित वस्तु हूँ ना । मुझे भव का परिचय भी नहीं । वस्तु अर्थात् आत्मा अनन्त गुणों का पिंड है । उसे भव का स्पर्श ही नहीं । पर्याय में भव का परिचय है, परन्तु दृष्टि पर्याय को स्वीकारती ही नहीं ।

जिसने अपनी दृष्टि में धर्मधारक धर्मी को धर्म धारण कर लिया है, उसकी दृष्टि में भव हैं ही नहीं । तथा उसकी पर्याय की गति भी भव के अभाव की तरफ होने लगी है । वह निःसंदेह हो गया है कि मेरे अब भव हैं ही नहीं । एक दो भव हैं, वे भी मेरे पुरुषार्थ की कमी से, राग के कारण हैं। वे भी मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं, मेरा स्वरूप नहीं । उनका मैं स्वामी नहीं । मैं तो मेरे सहजात्म स्वरूप पूर्णानंद मय हूँ। ऐसा ज्ञानी जानता है । सम्यक्त्व की महिमा कितनी है यह रत्नकरंड श्रावकाचार की दो गाथाओं के आधार से कहेंगे—

मैं तो पूर्ण हूँ दोष मेरा स्वरूप नहीं । जैसे वस्तु अपने स्वभाव से कभी भ्रष्ट नहीं होती उसी तरह जिसको वस्तु की दृष्टि हुई है वह भी कभी मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता । जिसे मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होने की शंका है उसे ध्रुव आत्मवस्तु की दृष्टि ही नहीं हुई ।

समंतभद्र आचार्य ने रत्नकरंड श्रावकाचार में सम्यग्दृष्टि को उसकी स्वसन्मुखता की चलती धारा का कर्णधार कहा है । कर्णधार यानी खेवटिया । सम्यग्दर्शन संसार समुद्र से पार कराने वाला खेवटिया है । सम्यग्दर्शन की बहुत महिमा की है । सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र नहीं होता । सम्यग्दर्शन हुआ तो सब कुछ हो गया ।

सम्यग्दृष्टि संसार की तरफ पीठ रखता है; अर्थात् विकल्प आदि के प्रति उपेक्षा भाव रखता है और निर्विकल्प स्वभाव की अपेक्षा रखता है । जैसे मक्खी जैसा चौइन्द्रिय प्राणी भी शक्कर में मिठास है तो वहां से खिसकती नहीं और फिटकरी के ऊपर कभी बैठती नहीं वैसे ही आत्मा शक्कर के समान अतिन्द्रिय आनन्द का रसकंद-ढेर है, वहां जिसकी दृष्टि पड़ी उस सम्यग्दृष्टि की दृष्टि वहां से खिसकती ही नहीं । कहा भी

है—“चाखे रस करी छूटे” एक बार रस चखने के बाद वहां से कैसे छूटे ? धर्मी ने अतिन्द्रिय आनन्द का रस चखा है, अब उसे देवता भी आकर कहें कि इसमें रस नहीं, तो भी ज्ञानी कहते हैं कि मैंने तो अनुभव किया है । ज्ञानी को अपने अनुभव में शंका नहीं पड़ती, उसमें अन्तर नहीं पड़ता ।

ज्ञानी को स्वभाव के प्रति अत्यन्त प्रेम है और परभाव-संसार के प्रति अरुचि है। स्वभाव की रुचि हुई है इससे वीर्य भी उसी ओर काम करता है क्योंकि “रुचि अनुयायी वीर्य” । तथा ज्ञानी को संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति हो जाती है । संसार में चारों गतियों में आकुलता है । शरीर कारागृह समान है और इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारी हैं, ऐसा जानकर ज्ञानी को वैराग्य होता है ।

ज्ञानी को भोगादि का थोड़ा राग आ जाता है लेकिन उसका उन्हें खेद वर्तता है । स्वयं अपने राग की निंदा करता है, गुरु के पास गर्हा करता है ।

स्वामी कार्तिकेय मुनिराज कहते हैं कि जिसे आत्मा का भान हुआ है और अनंतानुबंधी का नाश हुआ है वह धर्मी पर्याय में अपने को तुच्छ देखता है । अरे ! कहां भगवान की केवलज्ञान दशा, कहां मुनिराज की प्रचुर स्वसंवेदन दशा, उनकी अपेक्षा तो मेरी पर्याय में बहुत कमी है । मैं पामर हूँ ।

समयसार पांचवी गाथा में कुंदकुंदाचार्य भी कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान से लेकर हमारे गुरु पर्यन्त सभी अन्तर निमग्न हैं । उन्होंने हम पर कृपा करके यह उपदेश दिया है—भगवान ! तू शुद्ध है । यह सुनकर हमको प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ है । आचार्य देव ने यह नहीं कहा कि हमारी पात्रता देखकर गुरु ने उपदेश दिया । यह कहा कि गुरु ने कृपा करके द्वादशांग के सार रूप “तू शुद्धात्मा है” ऐसा उपदेश दिया, ऐसा लिखा है ।

शुद्ध चैतन्य की ओर जिसका झुकाव है वह अपने राग परिणाम की निंदा-गर्हा करता है, यह उसका लक्षण है । ऐसा नहीं होता कि राग भला आया । धर्मी को सदा अकषायभाव की जागृति रहती है, तथा जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा जिनवाणी की गाढ़ भक्ति वर्तती है । स्तुति वंदना, पूजा, स्वाध्याय भी करता है । पर यह सभी शुभभाव सहकारी निमित्त मात्र हैं ऐसा धर्मी जानता है ।



धर्मी को साधर्मी भाई-बहनों के प्रति वात्सल्य आता है। साधर्मी की विशेष दशा देखकर द्वेष नहीं होता, परन्तु ऐसा होता है कि आ हा हा ! धन्य अवतार। मुझे भी ऐसी दशा प्रगट करना है। रत्नकरंड श्रावकाचार में आता है कि धर्म धर्मी के बिना नहीं होता। तो जिसे धर्मी के ऊपर प्रेम नहीं उसे धर्म से भी प्रेम नहीं।

सम्यग्दृष्टि किसी के साथ अन्याय युक्त व्यवहार नहीं करता। सम्यग्दृष्टि को एकतालीस प्रकृतियों का बंध नहीं होता। वह मर कर देव और मनुष्य गति में ही जन्मता है। कदाचित् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पहले नरक, तिर्यच आयु का बंध हो गया हो तो वहां समभाव से दुःख सहन कर अपने पूर्व बाधे कर्म की निर्जरा करता है। सम्यग्दृष्टि की “बाहर नारक कृत दुःख भुगते, अन्तर सुख रस गटागटी” ऐसी स्थिति होती है। जितना कषाय भाव है उतना ज्ञानी को भी दुःख है। परन्तु उसे गौण करके अतिन्द्रिय स्वभाव की मुख्यता से आनन्द का वेदन है। इसलिये सम्यग्दृष्टि नरक में हो तो भी सुखी और मिथ्यादृष्टि नवमी ग्रेवेयक में हो तो भी दुःखी ही है।

सम्यग्दर्शन होने से पहले आयु बंध गई हो तो सम्यग्दृष्टि कदाचित् नरक में भी जाये तो भी पूर्वकृत कर्मों की तथा अशुद्ध भावों की निर्जरा ही होती है तथा नये कर्म नहीं बंधते। सम्यग्दर्शन रूपी सूर्य उगा होने से अत्रती होने पर भी ऐसा पाप नहीं बांधता कि जिसके कारण नरक, तिर्यच, स्त्री, नपुंसक हो या नीच गति आदि दशा को प्राप्त हो।

सम्यग्दृष्टि अखंडित प्रतापवंत होता है। विद्यावंत होता है जसवंत होता है। सम्यग्दृष्टि की शुद्धि की वृद्धि होती रहती है, पुण्य भी बढ़ता रहता है और सम्यग्दृष्टि का पुरुषार्थ भी बढ़ता रहता है।

सम्यग्दृष्टि सदा विजयवंत होता है वह कहता है कि राग और कर्म कभी हमको हरा नहीं सकते, हम पीछे पड़ने वाले नहीं हैं, हमारी सदा विजय है। सम्यग्दृष्टि की भावना ऐसी जोरदार होती है कि कब पुरुषार्थ करके चारित्र प्रगट करूं तथा केवलज्ञान पाऊँ। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि कर्म मुझे हैरान करेंगे, भव बढ़ेंगे।

जिसने अपनी आत्मा को मुख्य किया है ऐसा सम्यग्दृष्टि बाहर में भी सबसे मुख्य गिना जाता है, जैसे हीरा बोरे में नहीं रखा जाता वह तो मखमल की डिब्बी में ही रखा जाता है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि पुण्यवंत माता-पिता के यहां ही जन्म लेता है, साधारण घर में नहीं जन्मता। सम्यक्त्व की भूमिका में जो पुण्य बंधता है वैसे मिथ्यात्व की भूमिका में अनन्तकाल में भी कभी भी नहीं बंधता। सम्यग्दृष्टि के पुण्य की जाति ही जुदी है।

ग्रन्थकार आचार्य श्री योगीन्द्र देव कहते हैं कि सर्व व्यवहार को छोड़कर स्वरूप में रमण कर। ज्ञानी की दृष्टि के विषय में कहीं व्यवहार की मुख्यता नहीं रहती। उसे व्यवहार गौण रूप रहता है।

आत्मा में तीन काल के समयों से भी अनन्त-गुणे गुण हैं जिनमें सम्यग्दृष्टि रमण करता है और शीघ्र संसार से पार हो जाता है।

लोग बहीखाते में लिखते हैं “लाभ सवाया” यह तो धूल के लाभ की बात है। सम्यग्दृष्टि तो अपने अनन्त गुणों की पर्यायों में शुद्धि में वृद्धि को ही अपना लाभ मानता है। यह सवाया नहीं किन्तु अनन्त गुणा है।

मैं वस्तुस्वभाव से परिपूर्ण शुद्ध हूँ। दृष्टि का विषय द्रव्य है, दृष्टि पूर्ण शुद्धता को ही स्वीकार करती है। बनारसीदास जी लिखते हैं—“सिद्ध समान सदा पद मेरो” व्यवहार दृष्टि में कर्म का संयोग है, परन्तु वह तो त्यागने योग्य है।

ज्ञानी संसार में एक क्षण भी रहना नहीं चाहते। एक चैतन्य को ही शरण रूप में मानते हैं। बाकी संसार में कोई शरण रूप नहीं। कितने ही वर्षों पहले एक प्रसंग बना। पांच छः सौ मनुष्यों का समूह जंगल में जा रहा था। तब जंगल में दो जवान लड़कों को हैजा हो गया। चलने की शक्ति नहीं रही। उन्हें कौन उठाकर ले जावे? सगे मां-बाप भी दोनों लड़कों को जंगल में छोड़कर सबके साथ ही चले गये। संसार में कौन किसको शरण है?

सम्यग्दृष्टि को सकल चारित्र नहीं, परन्तु चारित्र की प्रीति बराबर हो गई है कि अपने स्वरूप में रमणता ही चारित्र है। चारित्र बिना मुक्ति का अन्य उपाय नहीं। सम्यग्दृष्टि सभी व्यवहार गौण करके स्वरूप का ध्यान करते हैं अनुभव करते हैं तथा उसी में स्थिर होने जैसा है, ऐसा मानते हैं। स्वरूप से बाहर निकलना वह दुख है, रोग है, शोक है। परन्तु स्वरूप में अखंड स्थिर नहीं हो सकते इसलिए बाहर व्यवहार में आते हैं, परन्तु सुखरूप तो स्वरूप लीनता ही है ऐसा मानते हैं। बाहर व्यवहार में उन्हें हर्ष नहीं होता। उल्लसित वीर्य तो स्वभाव की ओर ढला है, इस कारण व्यवहार के प्रति उदासीन है, व्यवहार का आदर नहीं।

मुनि को ज्यों-ज्यों आत्म ध्यान की शक्ति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों व्यवहार छूटता जाता है। मुनिराज को इतनी शुद्धि तो प्रगट ही है कि अन्तरमुहुर्त से अधिक उपयोग बाहर रहता ही नहीं। विकल्प आते हैं, परन्तु उसमें तत्परता नहीं। पुरुषार्थ की कमजोरी से व्यवहार में आना पड़ता है, लेकिन भावना तो बारंबार शुद्ध स्वरूप में स्थिर होने की ही रहती है। विकल्प के प्रति खेद वर्तता है। जयधवल में आता है कि मैंने शुद्धोपयोग की प्रतिज्ञा की है, फिर भी आहार का राग आया तो मेरी प्रतिज्ञा भंग हुई। इसलिए मैं पुनः शुद्धोपयोग की प्रतिज्ञा करता हूँ। मुझे तो शुद्धोपयोग में ही रहना है। अहो ! ऐसी दशा वह यथार्थ मोक्षमार्ग है। स्वरूप लीनता ही मोक्ष का उपाय है बीच में व्यवहार का विकल्प आता है, वह तो बंध का कारण है।

सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी द्रव्य-क्षेत्र, काल, भाव को तथा अपना पुरुषार्थ को देखकर प्रतिज्ञा लेते हैं। लोगों के साथ वेग में आकर कोई भी प्रतिज्ञा नहीं करते। जब तक सहज वैराग्य न आवे तब तक श्रावक रूप रहकर अपने परिणामों के अनुसार दर्शनप्रतिमा आदि का पालन करते हैं। तथा आत्मानुभव के लिये अधिक से अधिक समय निकालते हैं।

मोक्षपाहुड की १६ वीं गाथा में आचार्य श्री कुंदकुंद कहते हैं—

अपने शुद्ध द्रव्य की रुचि होना वह सुगति है और पर द्रव्य और पर भाव की रुचि होना वह दुर्गति अर्थात् स्वभाव से विपरीत गति है।

योगीन्द्र देव मुनिराज देवसेनाचार्यकृत तत्त्वसार का आधार देते हैं कि जब तक जीव परद्रव्य के व्यवहार में रहता है तबतक भव्य जीव भले कठिन कठिन तप करता हो तो भी मोक्ष पाता नहीं और जो अपना श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का लाभ प्राप्त करता है वह शीघ्र मुक्ति को पाता है।

*सम्यग्दृष्टि का श्रेष्ठ कर्तव्य*

अप्प-सरुवहँ जो रमि छंडिवि सहु ववहारु ।  
सो सम्माइड्डी हवइ लहु पावइ भवपारु ॥८६॥

सब छोड़कर व्यवहार नित निज आतमा में जो रमें ।  
वे जीव सम्यग्दृष्टि तुरतहिं शिवरमा में जा रमें ॥८६॥

**अर्थ :** जो सर्व व्यवहार को छोड़कर अपने आत्मा के स्वरूप में रमण करता है वही सम्यग्दृष्टि है, वह शीघ्र संसार से पार हो जाता है ।

एक एक शब्द में मुनिराज ने कितना सार भर दिया है । जब तक जीव परद्रव्य आश्रित व्यवहार में रहता है और अपने चैतन्यमूर्ति द्रव्य स्वभाव के आश्रय में आता नहीं तब तक उसकी मुक्ति होती नहीं ।

सम्यग्दर्शन से भी पहले स्वद्रव्य का आश्रय होता है । पीछे भी जब तक परद्रव्य का जरा भी आश्रय रहता है तब तक मुक्ति नहीं होती । सीधी सी बात है कि व्यवहार पराश्रित है और निश्चय स्वाश्रित है । साक्षात् तीर्थंकर भगवान हों, समवशरण हो, सम्मेदशिखर हो, गणधर आचार्य आदि भले हों परन्तु हैं तो परद्रव्य, उनके आश्रय से सम्यग्दर्शन तीन कालमें भी नहीं होता । स्वके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है ।

भो भव्य ! न्याय से सुनो । यह आत्मद्रव्य एक सेकिंड के असंख्यातवें भाग में भी शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय का पिंड है । पुण्य-पाप का विकल्प है वह तो आश्रव तत्व है। शरीर, कर्म आदि अजीव हैं, जीव नहीं । देव-शास्त्र-गुरु भी पर द्रव्य हैं, अपने स्वद्रव्य से भिन्न हैं । स्वद्रव्य में अनन्त...अनन्त शुद्धता भरी पड़ी है, उसके आश्रय के बिना पराश्रय से धर्म की शुरुआत/सम्यग्दर्शन कदापि नहीं हो सकता ।

इसलिए सर्व प्रथम श्रद्धा में ऐसा निर्णय होना चाहिये कि स्वाश्रय से ही धर्म की शुरुआत और पूर्णता होती है, पराश्रय से नहीं । क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्यायों का पिंड तो स्वद्रव्य है । व्यवहार में, राग में धर्म प्रगट करने की शक्ति नहीं ।

बंध अधिकार में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि भगवान ऐसा कहते हैं-परजीव को मैं मार या जिला सकता हूँ, सुखी-दुःखी कर सकता हूँ, इत्यादि सर्व अध्यवसाय, पर में एकत्व बुद्धि वह मिथ्यात्व है, इसलिए जितना भी पराश्रय-पना है उन सभी को भगवान ने छुड़ाया है ।

यह महासिद्धान्त दिया है उसमें वाद-विवाद को स्थान ही कहां है ? एक ही बात है अपना भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य घन है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है, उसीके आश्रय से ही शुक्लध्यान और केवलज्ञान प्राप्त होता है ।

सर्वज्ञ भगवान की पेढी में तीन काल और तीनलोक में एक सा सिद्धान्त चलता है “स्वाश्रित वह निश्चय और पराश्रित वह व्यवहार” और “निश्चयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की” ।

परद्रव्य के आश्रय से होने वाले भाव शुभ हों या अशुभ हों परन्तु दोनों ही अशुद्ध भाव हैं। उनमें जिसका मन लीन है उसे स्वाश्रय नहीं, इसलिये उसे मुक्ति भी प्राप्त नहीं होती। अपना द्रव्य स्वभाव है उसके आश्रय से ही शुद्ध भाव प्रगट होता है और शुद्ध भाव से ही मुक्ति प्राप्त होती है।

भाई ! सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकीनाथ ने जो भी पद्धति कही, वह पद्धति न रहे तो सारी अन्यमत की पद्धति हो जायेगी। राग से लाभ मानना यह तो अन्यमत की पद्धति है। सर्वज्ञ परमात्मा की अनादि परंपरा से चली आ रही पद्धति की श्रद्धा तो बराबर होनी चाहिये। स्थिरता भले ही विशेष न हो सके, लेकिन स्वाश्रय से ही लाभ है ऐसी दृष्टि तो बराबर होनी चाहिये। तीनकाल में भी यह सिद्धान्त बदल सकता नहीं।

अस्तांचल की ओर चलें तो उदयांचल की तरफ पहुँचे। क्या पश्चिम की ओर गति करने पर कभी पूर्व की ओर पहुंचा जा सकेगा ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। थोड़ा पराश्रय करें तो फिर स्वाश्रय हो जावेगा, ऐसा बन सकता नहीं।

लोक में कहावत है ना कि “परधीन सपने हूँ सुख नहीं” यही बात यहां है। पराश्रय भाव बंध भाव है। स्वाश्रय भाव अबंध भाव है। तीनकाल और तीन लोकमें एक ही सिद्धान्त है यह कभी बदलने वाला नहीं।

*सम्यक्त्वी ही पंडित और प्रधान है*

**जो सम्मत-पहाण बुहु सो तइलोय-पहाणु ।**

**केवल-णाण वि लुहु लहइ सासय-सुख-णिहाणु ॥६०॥**

**सम्यक्त्व का प्राधान्य तो त्रैलोक्य में प्राधान्य भी ।**

**बुध शीघ्र पावे सदा सुखनिधि और केवलज्ञान भी ॥६०॥**

**अर्थ :** जो सम्यग्दर्शन का स्वामी है वह पंडित है, वही तीन लोक में प्रधान है, सो अविनाशी सुख के निधान केवलज्ञान को शीघ्र पा लेता है।

आ हा हा ! दिगम्बर संतों ने भी क्या आश्चर्यकारी काम किया है ? बहुत थोड़े शब्दों में पुरा सार भर दिया है।

यह तो योगसार है, अपने स्वाश्रय से जो पर्याय प्रगट होती है, उसका नाम ‘योग’ है। वह योग का सार है। पराश्रित व्यवहार वह योगसार नहीं।

जो सम्यग्दर्शन का स्वामी है—जो आत्म स्वरूप को समझा है, वहीं पंडित है। बाकी ग्यारह अंग और नव पूर्व पढ़ गया हो तो भी वह पंडित नहीं। आत्मा के आश्रय के बिना ग्यारह अंग आदि के पाठी का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। और वह निगोद में चला जाता है। वहां अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान का क्षयोपशम रह जाता है। इसलिए आत्मज्ञान बिना अकेला ग्यारह अंग का ज्ञान कुछ कल्याणकारी नहीं, क्योंकि पराश्रित है।

ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा में एकाग्र होकर उसमें से ज्ञान का कण निकालना, वह कण (अंश) भी कल्याणकारी है। यह 'कण' कहते ही कणिका याद आती है। बनारसीदास जी एक महान पंडित हो गये हैं। उन्होंने परमार्थ-वचनिका में लिखा है—स्वरूप की दृष्टि-ज्ञान पूर्वक चारित्र की कणिका जागे तो मोक्षमार्ग है, नहीं तो मोक्षमार्ग नहीं। पंडित यथार्थ वस्तु स्वरूप लिख गये हैं।

जिसने शुद्ध तत्व के सन्मुख होकर स्वाश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट किया है वही जगत का स्वामी, पंडित और प्रधान है। आत्मा को जाना उसने सब कुछ जाना। सम्यग्दृष्टि तो केवलज्ञान लेगा। अन्तर में सादि अनन्तकाल की अनन्त पर्यायें ज्ञान गुण में पड़ी हैं। इसलिए जिसने ज्ञायक की दृष्टि की है, वह एक दो भव में केवलज्ञान लेगा...लेगा ही।

जिसकी दृष्टि में निज आत्मा उपादेय है, वही जीव जगतमें श्रेष्ठ है, और ज्ञानी है। रत्नकरंड श्रावकाचार में तो समकित की बहुत महिमा गाई है। समकित तो परम आधार है। उसके बिना ज्ञान, व्रत, तप, चारित्र आदि सब व्यर्थ हैं, कंकड़ समान हैं। चैतन्य की श्रद्धा और निर्विकल्प अनुभूति ही सार है।

छहढाला में सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हुये, समकिति की महिमा गाते हुये लिखा है कि दृष्टिवंत सम्यग्दृष्टि को अंशमात्र भी संयम न हो तो भी देव आकर उन्हें पूजते हैं।

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि जहां पड़ी, ऐसे स्वभाव में ही वह रहता है, राग में नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि को स्वभाव की ही रुचि है, राग की रुचि नहीं। ऐसे जगत श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि अविनाशी सुख के निधान ऐसे केवलज्ञान को शीघ्र प्राप्त करता है।

सम्यग्दृष्टि जिनेश्वर का लघुनन्दन है। बनारसीदास जी समयसार नाटक में लिखते हैं—

“भेदविज्ञान जगो जिनके घट, शीतलचित्त भयो जिम चंदन ।  
केली करे शिवमारग में, ते जगमांही जिनेश्वर के लघुनंदन ॥”

मुनिराज बड़े पुत्र हैं, सम्यग्दृष्टि छोटे पुत्र हैं ।

सम्यग्दर्शन की इतनी महिमा है, ऐसा अन्तर में ख्याल में न आवे, अपने ज्ञान के क्षयोपशम में या राग की मंदता की अधिकता रहती हो, सम्यग्दृष्टि मेरे से अधिक महान है ऐसा बहुमान न आवे तबतक उसे स्वद्रव्य का आश्रय रूप भाव प्रगट नहीं होता ।

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है । इसलिए निम्नलिखित वाक्य विशेष प्रसिद्ध हैं—

१. दंसण मूलो धम्मो २. द्रव्यदृष्टि वह सम्यग्दृष्टि ३. दर्शन शुद्धि वही आत्मसिद्धि ४. पूर्णता के लक्ष में धर्म की शुरुआत होती है । ये चारों वाक्य जिनागम में सारभूत कहे गये हैं । चारित्र धर्म, परन्तु उसका मूल सम्यग्दर्शन है । “मूल नास्ति कुतो शाखा” ? जहां सम्यग्दर्शन रूपी मूल नहीं है वहां व्रत, तप, संवर, निर्जरा, रूप चारित्र की शाखायें कहां से हों ? अंक बिना के शून्य की क्या कीमत ? मुख्यता अंक की है। अंक सहित शून्य की कीमत होती है । वैसे ही सम्यक्त्व सहित ज्ञान और चारित्र मुक्ति का कारण है ।

सम्यग्दृष्टि का ध्येय आत्म द्रव्य है । दृष्टिं द्रव्य में है । परिणमन भी द्रव्य की तरफ ही चल रहा है । तथा वह राग से मुक्त है, इसलिए सम्यग्दर्शन जीव को क्रम-क्रम से मोक्ष की तरफ ले जाता है । अबंध स्वभावी द्रव्य की दृष्टि हुई है परिणाम अबंध स्वभाव की तरफ ही जाते हैं । अबंध परिणाम वही मोक्षमार्ग है ।

जैसे मूल (जड़) बिना वृक्ष नहीं होता, वैसे ही सम्यग्दर्शन बिना धर्म नहीं होता । ज्ञान बहुत हो, पर सम्यग्दर्शन न हो तो वह ज्ञानी नहीं, पंडित नहीं । एक छोटा सा मेंढक भले हो, उसे नवतत्वों के नाम की खबर न हो, लेकिन उनका भाव भासित कर आत्मा का आश्रय करके सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है । “यह अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप ही मैं हूँ, इसके विरुद्ध दुःख वह मैं नहीं” इतना समझा कि इसमें सब आ गया ।

अतीन्द्रिय आनन्द का पर्याय में जहां स्पर्श हुआ वहां नव ही तत्वों का ज्ञान हो गया। अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होते ही अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा वह मैं, जीव तत्व, आनन्द मूर्ति निज द्रव्य से भिन्न चेतन अथवा अचेतन वह अजीव तत्व, आनन्द से विरुद्ध आकुलता रूप-दुःख भाव वह आस्त्र-बंध तत्व, निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह संवर-निर्जरा तत्व एवं आत्मा में पूर्ण शुद्धता प्रगट होजाना वह मोक्ष तत्व, इस प्रकार नव ही तत्वों का यथार्थ ज्ञान, सम्यग्दर्शन होते ही एक साथ है।

समयसार की छठी गाथा में आत्मा को पर द्रव्य से भिन्न उपास्यमान कहा है। द्वादशांग वाणी का सार ही यह है कि आत्मा को जानना। आत्मा तो शुद्ध ही है जो शुद्ध जाने उसे लाभ है जो परद्रव्य का लक्ष छोड़कर अपने स्वभाव का लक्ष करके पर्याय में द्रव्य की उपासना करता है, सेवा करता है, उसे पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है। इस शुद्धता से जीव ने जाना कि त्रिकाली द्रव्य शुद्ध है। पर्याय में शुद्धता हुये बिना कैसे जानने में आवे कि द्रव्य शुद्ध है? इसलिये कहा है कि पर्याय में द्रव्य की उपासना करके शुद्ध जानना, यह द्वादशांग वाणी का सार है।

सर्वज्ञ भगवान तो प्रत्येक जीव को शुद्ध ही देखते हैं; लेकिन इससे तुझे क्या लाभ? तू उसे शुद्ध जानेगा तो लाभ होगा। सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में प्रत्येक तत्व जैसा है वैसा जानने में आता है। अहो! चारों ओर सत्य ही प्रगट होता है। दिव्य ज्ञान की बात क्या करना? स्वभाव की क्या मर्यादा? लोकालोक तो क्या परन्तु उससे अनन्तगुणे लोकालोक हों उसे भी जानने की ज्ञान में सामर्थ्य है, स्वतः स्वभाव है, सहज सामर्थ्य है। जड़ परमाणु में भी एक समय में पूरे चौदह राजू जाने की सामर्थ्य है, तो ज्ञान की सामर्थ्य का क्या कहना? जिसका स्वभाव है उसमें मर्यादा नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि चांडाल हो तो भी वह देवों द्वारा पूजा जाने योग्य है। अल्पकाल में वह चारित्र लेकर मुक्ति प्राप्त करेगा। तथा स्वद्रव्य की दृष्टि बिना भले नवमी ग्रैवेयक का देव हो तो भी वह पूज्य नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने उसे संसार तत्व, अजहं पापी, कहा है। इसीलिये तो कहा है कि सम्यग्दर्शन सहित नरकवास भी अच्छा है, सम्यग्दर्शन बिना स्वर्गवास भी अच्छा नहीं। सम्यग्दर्शन हुआ तो दृष्टि-मोक्ष (दृष्टि मुक्त) हो गया।

सम्यग्दर्शन होते ही अनादि के अज्ञान के अंधकार का नाश होकर ज्ञान प्रगट होता है। सम्यग्दृष्टि को “सब आगम भेद सु उर बसे” अर्थात् सब आगम का सार ज्ञान में आ जाता है। बाहर कहीं खोजने जाना नहीं पड़ता।



अज्ञान दशा में जो संसार प्रिय लगता था, वहीं संसार सम्यग्दर्शन होते ही त्यागनेयोग्य दिखने लगता है। इन्द्रिय सुख की रुचि भी टल जाती है अर्थात् तीन लोक के इन्द्रिय सुखों का दृष्टि में त्याग हो जाता है।

सम्यग्दर्शन होते ही जीव अनन्त-ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुख आदि सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बन जाता है और उन्हीं अनन्त गुणों का अंश पर्याय में प्रगट हो जाता है। फिर वह पर वस्तु का मालिक होता ही नहीं। मिथ्यात्व दशा में शरीर और पर द्रव्यों में अहंकार, ममकार करता था। अब आत्मा में अहंकार तथा उसके गुणों में ममकार करने लगा।

चैतन्य रवि-सम्यक्त्व सूर्य उगते ही मिथ्यात्व अंधकार नष्ट हो जाता है। मिथ्यात्व दशा में सदा इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का नाश करने के लिये उद्यमी रहता था। वह अब इष्ट-अनिष्ट की दृष्टि छोड़कर स्वभाव प्राप्ति के लिये उद्यमी हो जाता है। दृष्टि पलटते ही सब बदल जाता है। उसकी महिमा कैसे की जावे ?

सम्यग्दृष्टि गृहस्थावस्था में कहीं भी लिप्त नहीं होता। अन्दर से वैरागी रहता है। तथा भेदविज्ञान को भाता हुआ धीरे धीरे निर्मल होता हुआ मुनि होकर केवलज्ञान तक पहुँच जाता है। सम्यग्दर्शन वही सच्चा मित्र है, जो संसार के दुःखों से छुड़ाकर निर्वाण में पहुँचा देता है।

अब यहां आत्मानुशान का दृष्टान्त देते हैं—सम्यग्दर्शन बिना शान्तभाव, ज्ञान चारित्र आदि सब पत्थर कंकर समान तुच्छ हैं और वही शान्तभाव, ज्ञान, चारित्र आदि सम्यग्दर्शन सहित हों तो उनकी कीमत महारत्न समान हो जाती है।

इस प्रकार मूल कीमत सम्यग्दर्शन की है, इससे सम्यग्दृष्टि ही प्रधान है, पंडित है, जगश्रेष्ठ है। इसलिए धर्म के मूल रूप में सम्यग्दर्शन के अलावा अन्य कोई पदार्थ महिमावंत नहीं।

*आत्मा में स्थिरता संवर व निर्जरा का कारण है*

**अजरु अमरु गुण-गण-णिलउ जहिं अप्पा थिरु ठाइ ।**

**सो कम्मेहिं ण बंधियउ संचिय-पुव्व विलाइ ॥६१॥**

**जहँ होय थिर गुणगणनिलय जिय अजर अमृत आत्मा ।**

**तहँ कर्मबंधन हों नही झर जाँय पूरव कर्म भी ॥६१॥**

**अर्थ :** जहां अजर अमर गुणों का निधान आत्मा स्थिर हो जाता है वहां वह आत्मा नवीन कर्मों से नहीं बंधता है, पूर्व में संचित कर्मों का क्षय करता है ।

आचार्य योगीन्द्र देव कहते हैं कि आत्मा अजर-अमर है । अमर अर्थात् शाश्वत ध्रुव अकृत्रिम, अकृत, चैतन्यमूर्ति । उसे कभी जीर्णता लागू नहीं पड़ती और उसका कभी मरण नहीं होता आत्मा अनादि अनन्त अजन्म और अमरण स्वभावी है । ऐसे गुण स्वभावी आत्मा में जो स्थिर होता है । वह नवीन कर्मों का बंध नहीं करता और पूर्व कर्मों का नाश कर मुक्त होता है ।

अनादि से जीव पुण्य-पाप के राग और विकल्पों में स्थिर होने से उसे कर्मों का बंधन है । किन्तु जो जीव शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति करके उसी में स्थिर होता है, उसे नये कर्म नहीं बंधते और पुराने कर्मों का नाश हो जाता है ।

यहां उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों ले लिये हैं । आत्मा, ध्रुव, अजर, अमर है, उसकी दृष्टि, ज्ञान, स्थिरता करते ही कर्म रहित निर्मल पर्याय का उत्पाद होता है और पूर्व की अशुद्ध पर्याय का नाश होता है । निर्मलता का उत्पाद, मलिनता का व्यय और ध्रौव्य तो स्वयं त्रिकाल है ही, ऐसे उत्पाद व्यय रूप यह धार्मिक क्रिया है, यही जिनधर्म की क्रिया है । चैतन्य बिंब ध्रुव स्वभाव में रुचि करने रूप परिणति करके स्थिर होना संवर-निर्जरा रूप धार्मिक क्रिया है । लाखों शास्त्रों के लिखने का सार/ हेतु यह क्रिया करवाना है ।

भगवान आत्मा जन्म-मरण रहित अविनाशी है । शरीर के संयोग को लोग जन्म कहते हैं । और शरीर के वियोग को मरण कहते हैं । आत्मा तो अनादि अनन्त है । आत्मा विशेष गुणों का समूह है, उसमें एकाग्र होने से संवर-निर्जरा प्रगट होती है ।

आत्मा में एक आनन्द नाम का विशेष गुण है और वह गुण आत्मा की सर्व अवस्थाओं में रहता है । ऐसा होने पर भी यहां प्रश्न उठता है कि आनन्द क्यों नहीं आता ? उसका कारण यह है कि अज्ञान दशा में जीवों की रुचि पुण्य-पाप आदि में है, इस कारण गुण का परिणमन दुःख रूप होता है । किसी भी गुण का परिणमन तो प्रत्येक समय हो रहा है लेकिन अज्ञान दशा में वही दुःख रूप परिणमता है और स्वभाव की श्रद्धा होते ही आनन्द रूप परिणमन मुख्य रूप से होता है, गौणरूप से साधक को दुःख भी है, यह बात यहां गौण है ।

अनन्त गुण समुदाय आत्मा की अन्तरमुख दृष्टि द्वारा श्रद्धा-विश्वास करते ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन पूरे द्रव्य की प्रतीति करता है। इससे द्रव्य में रहने वाले सभी अनन्त गुणों का परिणमन भी आंशिक निर्मल हो जाता है।

आत्मा प्रगट अस्तित्व वाला-सत्ता वाला तत्व है। आत्मा अजर अमर है तो उसके गुण भी अजर अमर हैं और गुण अजर अमर हैं तो द्रव्य अजर अमर हुआ।

मूल बात तो यह है कि इस जीव ने कभी भी आत्म तत्व का विश्वास ही नहीं किया। यदि आत्म तत्व का विश्वास करता तो एक सैंकिड के असंख्यातवें भाग में इसके अनन्त गुणों की अंश रूप शुद्ध पर्याय प्रगट हो जाती।

अज्ञान दशा के समय भी आत्मा को शरीर और कर्म से रहित देखें तो आत्मा शुद्ध ही है। पर्याय में अशुद्धता है वह तो आस्र तत्व है। ज्ञायक तत्व तो अजीव तत्व से अत्यन्त भिन्न है। आस्र तत्व की भी अनित्य तादात्म्य की अपेक्षा आत्मा के साथ एकरूपता दिखाई देती है। किन्तु नित्य तादात्म्य भाव की अपेक्षा तो पर्याय भी संयोगी है—पर द्रव्य है। समयसार ग्रंथ के कर्त्ता-कर्म अधिकार की गाथा ६६-७० में भी यही बात कही है, क्योंकि यह आत्मा का स्वरूप नहीं है।

जैसे मलिन पानी को पानी के स्वभाव की दृष्टि से देखें तो पानी तो त्रिकाल शुद्ध ही दिखता है, मलिनपना तो माटी का अंश है, पानी का नहीं। वैसे ही आत्मा वर्तमान में शुभाशुभ भाव सहित है उसे भेद-ज्ञान की शक्ति से शरीर, कर्म और शुभाशुभ भावों से रहित देख सकते हैं।

रागादि भाव होना यह आत्मा का अपराध है। वह भगवान आत्मा के स्वभावके विरुद्ध है, इसलिये वह हेय है। जब उसे हेय कहा है तो उपादेय क्या है? शुद्ध भगवान ज्ञायक भाव उपादेय है। शरीरादि परद्रव्य ज्ञेय हैं। दोनों ही आश्रय करने लायक नहीं हैं। इन ज्ञेय और हेय भावों से रहित निर्मल शुद्धात्मा उपादेय है।

प्रत्येक के पास वर्तमान में दृष्टि तो है-नजर होने पर भी नजर में राग और विकार जोकि निज स्वभाव से विरुद्ध क्षणिक विकृत अवस्था है उसे देखता है। उसी नजर से भगवान आत्मा को देखे तो भगवान आत्मा शुद्ध ही दिखता है। भगवान आत्मा कहां अज्ञात है? कहां ज्ञान बिना का है कि उसे अन्य द्वारा जाना जावे। वह स्वयं ही अपने को जान और देख सकता है।

द्रव्य तो राग के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं होता, द्रव्य की दृष्टि हुई वह दृष्टि भी राग के साथ एकत्व नहीं होती। दृष्टि शुद्ध संवर निर्जरा रूप हुई, वह आसन्न बंध रूप कभी नहीं होती। इस श्रद्धा और ज्ञान के बल से सम्यग्दृष्टि-स्वभाव में स्थिरता का पुरुषार्थ करता है, और स्थिरता होनी वही संवर निर्जरा रूप मोक्षमार्ग है, बाकी व्रत उपवास आदि क्रियायें मोक्षमार्ग नहीं हैं।

स्वरूप के निर्विकल्प अनुभव के समय धर्मी को अधिक निर्जरा होती है। लोग कहते हैं कि शास्त्र स्वाध्याय से निर्जरा होती है, किन्तु भाई ! पराश्रय से निर्जरा कहां से होगी ? निर्जरा तो स्वरूप में स्थिरता करने से ही होती है।

**प्रश्न :** श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि मेरी परिणति की विशुद्धता के लिये मैं यह समयसार की टीका की रचना करता हूँ। यहाँ टीका लिखने से निर्जरा की बात तो आई है ?

**उत्तर :** अरे भाई ! उसका यथार्थ अर्थ समझना चाहिये। निर्जरा तो स्वरूप स्थिरता से ही होती है। टीका लिखते समय आचार्य श्री की जो प्रगट वीतराग रूप शुद्ध परिणति है, उससे निर्जरा होती है।

चौथे गुणस्थान से स्वरूपाचरण चारित्र प्रारम्भ हो जाता है। यह न्याय की बात है। शुद्ध स्वभाव की दृष्टि होते ही आंशिक स्थिरता होती है। सम्यग्दृष्टि होते ही मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी का नाश होने से स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है।

जैसे अरबपति की दुकान पर मुनीम भी बुद्धिशाली, अधिक वेतन वाला होता है, तेली जैसा नहीं होता, तो फिर यह तो सर्वज्ञ की पैड़ी है। धर्म के मूलधनी ऐसे सर्वज्ञ की दुकान पर बैठने वालों की बहुत जुम्मेदारी समझना चाहिए। विपरीत, न्याय बिना की बात यहाँ नहीं चलती। प्रभु का वीतरागी मार्ग, न्यायमार्ग है।

कोई ऐसा माने कि चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र नहीं होता। तो भाई ! सम्यक्त्व होते ही अनन्त गुणों का अंश प्रकट होता है। उसमें अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश होने से क्या प्रगट हुआ ? आंशिक अकषाय भाव (वीतराग भाव) प्रगट होता है, वही स्वरूपाचरण चरित्र है। वस्तु स्थिति ही ऐसी है, वहाँ वादविवाद का स्थान नहीं।

आ हा हा ! अनन्तकाल में मुश्किल से ऐसा अवसर मिला है। निगोद से निकलकर पंचेन्द्रिय होना ही दुर्लभ है उसमें मनुष्यपना मिलना और यथार्थ बात सुनने को मिलना और फिर उसकी रुचि होना अत्यन्त दुर्लभ है।

अब पंचम गुणस्थान की बात करते हैं—यहाँ स्वरूप स्थिरता की वृद्धि होती है और अप्रत्याख्यान कषाय का नाश होता है।

भगवान आत्मा अक्रिय शुद्ध बिम्ब है वह निश्चय है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र की पर्याय होती है, वह भेदरूप है, इसलिये उसे व्यवहार कहा है। मोक्षमार्ग की पर्याय के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं होता, वह शुद्ध आत्म-द्रव्य के आश्रय से ही होता है। शुद्ध पर्याय को यहाँ व्यवहार कहा है।

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की शान्ति सर्वार्थसिद्धि के देव से भी अधिक होती है। ज्ञान विशेष न हो किन्तु स्थिरता बढ़ गई है। जिसने आत्मा को दृष्टि में पकड़ा है और उसमें आगे बढ़ा है, उसे क्या बाकी रहा ? श्रावक को प्रतिमा होती है वह तो व्यवहार है, लेकिन अन्दर में स्थिरता के अंश बढ़े हैं, वह वास्तविक प्रतिमा है। उससे आगे छठे गुणस्थान में स्थिरता/शुद्ध परिणति विशेष बढ़ जाती है और प्रत्याख्यान कषाय का नाश हो जाता है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में छठे से अधिक स्थिरता बढ़ जाती है। ऐसे बढ़ते बढ़ते बारहवें गुणस्थान में वीतरागता होते ही अन्तरमुहूर्त में केवलज्ञान हो जाता है।

भाई ! यह तत्व तो धीरज से समझ में आवे ऐसा है। पक्ष से या आग्रह से यह बात समझ में नहीं आती। एक आत्मा की लगन लगी है उसे ही यह समझ में आता है। इष्टोपदेश में कहा है कि तू एक आत्मा संबंधी ही प्रश्न पूँछ। उसका ही उत्तर माँग। मात्र जानने के विषय से आगे बढ़ कर क्या करेगा ? आत्मा को तो पहले समझ ले। मोक्ष के प्रेमी का यह कर्तव्य है कि आत्मा संबंधी प्रश्न ही करे। आत्मा की समझ बिना ध्यान व्यर्थ है।

*आत्म-रमी जीव कर्मों से नहीं बंधता*

**जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि-पत्त कया वि ।  
तह कम्मेहिं ण लिप्पियइ जइ रइ अप्प-सहावि ॥६२॥**

जिसतरह पद्मनि-पत्र जल से लिप्त होता है नहीं ।  
निजभावरत जिय कर्ममल से लिप्त होता है नहीं ॥६२॥

**अर्थ :** जैसे कमलिनी का पत्ता कभी भी पानी से लिप्त नहीं होता, वैसे ही यदि आत्मा स्वभाव में रत हो तो जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता है ।

गाथा में एक शर्त रखी है, तू आत्मा की प्रीतिकर और उसी में रति कर तो तू अवश्य कर्मों से छूटेगा और निर्वाण पायेगा । समयसार की निर्जरा अधिकार में गाथा २०६ में लिया है कि “तू आत्मा की प्रीति कर, आत्मा में संतुष्ट हो, उसमें ही रति कर उसमें ही व्यस्त हो तो तुझे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी ।”

लोग व्रत, भक्ति, पूजा, सिद्धक्षेत्रों के दर्शन आदि से लाभ मानते हैं और आत्मा की बात सुनकर भड़क उठते हैं । परन्तु भाई ! सिद्धक्षेत्र तो तू स्वयं ही है । स्वयं अपना दर्शन कर । तेरा आत्मा अनन्त सिद्ध पर्यायों को अन्दर में धारण करके बैठा है । इस आत्मा रूपी सिद्धक्षेत्र के ऊपर चढ़े तो तेरी यात्रा सफल होगी । शत्रु पर जय करने वाला शत्रुंजय भी तेरा आत्मा ही है, उसकी यात्रा कर । अशुभ से बचने के लिये शुभ भाव आते हैं, न आवें ऐसा नहीं । परन्तु अन्तर में निर्णय रखना कि स्वाश्रय बिना कभी मुक्ति नहीं, कल्याण भी नहीं ।

गाथा में दृष्टांत दिया है—जैसे कमलिनि, पत्र से कभी लिप्त (स्पर्शित) नहीं होता है, वैसे ही जो आत्म स्वभाव में लीन है, वह कर्मों से लिप्त नहीं होता । आत्मलीन भव्य जीव मोक्षमार्गी है । उसने ही रत्नत्रय की एकता धारण की है । वह जीव वीतराग स्वभाव में लीन होता है और राग-द्वेष से भिन्न होता है । इसलिये कर्मों से, बँधता नहीं।

वीतराग स्वरूप भगवान आत्मा और उसमें से उत्पन्न हुआ वीतराग, बँध का नाश करने वाला है । सम्यग्दर्शन भी आँशिक वीतराग भाव रूप है । इस कारण सम्यग्दृष्टि को ४१ कर्म प्रकृतियों का बँध नहीं होता । सम्यग्दृष्टि लड़ाई के मैदान में लड़ रहा हो तो भी जिन कर्मों से वह बँधता नहीं उन्हीं कर्मों से परद्रव्य में अहंबुद्धि करने वाला अज्ञानी बँधता है । अज्ञानी अनन्त संसार को बढ़ाने वाले कर्मों से बँधता है, ज्ञानी बँधता नहीं ।

यहाँ समय-सार के अंतिम कलश का आधार दिया है । धर्मी की दृष्टि और दृष्टि के विषय में राग, द्वेष, मोह नहीं हैं । इसलिये कहा है कि धर्मी को राग, द्वेष, मोह होते ही नहीं । इसलिये धर्मी को कर्म बँध होता नहीं और स्वभाव में रमणता के कारण वीतरागता बढ़ती जाती है और अस्थिरता का जो राग है वह घटता जाता है ।

समसुख भोगी निर्वाण का पात्र है

जो समसुख गिलीणु बहु पुण पुण अप्पु मुणेई ।  
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाणु लहेइ ॥६३॥

लीन समसुख जीव बारम्बार ध्याते आतमा ।

वे कर्म क्षयकर शीघ्र पावे परमपद परमातमा ॥६३॥

अर्थ : जो ज्ञानी समता सुख में लीन होकर बार-बार आत्मा को अनुभव करता है वही प्रगटपने कर्मों का क्षय करके शीघ्र ही निर्वाण को पाता है ।

यह आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप शुद्ध चैतन्य है । वह शरीर, कर्म, पुण्य-पाप आदि विकारों से रहित है । ऐसे आत्मा का जिसे भान हैं वह ज्ञानी है, धर्मी है । हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भाव वे पाप हैं और दया, दान आदि के भाव वे पुण्य हैं । इनसे रहित अन्दर शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द स्वरूप भगवान बिराजता है, उसकी अन्दर में रुचि होना, उसका अनुभव करना वह धर्म है ।

सूक्ष्म बात है भाई ! कितने ही लोगों को ऐसी बात सुनने को भी नहीं मिलती । जैसा आनन्द सिद्धों को है वैसा ही आनन्द आत्मा के अन्दर स्वरूप में भरा है । अनादि से मिथ्यादृष्टि ऐसे आनन्द स्वरूप को भूल कर शुभाशुभ विकार को ही अपना स्वरूप मान रहा है, और पर द्रव्य में मेरा सुख है ऐसी मिथ्या मान्यता का सेवन कर रहा है । उसे सर्वज्ञ परमेश्वर केवली भगवान कहते हैं कि है भाई ! पर द्रव्य तेरी वस्तु (स्वभाव) नहीं, तू तो अतीन्द्रिय सुख का सागर है ।

अनन्तकाल में अज्ञानी जीव अनन्त बार त्यागी हुआ, भोगी हुआ, राजा, रंक, रोगी, निरोगी हुआ । अनन्त भवों में भ्रमण किया लेकिन कभी यह विचार नहीं किया कि आत्मा क्या है ?

परमेश्वर वीतराग देव ने कहा है कि हे भाई ! हमको जो शम सुख स्वरूप वीतरागी आनन्द प्रगट हुआ है, वही अतीन्द्रिय आनन्द तेरी वस्तु में भी भरा है । आत्मा धर्मी है, अतीन्द्रिय ज्ञान, आनन्द आदि उसके धर्म हैं । परन्तु जीव ने अनन्तकाल में एक सेकेंड भी अपने धर्मों की रुचि की नहीं, और पुण्य-पाप की रुचि छोड़ी नहीं ।

जिसने एक बार अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लिया अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट किया, वह जीव ज्ञानी और धर्मी है । फिर भले वह छह खण्ड का राजा चक्रवर्ती हो या इन्द्र हो लेकिन वह स्वभाव के सिवाय कहीं सुख मानता ही नहीं । ऐसा ज्ञानी ही शम भाव में लीन होकर बारंबार आत्मा का अनुभव करता है ।

जो सिद्ध भगवान हुये वे कहाँ से हुये ? उन्होंने निर्दोष दशा कहाँ से प्राप्त की? क्या वह बाहर से आती है ? अरे ! स्वभाव में है, वह प्रगट होती है, बाहर से कुछ भी नहीं आता । छोटी पीपर में ६४ पोरी अर्थात् पूरी-पूरी चरपराहट भरी है तो उसे घोटने पर प्रगट होती है । प्राप्त की ही प्राप्ति होती है । तेरी शक्ति में ध्रुव-स्वभाव में सर्वज्ञपद पड़ा है । स्वभाव में लीन होने से प्रगट होता है । वीतराग सर्वज्ञ भगवान का सब कथन न्याय से सिद्ध होता होता है ।

आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द भरा है, ऐसी धर्मी को श्रद्धा हो गयी है । इस कारण उसे स्त्री, कुटुम्ब, राजपाट में या पुण्य में कहीं आनन्द नहीं दिखता, कहीं सुख नहीं लगता ।

लोगों को ऐसा लगे कि कौन जाने यह क्या बात करते हैं । परन्तु प्रभु ! तू अरूपी अतीन्द्रिय आनन्द का दल है । जैसे बर्फ की कितनी भी बड़ी शिला हो, उसे बाजु से जहाँ से भी देखो वहाँ ठंडक.....ठंडक.....ठंडक ही भरी है । वैसे ही यह आत्मा देह व्यापक, परन्तु देह से भिन्न, अतीन्द्रिय आनन्द की शिला है । जब तक इसका विश्वास नहीं आता, अन्दर में ज्ञान और अनुभव नहीं होता तब तक धर्म की गंध भी नहीं आती ।

प्रत्येक गाथा में महासिद्धान्त भरा है—“शम सुख में जो लीन रहे” अर्थात् पुण्य-पाप भाव विषम हैं, दुःखरूप हैं । इनसे विरुद्ध शम सुख में जो लीन रहे-अतीन्द्रिय आनन्द में रुचि करते हैं, बारंबार उसका अभ्यास करते हैं, उन्हें संवर-निर्जरा होती है ।

मक्खी जैसे प्राणी को भी फिटकरी फीकी लगती है और शक्कर मीठी लगती है । इस कारण वह शक्कर से हटती नहीं और फिटकरी पर बैठती नहीं । इसी तरह पुण्य-पाप के भाव फिटकरी जैसे दुःख रूप हैं और आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है । इसलिये धर्मी आत्मा में लीन होता है ।

शम सुख में लीनता कहकर मुनिराज यह कहना चाहते हैं कि निर्वाण के उपाय में कष्ट नहीं, दुःख नहीं । कष्ट-दुःख सहन करने में तो आकुलता है । मोक्षमार्ग में आकुलता नहीं होती । मोक्षमार्ग में तो शमसुख में लीनता रूप सुख होता है । वीतराग का मार्ग तो सुख का मार्ग है ।



सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञानी आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में ललचाता है। आत्मा में आनन्द है ऐसे अनुभव से बारंबार आत्म रस का ज्ञानी स्वाद लेता हुआ कर्मों का नाश करके शीघ्र निर्वाण पद को प्राप्त होता है।

ज्ञानी की नजर में नव ही तत्व दिखाई देते हैं, भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति में हैं यह जीव तत्व, कर्म-शरीर आदि अजीव तत्व, पुण्य-पाप भाव आस्रव तत्व, विकारी भावों में ये ठीक हैं, ऐसा बँध तत्व, आत्मा की दृष्टि व अनुभव में सँवर तत्व निर्जरा तत्व, सँवर निर्जरा की पूर्णता हो तब पूर्णानंद प्रगट होता है, वह मोक्ष तत्व है। ऐसे एक ही गाथा में नौ तत्व समा दिये।

जीवों को वीतराग का कहा हुआ तत्व सुनने को भी नहीं मिला तो वे समझेंगे क्या? कब रुचि करेंगे? और अनुभव तो कैसे कहाँ से करेंगे? समझ बिना अनन्तानन्त भव जीव ने किये। कौआ, कुत्ता, निगोद आदि के भवों में से मुश्किल से अनन्त काल में यह मनुष्यपना मिला। उसमें भी यह न समझे तो फिर से वही भव होंगे।

वर्तमान काल में महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर प्रभु बिराज रहे हैं। करोड़पूर्व की उनकी आयु है। मुनिसुव्रत नाथ के समय हुये थे और आगामी चौबीसी के तेरहवें तीर्थंकर होंगे तब सीमंधर भगवान का निर्वाण होगा। उनके समवशरण में अभी लाखों केवली, गणधर, मुनिवर बिराजमान हैं। इन्द्र स्वर्गों से भगवान की वाणी सुनने आते हैं। यह वही वाणी है, सब संतों की भी वही वाणी है।

जीवों को तत्व निर्णय करने के लिये बड़ी मुश्किल से मनुष्यपने का अवसर मिलता है। उसे भी खो देता है। इस दृष्टि से मनुष्य या निगोद के जीवों में कोई अन्तर नहीं। जिसने आत्मा का अनुभव नहीं किया उसे मनुष्य देह या निगोद का शरीर हो, उसमें कुछ भी अन्तर नहीं, क्योंकि एक में भी आत्मा का लाभ नहीं।

“शमसुख” एक शब्द में भी मुनिराज ने बहुत भाव भरे हैं। शमसुख लीन चक्रवर्ती हो तो वह जानता है कि ये बाहर के स्वाद (भोग वैभव) मेरे नहीं, मेरा स्वाद तो मेरे अन्दर में है। थोड़ा सो राग है इसलिये छह खड के राज्य में पड़े हैं। लेकिन स्वभाव के आनंद को भूलते नहीं। जैसे नट रस्सी के ऊपर नाचते समय यह भूलता नहीं कि मेरा पैर रस्सी पर है, यदि भूलेगा तो गिर जायेगा। वैसे ही चक्रवर्ती के ६६००० रानियाँ हैं। इन्द्र जिसका मित्र है, हीरे-माणिक्य के सिंहासन हैं, वैभव का पार नहीं है, तो भी उनमें मग्न होकर अपने स्वभाव के आनंद को भूलते नहीं। उनकी रुचि तो स्वभाव में ही पड़ी है। उसका ही नाम सम्यग्दृष्टि है।

लोग कहते हैं कि जितने अधिक परिषह सहन करेंगे उतना अधिक लाभ होगा। अरे रे ! परिषह सहन करना यह तो दुःख है, उसमें लाभ कैसा ? स्वभाव में उल्लसित वीर्य और अतीन्द्रिय आनन्द के सामने बाहर में लाखों प्रतिकूलतायें हों तो भी ज्ञानी उन्हें ज्ञेय मात्र जानता है। बाहर में मुझे कोई प्रतिकूल या अनुकूल नहीं। मुझे तो मेरे विकारी भाव प्रतिकूल हैं, अनिष्ट हैं, दुःखरूप हैं और मेरा स्वभाव मुझे अनुकूल है ऐसा ज्ञानी जानते हैं, मानते हैं। इसलिये दुःख सहन करना मोक्ष का उपाय नहीं। परन्तु चंदन की शीतल छांव समान अतीन्द्रिय स्वभाव की शांति और सुख का वेदन करना मोक्ष का उपाय है।

जैसे समुद्र में ज्वर आता है, वैसे ही आत्मा आनन्द का बड़ा समुद्र है, उसकी दृष्टि और एकाग्रता करते ही वर्तमान पर्याय में आनन्द की भरती (ज्वार) आती है, वह मोक्ष का उपाय-शमसुख है।

भाई ! तेरा मार्ग भिन्न है बापू। दुनियां अन्य मार्ग को माने, इससे कहीं वह वीतराग का मार्ग नहीं हो जावेगा। वीतराग का मार्ग तो शमसुख रूप है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा के आनन्द के सामने भोगों को काले नाग जैसा दुःख रूप समझता है। उसे अभी अधिक स्थिरता नहीं, इससे थोड़ा राग आता है, परन्तु उसमें प्रेम और रुचि नहीं। बत्तीस लाख विमानों का स्वामी समकिति-इन्द्र बाहर में कहीं आनन्द नहीं मानता; आनन्द तो अन्दर में है ऐसा मानता है। लोगों को लगे कि यह हजारों अप्सराओं का भोग करता है। परन्तु उसे तो अन्दर में दुःख लगता है, उपसर्ग लगता है। राग को टालता जाता है। जबकि उसी भोग में मिथ्यादृष्टि मिठास का वेदन करता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की दृष्टि में यही जमीन आसमान का अन्तर है।

सोने की डली के ऊपर भिन्न प्रकार के चित्र वाले कपड़े लिपटे होने पर भी डली कभी भी उन चित्रों वाली नहीं होती। वैसे ही भगवान आत्मा सोने की डली है। उसके ऊपर कभी स्त्री के, कभी पुरुष के, कभी हाथी के, कभी कुंथु के कभी निगोद आदि के शरीर रूप कपड़े लिपटे हों, परन्तु आत्म-वस्तु भगवान चिदानन्द, आनन्दकंद सदा ही उनसे भिन्न तत्व है। वह कभी भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीरों रूप नहीं होता, होता ही नहीं।

भाई ! तू कौन तेरी दशा क्या ? तू अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का पिंड। शरीर, मन वाणी तू नहीं, विकार भी तू नहीं। आनन्द और शांति रूप जीवन से भरा तू जीव

है। परन्तु जैसे हिरण की नाभि में कस्तूरी है, उसे उसका भान नहीं, उसकी कीमत नहीं।

जैसे शक्कर खाने से मीठी लगती है, नीम कडुआ लगता है, नमक खारा लगता है वैसे ही तू स्वयं भगवान आत्मा का अनुभव करने से आनन्द आता है। आत्मा में रमणता करने से अतीन्द्रिय आनन्द आता है, वही आत्मधर्म है।

**प्रश्न :** आत्मा को पहचानने के लिये क्या इतना सारा समझना पड़ता है ?

**उत्तर :** धंधे में कितनी माथाकूट करते हो ? ब्याज तो लगावें। चक्रवर्ती ब्याज भी लगाता है। वैसे ही आत्मा जैसा है वैसा समझना तो पड़ेगा ना। आत्मा मीठा होकर शक्कर का स्वाद लेता नहीं, खारा होकर नमक का स्वाद लेता नहीं। उनसे भिन्न रहकर ज्ञान करता है, पर अपने स्वभाव में तो अभेद होकर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेता है। यह सब समझना पड़ेगा।

जिसे मात्र आस्रव ही है वह मिथ्यादृष्टि है। आस्रव और निर्जरा दोनों हैं वह साधक दशा है। जिसे आस्रव का सर्वथा अभाव होकर पूर्ण निर्मलता है वह अरहंत दशा है। यहां अरहंत के मात्र एक समय की स्थिति वाले सातावेदनीय के आस्रव को गौण किया है। क्योंकि वह आता है और अगले समय ही खिर जाता है, रुकता नहीं।

आत्मा के सन्मुख होने से ही सच्चे सुख का अनुभव होता है। कर्म चेतना और कर्मफल चेतना का अनुभव करना वह दुःख दशा है, वह मिथ्यादृष्टि की बाधक दशा है। आत्मा स्वभाव सन्मुख का पुरुषार्थ वह धर्मध्यान है और उसमें उग्रपने लीन होना शुक्लध्यान है।

आ हा हा ! अनन्तकाल में अनेक बार साक्षात् प्रभु के पास भी यह जीव जाकर आ गया। परन्तु बहिर्मुख दृष्टि नहीं छोड़ी। इस तरह स्वयं अन्तर्मुख आत्मा को दृष्टि में से ओझल कर रखा है।

आ हा हा ! भगवान पूर्णानंद स्वरूप आत्मा कैसा है ? कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान की वाणी में भी जिसके गुण पूरे न आ सकें ऐसा यह भगवान आत्मा है। श्रीमद् रायचन्दजी कहते हैं—“जो स्वरूप सर्वज्ञे दीतू ज्ञान मां, कहीं शक्या नहीं ते पण श्री भगवान जी”। गोम्मटसार में भी आता है कि “भगवान ने जितना जाना है उसका अनन्तवां भाग ही उनकी वाणी में आता है” अरहंत भगवान भी जब दिव्यध्वनी में आत्मा का स्वरूप पूर्ण रूप से नहीं कह सके तब फिर उस आत्म स्वरूप को अन्य की वाणी से कैसे कहा जाय ? वह तो मात्र अनुभव गोचर है।

जैसे गूंगा रस का स्वाद कह सकता नहीं किन्तु अनुभव कर सकता है। वैसे ही आत्मा का स्वरूप पूरा वाणी में न आ सके परन्तु अनुभव गोचर हो सकता है ऐसा स्वरूप है। पुण्य-पाप से रहित आत्मा अनुभव में आ सकता है।

भगवान आत्मा चैतन्य पिंड, चैतन्य दल, चैतन्य नूर, चैतन्य पूर ऐसे पूर्णानंद प्रभू की दृष्टि और ध्यान से गुणस्थान बढ़ता है। राग या पुण्य के अवलम्बन से गुण स्थान नहीं बढ़ता।

निश्चय नय त्रिकाल शुद्ध आत्मा स्वभाव के दर्शन करता है, जबकि व्यवहार नय तो भेद, राग और निमित्त का दर्शन कराता है। समयसार की छठी गाथा में पुण्य-पापके भेद निकाल दिये, असदभूत उपचार और अनुपचार व्यवहार नय निकाले और सातवीं गाथा में सदभूत अनुपचार व्यवहार नय निकाले और सातवीं गाथा में सदभूत अनुपचार जो गुण-गुणी के भेद रूप व्यवहार है, उसे भी निकाल दिया। अकेला ज्ञायक स्वरूप आत्मा सबसे भिन्न बता दिया।

मात्र भगवान आत्मा ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायक (“ज्ञायक” ऐसा विकल्प नहीं) चैतन्य का नूर रहित पुण्य-पाप के विकल्पों से भिन्न पड़ा हुआ “ज्ञायक” उसका ज्ञान भाव रूप परिणमन करते दृष्टि में ज्ञायक भाव ही आता है। इस दृष्टि बिना तीन काल में मोक्ष नहीं।

कोई कहे कि पंचमकाल में निश्चय मोक्षमार्ग होता नहीं, इसलिये व्यवहार मोक्षमार्ग जो पुण्य परिणाम उसका आचरण करो, वह मोक्षमार्ग है। अरे ! निश्चय बिना व्यवहार होता ही नहीं। स्वाश्रय प्रगट हुआ हो तब कहीं पराश्रय बाकी रह जाये वह व्यवहार है। अकेला पराश्रय भाव हो वह तो मिथ्यादृष्टि है। और अकेला स्वाश्रय जिसे पूर्ण प्रगट हो गया वे भगवान परमात्मा हैं। और स्वभाव की दृष्टि से स्वाश्रय प्रगट हुआ परन्तु अभी साथ में थोड़ा पराश्रय रह गया है वह साधक दशा का व्यवहार है।

वस्तु स्थिति यही है, यह तीनकाल में पलट सकती नहीं। अनन्तकाल में जीव ने बाहर ही माथा मारा है। स्वाश्रय कभी किया ही नहीं। एक बार देख “मैं परमात्मा स्वरूप हूँ” ऐसी दृष्टि कर तो बहिरात्मपना मिटकर अन्तरात्मा हो जाय। सीधी बात है। भगवान आत्मा स्वयं सीधा सरल चिदानन्द भगवान पड़ा है। “सत सरल है, सत् सर्वत्र है, और संत् सुलभ है” परन्तु जीव ने ऐसा दुर्लभ कर डाला कि सत्य बात सुनना भी दुर्लभ हो गया।

जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं, वस्तु का स्वरूप है। अपने पूर्णानन्द का आश्रय लेकर अज्ञान-राग-द्वेषादि पर का आश्रय टाले उसे जैन कहते हैं। परमेश्वर ने कभी नया धर्म नहीं बनाया।

अखंडानन्द प्रभु भगवान् आत्मा एक समय में अनन्त गुणों का पिंड है। एक बार इसको स्वीकार तो कर। अनन्त गुण हों तो वस्तु ही नहीं होगी। असंख्यात प्रदेशों में अनन्त गुणों का पिंड महाप्रभु बिराजमान है। स्वाभाविक मूर्ति है उसका क्या कहना? अरूपी, चिदपिंड, चिदघन, विज्ञानघन, आत्म-वस्तु है। आकाश के अनन्त प्रदेशों की संख्या से भी अनन्त गुणे अर्थात् अनंतानंत गुण प्रत्येक आत्मा में हैं। ऐसे आत्मा का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र्य प्रगट करे, उसका आस्रव बहुत घट जाता है और संवर-निर्जरा बढ़ जाती है। कारण कि अनन्तानन्त गुणों में से बहुत थोड़े ही गुणों का विपरीत परिणमन हुआ है। इसलिये आस्रव-बंध थोड़ा होता है और अनन्तानन्त गुणों के आदर तथा बहुमान से अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं। इससे संवर-निर्जरा अधिक हो जाती है। इसलिये निश्चय से सम्यग्दृष्टि को अबंधक कहा है। क्योंकि स्वभाव में बंध नहीं और स्वभाव दृष्टि में बंध नहीं। इसलिये बंध के भावों को ज्ञेय में डालकर सम्यग्दृष्टि को अबंधक कहा है। रागसे, भेद से, निमित्त से भिन्न ज्ञान से अधिक आत्मा की दृष्टि हुई, उसे मोक्षमार्ग हाथ आ गया।

जिसकी दृष्टि में आत्मा आगया अब उसे जीवन में क्या पाना शेष रहा ?

दृष्टि के जोर के साथ-साथ धर्मी जानता है कि पूर्ण आनन्द की प्राप्ति बिना मैं अतृप्त हूँ। जैसे पेट पूरा नहीं भरता जब तक मैं भूखा हूँ ऐसा लगता है ना ? वैसे ही धर्मी पूर्णानन्द की प्राप्ति के बिना अतृप्त है। इसलिये वह पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये लालायित रहता है। ऐसे मोक्षार्थी-धर्मी जीव निर्वाण का लक्ष रखकर शमसुख को भोगता हुआ, आत्मा का विशेष-विशेष अनुभव करता करता शीघ्र निर्वाण को पाता है।

अरे रे ! अज्ञानी जीव जिसमें भरपूर माल भरा है, उसके सन्मुख दृष्टि करने का समय तो निकालता नहीं और जिसमें कुछ नहीं ऐसे पुण्य-पाप भाव और निमित्तों में अपना सर्वस्व है ऐसा मानकर उसी में लगा रहता है। इसलिये ही आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार की ४६३ वीं गाथा की टीका में कहा है-अज्ञानी जीव अनादिरूढ़-व्यवहार मूढ़ और निश्चय अनारूढ़ है और ज्ञानी व्यवहार मूढ़ नहीं होते, परन्तु व्यवहार को जानने वाले हैं। निश्चय वस्तु दृष्टि में आने के पश्चात् अस्थिरता के कारण अल्प राग आता है, वह व्यवहार है ऐसा ज्ञानी जानता है। निश्चय बिना व्यवहार तीनकाल में नहीं होता है।

जैसे राजा होकर भीख मांगने जाय तो वह मूर्ख है। वैसे ही आत्मा स्वयं तीनलोक का नाथ होकर भी भगवान के पास अपने भगवानपने की भीख मांगने जाता है, उसे मुनिराज कहते हैं कि “प्रभु ! तू ही भगवान है” उसे अपना स्वरूप देखने की फुरसत ही नहीं मिलती। उसे आत्मसन्मुखदृष्टि करने में ही मेरा हित है, ऐसी बात उसे अभी बैठती ही नहीं। व्यवहार की ही रुचि रहती है, परन्तु उसमें तेरा अहित होता है भाई।

*आत्मा को पुरुषाकर ध्यावे*

**पुरिसायार-पमाणु जिय अप्पा एहु पवित्तु ।  
जोइज्जइ गुण-गुण-णिलउ णिम्मल-तेय-फुरंतु ॥६४॥**

**पुरुष के आकार जिय गुणगणनिलय सम सहित है ।  
यह परमपावन जीव निर्मल तेज से स्फुरित है ॥६४॥**

**अर्थ :** हे जीव ! इस अपने आत्मा को पुरुषाकर प्रमाण, पवित्र, गुणों की खान व निर्मल तेज से प्रकाश मान देखना चाहिये ।

आचार्य श्री योगीन्द्रदेव ने ६३ वीं गाथा तक आत्मा की बहुत महिमा गाई कि आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द आदि अनन्त गुणों का पिंड है। इसलिये शिष्य को प्रश्न उठता है कि ऐसा आत्मा क्षेत्र से कितना बड़ा होगा। उसे मुनिराज कहते हैं-भाई ! बड़े क्षेत्र से आत्मा की महानता नहीं, उसकी महानता तो गुणों की अचिन्त्यता से है।

वेदांत आदि आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, उनके सामने भी गाथा महासिद्धांत स्पष्ट करती है, कि आत्मा शरीर प्रमाण है, सर्वव्यापक नहीं है।

भगवान आत्मा क्षेत्र से पुरुषाकार है और भाव से गुणगणधाम-गुणों की खान-गुणगण निलय अर्थात् गुणों के समूह का घर है और निर्मल तेज से स्फुरायमान है। अति पवित्र है। ऐसे आत्मा को अन्तर ज्ञान और श्रद्धा से देखना चाहिये। वस्तुदृष्टि से देखें तो आत्मा त्रिकाल निरावरण, स्फटिक शुद्ध निर्मल है। वस्तु को आवरण कैसा? आत्मा तो त्रिकाल निरावरण, सामान्य-विशेष गुणों का सागर, ज्ञाता-दृष्टा, वीतराग, परमानन्दमय, परमवीर्यवान और शुद्ध समकित गुणका धारी है।

भगवान आत्मा परम निर्मल चैतन्य तेज से चमक रहा है। राग से आत्मा नहीं चमकता। ऐसे आत्मा में चित्त को स्थिर करके ध्यान करना चाहिये।

सच्चा आत्म ध्यान कौनकर सकता है ? छठे सातवें गुणस्थान में झूलने वाले मुनिराज उत्कृष्ट ध्यान करते हैं । देशव्रती श्रावक मध्यम ध्यान करता है । अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य ध्याता है । सम्यग्दृष्टिको स्वरूप की दृष्टि हुई है अर्थात् ध्यान करने की योग्यता प्रगटी है । सम्यग्दृष्टि को स्वरूपाचरण चारित्र होता है । इसलिये चौथे गुणस्थान से ही ध्यान की शुरुआत हो जाती है । इसके पहले ध्यान होता नहीं । क्योंकि सम्यक् श्रद्धान बिना आत्मा का सच्चा प्रेम और रुचि होती नहीं । इसलिये आत्मा की लगन लगती नहीं ।

अज्ञानी को ध्यान करना तो आता है, परन्तु जिसकी रुचि होगी उसका करेगा ना ? अज्ञानी को संसार की रुचि है, इसलिये उसके ध्यान में चढ़ जाता है । यह उल्टा ध्यान करना जिसे आता है उसे आत्मा की सीधी रुचि होते ही आत्मा का ध्यान क्यों नहीं डोवेगा, होगा ही । उल्टे ध्यान से तो ताकत कमजोर होती है और सीधे ध्यान से ताकत उग्रता धारण करती है ।

मैं ही परमात्मा हूँ मेरे से ही परमात्म पर्याय प्रगट होती है । ऐसा निर्णय करके स्वभाव की दृष्टि करे, उसे स्वभाव की महिमा के सामने इन्द्र-चक्रवर्ती का वैभव भी जीर्ण तृण समान तुच्छ भासित होता है । आत्मा के आनन्द के सामने ज्ञानी को समस्त दुनियां दुःख रूप लगती है । इसलिए ज्ञानी दुनियां के किसी भी पद को नहीं चाहता।

*आत्मज्ञानी ही सब शास्त्रों का ज्ञाता है*

**जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ असुइ-सरीर-विभिन्नु ।  
सो जाणइ सत्थहँ सयल सासय-सुक्खहँ लीणु ॥६५॥**

**इस अशुचि-तन से भिन्न आत्मदेव को जो जानता ।**

**नित्य सुख में लीन बुध वह सकल जिनश्रुत जानता ॥६५॥**

**अर्थ :** जो कोई इस अपवित्र शरीर से भिन्न व अविनाशी सुख में लीन शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है वहीं सर्व शास्त्रों को जानता है ।

आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द भरा पड़ा है । वैसे वस्तु शाश्वत है, वैसे ही अतीन्द्रिय आनन्द भी शाश्वत है । ऐसे शाश्वत आनन्द में एकाग्र होकर आत्मा का अनुभव करे। जिसने आत्मा को जाना उसने सब कुछ जाना । उसने ही जाना की आत्मा अतीन्द्रिय और आनन्दमय है । एक को जाना जिसने उसने सब को जान लिया ।

योगसार में बहुत मक्खन भरा है। आचार्य श्री योगीन्द्र देव कहते हैं प्रभु ! तेरे पास ही तेरा आनन्द है ना। बाहर तू कहां खोजने जाता है ? आनन्द तो तेरे स्वभाव में है भाई। त्रिकाली आनन्द आदि अनन्तगुण रूप धर्म को धरने वाला तू धर्मी है। ऐसे अपने स्वभाव को जिसने अनुभव सहित जाना, उसने द्वादशांग को जान लिया। कारण कि सभी शास्त्रों में कहने का हेतु तो आत्मा का ज्ञान करना ही है।

शास्त्र का ज्ञान तभी सफल होगा जब जीव स्वयं के स्वभाव को यथार्थ जाने। और आत्मा यथार्थ जाना तब कहलाये कि जब जीव उसकी रुचि करके स्वभाव का स्वाद ले। इसमें जानना, रुचि और आनन्द का वेदन ये तीनों आ गये।

आत्मा अपने स्वभाव के अलावा जगत में छोटे से छोटे पुदगल परमाणु और स्कंध को तथा पुण्य-पाप को अपना करना चाहे तो अनन्त पुरुषार्थ से भी अपने हो सकते नहीं।

जिसे अपना हित करना हो उसे यह समझना पड़ेगा। उसके लिये भले समय अधिक लगे परन्तु समझे बिना छुटकारा नहीं। समझकर पहले तो निर्णय कर पीछे अनुभव होगा।

तीर्थंकर भगवान की इच्छा बिना ही जो दिव्यध्वनि खिरती है, उसमें से गणधर देव सूत्ररूप रचना करते हैं, उसका नाम आगम है। उस आगम में यह आया है कि भाई ! तेरे स्वभाव में शरीरादि पर द्रव्य तो एक समय भी तन्मय करना चाहो तो हो सकता नहीं। आत्मा तो त्रिकाली ज्ञान-आनन्द में तन्मय है। उसकी वर्तमान में दृष्टि करके उसमें तन्मय होना यह जीव का कार्य है। जीव स्वयं, स्वयं को प्रत्यक्ष कर सके ऐसा उसमें गुण है। लेकिन अज्ञानी ने आज तक कभी भी अपने स्वभाव को देखने का प्रयत्न किया ही नहीं। स्वभाव का मंथन किया ही नहीं।

आत्मा में एक “प्रकाश” नाम का गुण अनादि-अनन्त है, जो स्वयं को प्रत्यक्ष कर सकता है। राग बिना आनन्द का वेदन कर सके ऐसा गुण का सामर्थ्य है।

लौकिक में दृष्टान्त आता है कि सूरदास ने कृष्ण का हाथ पकड़ा तो श्री कृष्ण उसका हाथ छुड़ाकर भाग गये। तब सूरदास कहते हैं प्रभु। तू मेरे हाथ में से छूट गया, परन्तु मेरे हृदय में तेरा वास है, वहां से नहीं छूट सकता। वैसे ही यहां कहते हैं भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान से बाहर कहीं नहीं जा सकता।

जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी है, परन्तु अज्ञान से वह यहां-वहां भटकता है, वैसे ही आत्मा तो अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द से भरा है। उसके सन्मुख नजर किये बिना



अज्ञानी जीव जितने भी पुण्य-पाप के भाव करता है, वे सब संसार परिभ्रमण के कारण ही हैं। फिर भले वह ग्यारह अंग और नवपूर्व पढ़ा हो, तो भी आत्मा के भान बिना उसकी कुछ कीमत नहीं।

राग-द्वेष या शास्त्र ज्ञान द्वारा आत्मा जानने में आये प्रत्यक्ष ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं। आत्मा स्वयं से स्वयं प्रत्यक्ष हो ऐसा उसमें अनादि अनन्त गुण है।

भाई ! वीतराग परमेश्वर का यह मार्ग कोई भिन्न जाति का है। परमात्मा कहते हैं कि विकल्प या राग से कुछ लाभ नहीं। तू तो जितना स्वरूप में एकाग्र होगा उतना ही लाभ है। आत्मवेदन सहित आत्मा का ज्ञान करना यही मोक्षमार्ग है। इसके सिवाय और कहीं मोक्षमार्ग मानेगा तो तू ठगा जावेगा।

मुनिराज कहते हैं कि शुद्ध स्वरूप की भावना करते-करते आत्मा प्राप्त हो जाता है शुद्ध स्वरूप का वेदन करते-करते आत्मा पूर्ण प्रत्यक्ष हो जाता है। इसलिये शास्त्र पढ़ने का हेतु एक आत्म प्राप्ति ही रखना। कहा है कि “लाख बात की बात यही निश्चय उर लावो। तोड़ सकल जग द्वंद फंद निज आत्म ध्यावो”।

आत्मा अपने स्वभाव को प्राप्त करे, रुचि करे, जाने, वेदे तब उसे मोक्षमार्ग हुआ कहलाये। उसे ही सामायिक और प्रोषध होते हैं।

भाई ! तेरे घर की ऐसी मीठी बात तुझे क्यों रुचे ? भूख लगी हो और पोची पोची मक्खन जैसी पुरी औ खाजा वगैराह मिलें तो क्यों न रुचे ? रुचे ही। वैसे ही आत्मा कौन है, कैसा है, ऐसी जिसे अन्दर से जिज्ञासा हुई हो, उसे यह बात क्यों न रुचे, रुचे ही। मूल में तो अन्दर से भूख लगना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द ने “पुरुषार्थ सिद्धुपाय” ग्रन्थ में कहा है कि अज्ञानियों को समझाने के लिये व्यवहारनय का उपदेश है। अशुद्धता है परन्तु तेरे स्वभाव में नहीं। निश्चय से संयोगी और संयोगी भावों से तू पार है। इसलिये व्यवहार नय के विषय को तू मात्र जान, लेकिन आदर तो निश्चयनय के विषयभूत द्रव्य स्वभाव का ही करना।

निश्चयनय अभेद को बतलाता है और व्यवहारनय भेद को बतलाता है। इस तरह दोनों नयों के विषय में विरोध लगता है। परन्तु वस्तु स्वरूप ही ऐसा है। वस्तु में दोनों धर्म हैं। निश्चयनय आत्मा को संयोग, भेद विकल्प से रहित ही देखता है और व्यवहारनय भेद, विकल्प और निमित्तों को देखता है। यदि व्यवहारनय का विषय ही न हो तो तीर्थ दान पूजा आदि कुछ बनते ही नहीं और यदि निश्चय नय का विषय न हो तो आत्माश्रय के बिना स्वयं को कुछ लाभ ही न हो। इसलिये दोनों नय और उनके विकल्प हैं। जो दोनों को न जाने वह ज्ञाता-दृष्टा रह सकता नहीं।

जैसे बालक को बिल्ली बताकर सिंह का ज्ञान कराया जाता है, यदि वह बिल्ली को ही सच्चा सिंह मान लेगा तो अज्ञानी ही रहेगा। वैसे अज्ञानी को व्यवहार नय से एकेन्द्रिय वह जीव, पंचेन्द्रिय वह जीव ऐसा बताया जाता है, परन्तु वह एकेन्द्रियपना, पंचेन्द्रियपना आदि वस्तु के स्वरूप में नहीं। इसलिए जो व्यवहार को ही निश्चय मान ले वह तो उपदेश के लायक भी नहीं, क्योंकि वह निश्चय को समझता ही नहीं।

एक जगह ऐसा बना था कि स्कूल में बोर्ड पर शिक्षक ने मच्छर का चित्र बनाकर विद्यार्थियों को बतलाया था। मच्छर तो छोटा होता है लेकिन बालकों को स्पष्ट दिखे इसलिये शिक्षक ने बड़ा चित्र बनाया था, उसे बालकों ने देखा। बालकों ने प्रत्यक्ष तो मच्छर कभी देखा नहीं था। एक दिन गांव में हाथी आया तो बालकों को हाथी ही मच्छर जैसा लगा, तो शिक्षक से कहा देखो गुरुजी यह मच्छर आया। यह दृष्टान्त है। स्वयं देखे और विचारे। और निर्णय किये बिना वस्तु में ऐसा है, वैसा है, करे तो अज्ञानी ही है। वैसे ही अज्ञानी जीव निश्चय का यथार्थ स्वरूप पहचाने नहीं इसलिये व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है। भाई ! यदि तुझे तेरे आत्मा का हित करना हो तो आत्मा का जैसा स्वरूप है उसे पहले जान, रुचि में ले, अनुभव कर। अर्थात् रत्नत्रय प्रगट कर। वही तेरे हित का मार्ग मोक्षमार्ग है।

*परभाव का त्याग कार्यकारी है।*

**जो णवि जाणइ अप्पु परु णवि परभाउ चएइ ।  
सो जाणउ सत्थइँ सयल ण हु सिवसुक्खु लहेइ ॥६६॥**

**जो स्व-पर को नहीं जानता छोड़े नहीं परभाव को ।  
वह जानकर भी सकल श्रुत शिवसौख्य को ना प्राप्त हो ॥६६॥**

**अर्थ :** जो कोई आत्मा को व पर पदार्थ को नहीं जानता है व परभावों का त्याग नहीं करता है वह सर्व शास्त्रों को जानता है तो भी मोक्ष के सुख को नहीं पायेगा।

अज्ञानी जीव अपने अभेद आत्मस्वरूप को तो जानता नहीं और परभाव स्वरूप ऐसे जो पुण्य-पाप, राग-द्वेष आदि को अपना मानता है। पर ये आत्म स्वभाव से भिन्न स्वभाव वाले हैं। अहो ! दया, दान, पूजा, भक्ति के भाव भी परभाव हैं मेरा स्वरूप नहीं, क्या यह बात कभी सुनने में आई है ?

**प्रश्न :** दया, दानादि नहीं करना तो फिर हमको क्या करना ?

**उत्तर :** शाश्वत अनन्त गुणों का गोदाम आत्मा बिराजमान है, उसकी पहचान करना, ये करना है ।

त्रिलोकीनाथ परमात्मा कहते हैं, हे भाई ! तू त्रिकाल शुद्ध भगवान होने पर भी तूने प्रमादवश कभी अपने आत्मा को निरखा नहीं । लोक में कहावत है ना “कांख में छोरा गांव में हेरा”। कांख में लड़का हो और कहता है कि मेरा लड़का कहां खो गया? अरे यह रहा, ऐसी नजर तो कर । ऐसे ही भगवान कहते हैं तू स्वयं परमात्मा होने पर भी कहां भगवान को ढूंढने जाता है ? तेरा भगवान तेरे पास ही है । सम्पेदशिखरजी, शत्रुंजय आदि तीर्थों में तथा मंदिर या प्रतिमा में तेरा भगवान नहीं । बनारसीदास जी नाटक समयसार में कहते हैं—“ मेरोधनी नहीं दूर दिशंतर, मों ही में है मोहे सुझत नीके”। भगवान ! तेरे स्वरूप की तुझे खबर न पड़े यह भी कोई बात है ? अरे ! तू तुझे प्रत्यक्ष हो ऐसा तेरे में ही गुण है । किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा अज्ञानी दरिद्री हो गया है कि इसको अपने भगवतस्वरूप का विश्वास ही नहीं होता । जैसे बालक को अपने निधान की खबर नहीं, वैसे अज्ञानी को अपने अचिन्त्य निधान का भान नहीं।

एक ओर अपना आत्मा है और दूसरी ओर राग-द्वेष विकार आदि परभाव है । इन दोनों को जाने तो निज का आश्रय लेकर परभावों को छोड़े । ज्ञान तो दोनों का करना है परन्तु स्वभाव को जानकर ग्रहण करना और परभाव को जानकर छोड़ना है।

स्व-पर के ज्ञान बिना भले ही ग्यारह अंग और नव पूर्व का शास्त्र हो तो भी भेदज्ञान रहित जीव मोक्ष पाता नहीं ।

**प्रश्न :** शास्त्र स्वाध्याय से निर्जरा होती है ऐसा शास्त्रों में आता है ?

**उत्तर :** शास्त्र-स्वाध्याय से ज्ञानी को असंख्यात गुणी निर्जरा होती है, ऐसा धवला में पाठ है । शास्त्रों में अनेक जगह यह बात आती है, परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं कि शास्त्र की तरफ के विकल्प से निर्जरा होती है । ज्ञानी को शास्त्र स्वाध्याय करते-करते भी प्रत्येक समय आत्मा का घोलन रहता है । शुद्ध-परिणति रहती है, उससे निर्जरा होती है । वीतरागता से ही निर्जरा होती है, विकल्पों से कभी निर्जरा नहीं होती । शास्त्र स्वाध्याय से निर्जरा होती हो तो सर्वार्थ-सिद्धि के देव तैंतीस सागर तक यही करते हैं, उन्हें खूब निर्जरा होनी चाहिये । परन्तु ऐसा नहीं है । उनका तो गुणस्थान भी बढ़ता नहीं; चौथा ही गुणस्थान रहता है । वे देव भी इच्छा करते हैं कि कब मनुष्य होकर अन्दर की स्थिरता बढ़ाकर निर्जरा करुं । देव पर्याय में तो उन्हें

पुण्य भी अधिक है। जहां पानी का प्रवाह अधिक हो वहां खेती नहीं होती। क्योंकि प्रवाह में बीज अन्दर रहता ही नहीं तो उगे कहां से? वैसे ही इन देवों को सम्यग्दर्शन होने पर भी पुण्य का प्रवाह इतना अधिक है कि उसमें स्थिरता का बीज उगता ही नहीं, निर्जरा होती ही नहीं। उसी प्रकार खारी जमीन में भी बीज उगता नहीं, वैसे ही नरक की पर्याय में पाप के प्रवाह में नारकी को कदाचित् सम्यग्दर्शन हो तो भी स्थिरता का बीज उगता नहीं।

**जाति अंध नो रे दोष नहीं आकरो, जे नवी जाने रे अर्थ  
मिथ्यादृष्टि तेथीं रे आकरो, करे अर्थ ना अनर्थ**

निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त से वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा नहीं जानता-मानता विपरीत मानता है। जन्मांध से भी विपरीत मान्यता के कारण मिथ्यादृष्टि अधिक अंधा है। वीतराग की पेढी पर बैठकर वीतराग के नाम से जो तत्व कहता है उसकी बहुत जुम्मेदारी है। वीतराग का मार्ग स्वाश्रय से शुरु होता है। उसके बदले पराश्रय से लाभ मानना और कहना उसका फल बहुत दुःखदायी है। भाई ! इसलिए इस गाथा में कहा है कि अनेक शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी शुद्ध, बुद्ध अविकार चैतन्यघन वह मैं हूँ और रागादि विकार वे मैं नहीं—ऐसा भेदज्ञान जिसने किया उसे वीतराग मार्ग समझ में नहीं आया। इसलिए वह शास्त्रों को जानता हुआ भी मोक्षमार्ग को नहीं जानता और इसलिये। मुक्ति का पात्र नहीं होता।

*परमसमाधि शिवसुख का कारण है*

**वज्जिय सयल-वियप्पइ परम-समाहि लहंति ।**

**जं विंदहिं साणंदु क वि सो सिव-सुखं भणंति ॥६७॥**

**सब विकल्पों का वमन कर जम जाय परमसमाधि में ।**

**तब जो अतीन्द्रिय सुख मिले शिवसुख उसी को जिन कहें ॥६७॥**

**अर्थ :** सर्वविकल्पों को त्यागने पर जो परम समाधि को पाते हैं, तब कुछ आनन्द अनुभव करते हैं इसी सुख को मोक्ष का सुख कहते हैं।

देखो ! यहां सर्व विकल्पों को छुड़ाने की बात की है। आत्मा अपने आनन्द, ज्ञानादि अनन्त शुद्ध स्वभाव से कभी रहित हुआ ही नहीं। फिर भी अनादि से दशा में राग के विकल्प पुण्य-पाप की वासना है उसे छुड़ाने की बात है। यदि पर्याय में अनादि से शुद्धता ही होती तो शुद्ध करने का प्रयत्न करता ही नहीं। परन्तु स्वयं ही अपने

स्वभाव को भूल कर, पर तरफ का लक्ष करके अनेक प्रकार के शुभाशुभ भावों की दुःख रूप दशा को उत्पन्न कर रहा है ।

जिसे अपने आत्मा की दया आती है कि अरे ! मैं अनन्तकाल से रखड़ रहा हूँ, अब तो मुझे मेरा हित करना है । ऐसा जिसे अन्दर से लगे कि मैं तो एक आत्मा हूँ । मुझे चार गतियों का परिभ्रमण कैसा ? यह संसार तो अनन्त दुःखमय है । उसमें रहना मुझे शोभा नहीं देता । ऐसी जिसे भावना लगी है । उसे मुनिराज कहते हैं कि तू पहले शुभाशुभ विकल्प जालों का लक्ष छोड़ दे और अनन्त आनन्द शान्ति, समाधि से भरपूर निजात्म स्वभाव का लक्ष कर । अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट कर । जो अनादि से विकारों में ही एकत्व करके सुख मानता था । उसने अब पलटा मारा कि मेरे स्वभाव में ही शांति-आनन्द, सुख है । उसे ऐसा लगता है कि मेरे स्वभाव के स्वाद के सामने विकार का स्वाद दुःखदायी है । स्वभाव की दृष्टि होते ही जो जीव विकल्पों को छोड़कर स्वभाव में स्थिर होता है वह परम समाधि तथा शान्ति को प्राप्त करता है ।

वस्तु स्वभाव से सदा निर्दोष है । सदोष तो पर्याय होती है । स्वभाव को निर्दोष कहो, समाधि स्वरूप कहो, या वीतराग समरस स्वरूप कहो; ऐसे स्वभाव का अनुभव करने से जीव को आनन्द प्राप्त होता है ।

यहां तो भाई ! नगद का धंधा है । जिस समय जीव स्वभाव की दृष्टि करता है उसी समय स्वभाव का अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त होता है । स्वभाव के विपरीत परद्रव्य की ओर लक्ष करता है, उसी समय ही उसे विकार के दुःख का वेदन होता है । कभी कर्म बंध हो और उसका अन्य काल में फल मिले, ये तो सब बाह्य संयोगों की बातें हैं । श्री समयसार की गाथा १०२ में आता है, जिस समय जीव कर्ता बनता है, उसी समय जीव भोक्ता है ।

**प्रश्न :** आप कहते हैं कि जीव के भावों का फल नगद है, परन्तु हम तो देखते हैं कि लोग भुजिया, पूरी, लड्डू खाते हैं और मजा करते हैं, वह भाव तो अशुभ है, तो उन्हें दुःख क्यों नहीं होता ?

**उत्तर :** अरे ! वे मजा करते हुये दिखते हैं परन्तु वे दुःखी ही हैं । लेकिन इसका उन्हें भान नहीं । जितना परलक्ष है उतना दुःख ही है । इस दुःख दावानल के विकल्प जाल को छोड़कर स्वभाव का लक्ष करे उसे ही समरस और शांति है, सुख है, उसे ही धर्म प्रगट हुआ कहा जाता है ।

**भटकत द्वार-द्वार लोकने के, कुकट आशा धारी  
आत्म अनुभव रस के रसिया उतरे न कबहुं खुमारी  
आशा औरन की क्या कीजे ? ज्ञान सुधारस पीजे**

कुत्ता रोटी के टुकड़ों के लिये दरदर भटकता है, वैसे ही यह अज्ञानी, कोई मुझे सुख देदो ना ! ऐसा करके स्त्री, बच्चे, धन आदि के पास कुत्तों की तरह भटकता है। उसे कहते हैं भाई ! तू ज्ञानरस का पिंड है, आनन्द का सागर है, उसका तू स्वाद ले, ज्ञानरस पी ।

अरे ! अज्ञानी जीव सुबह हाथ में कंगी लेकर कंगी करता है और दर्पण सामने रखकर देखता जाता है । यह शरीर अच्छा लगे तो मुझे सुख हो, ऐसा मानता है । कोई मुझे अच्छा कहकर सन्मान दे तो मुझे सुख हो । आ हा हा ! भगवान तू कहां भटक गया ? सुधारस का सागर तू स्वयं है । उसमें डुबकी लगाना छोड़कर यहां तू कहां ? यहां कहते हैं प्रभू ! एक बार तो तू गुलाट मार । इन सभी विकल्पों को छोड़कर स्वभाव दृष्टि कर तो तुझे अतीन्द्रिय आनन्द आवेगा । अहो ! वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकी नाथ की वाणी में आई बात है । मुनिराज कहते हैं यह किसी के घर की बात नहीं ।

**उपजे मोह विकल्प से, समस्त आ संसार  
अंतर्मुख अवलोकता, विलप थंता नहीं बार**

श्रीमद जी की यह अंतिम कड़ी है । मोह विकल्प से यह संसार खड़ा हुआ है । अंतरदृष्टि करते ही इस मोह का नाश हो जाता है । शुभ अशुभ भाव तेरे स्वभाव में नहीं, इसलिये स्वभाव दृष्टि करते ही उनका नाश हुये बिना रहता नहीं ।

आत्मा आनन्द का पिण्ड है । शुभाशुभ विकल्पों का नाश करके स्वभाव में लीनता होते ही इस पिण्ड में से आनन्द का नमूना तुझे मिलेगा । उससे तुझे मोक्ष के पूर्ण सुख का ख्याल आ जायेगा ।

यह तो योगसार है ना ! सार में सार बात इसमें भरी है । सुखी आत्मा ही पूर्ण सुख का कारण होता है । दुःखी आत्मा सुख का कारण नहीं होता । इसलिये बहुत परिषह सहन करने से निर्जरा होती है यह बात रहती ही नहीं । परिषह सहन किया उसमें तुझे दुःख और आकुलता हुई, उससे निर्जरा किस तरह होगी ? सुखी आत्मा ही पूर्ण सुख को साध सकता है । सुख स्वभावी आत्मा तो त्रिकाल है, परन्तु उसकी दृष्टि ज्ञान और रमणता करने से जो सुखदशा प्रगट होती है वह पूर्ण सुख को साधती है ।

छहड़ाला में आता है—“आत्महित हेतु विराग ज्ञान ते लखै आप को कष्ट दान” जो चारित्र को कष्ट दायक समझता है, लोहे के चने चबाने जैसा कठिन समझता है, उसे चारित्र के स्वरूप की खबर ही नहीं। भाई ! चारित्र तो आनन्द दाता है, उसे तू दुःख-दाता मानता है, तो तू चारित्र का स्वरूप समझा ही नहीं।

तेरी प्रभुता तो तेरे पास है न भाई ! उस प्रभुता में आनन्द की प्रभुता भी तेरे पास है। तुझे दुःखदशा से छूटकर सुखदशा प्रगट करना हो तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट कर।

आत्मिक सुख प्राप्त करने का एक ही उपाय है कि अपने सुख स्वभावी आत्मा में निर्विकल्प समाधि प्रगट करनी। प्रथम गाढ़ श्रद्धा करे कि “मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ” यह श्रद्धा ऐसी दृढ़ हो कि इन्द्र नरेन्द्र कोई भी आकर इसे बदल न सके।

मेरा आत्मा कभी मेरे महिमावंत स्वभाव से खाली नहीं। अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनन्त गुणों की अनन्तता से भरा हुआ महिमावंत पदार्थ मैं हूँ। ऐसा दृढ़ विश्वास आये बिना अन्तर में स्थिरता हो सकती नहीं। दृढ़ विश्वासी ही स्वरूप में स्थिर हो सकता है। जितना आत्मा में स्थिर हो उतना आनन्द प्रगट होगा।

स्वभाव की रुचि कब हो ? कि जब यह स्वभाव उसके ज्ञान में भासित हो। ज्ञानदशा में स्वभाव का भाव भासित हो तभी विश्वास आता है और तभी आत्मा में स्थिरता होने से मेरा कल्याण होगा ऐसा निर्णय होता है। वस्तु स्वरूप जैसा है वैसा भाव भासन बिना अर्थात् ज्ञान में भासे बिना कहां से अन्दर आयेगा ? इसलिए पहले भावभासन होना चाहिये।

ज्ञान स्वभाव अर्थात् सर्वज्ञ स्वभाव। सर्वज्ञ भगवान ने यह स्वभाव पर्याय में प्रगट कर लिया है और मेरी पर्याय में अभी प्रगट नहीं हुआ है परन्तु स्वभाव से तो मैं भी सर्वज्ञ स्वभावी हूँ। ऐसा अन्दर में भावभासन हो तब श्रद्धा होगी और तभी चारित्र प्रगट होगा। इसके बिना चारित्र भी सच्चा होता नहीं।

समकिति को स्वानुभव की कला आती है। एक बार जिसने भगवान आत्मा में जाने का रास्ता देख लिया वह बारंबार देखे हुये मार्ग में जाकर स्वभाव की रमणता करता है। मुनिराज अधिक समय स्वानुभव में रहते हैं, किन्तु श्रावक उतने अधिक काल आत्मानुभव में नहीं रह पाते। तथापि मुनिराज तथा श्रावक के स्वानुभव की जाति एक है। अतः श्रावक को भी सामायिक होता है।

जिसने आत्मा का वास्तविक आनन्द चखा है वह राग का स्वाद आकुलता रूप है ऐसा मिलान कर सकेगा । परन्तु जिसने आनन्द का स्वाद चखा ही नहीं ऐसा अज्ञानी राग आकुलता स्वरूप है ऐसा मिलान कर सकता ही नहीं । इसलिए वह आकुलता को अर्थात् राग को ही अपना स्वरूप मानता है ।

दिगम्बर सन्तों ने अति संक्षेप में बहुत कह दिया है । चारित्र द्वारा आत्मानन्द का अनुभव करके लिखा है ना । शाश्वत मार्ग को स्वयं अनुभव कर उसकी ही बात मुनिराज लिखते हैं । जिसको आत्मा के आनन्द का अनुभव हुआ नहीं वह मूर्च्छावान और मोही है ।

जैसे घर में पश्मिनी जैसी स्त्री हो तो भी मन उसमें नहीं लगता हो तो वह समझ जाती है कि इसका मन अन्यत्र कहीं लगा है । यहां मन लगता नहीं ऐसा पहचान लेती है । यहां कहते हैं कि आत्मा आनन्द की मूर्ति है, उसका जो ध्यान करता है, परन्तु आनन्द नहीं आता तो समझ लेना चाहिये कि उसका मन कहीं अन्य पदार्थों में लगा हुआ है । कहीं पुण्य-पाप के प्रेम में मूर्च्छित हो गया है । यदि नहीं मूर्च्छित हुआ हो तो ध्यान करने से आनन्द क्यों नहीं आयेगा ? आयेगा ही । जो आत्मा स्वात्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करता है, उसे वचन अगोचर ऐसा आत्मिक सुख आता ही है ।

आ हा हा ! अपने घर की चीज स्वयं ले तब ही प्राप्त होसकती है ऐसी है । अन्य कोई दे देवे ऐसा नहीं है ।

### आत्म ध्यान के चार प्रकार

जो पिंडत्थु बुह रुवत्थु वि जिण- उत्तु ।  
रुवातीत मुणेहि लहु जिम परु होहि पवित्तु ॥६८॥

पिण्डस्थ और पदस्थ अर रूपस्थ रूपातीत जो ।  
शुभध्यान जिनवर ने कहे जानो कि परमपवित्र हो ॥६८॥

अर्थ : हे पण्डित ! जिनेन्द्र द्वारा कहे गये जो पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत ध्यान हैं उनका मनन कर जिससे तू शीघ्र ही परम पवित्र हो जावे ।

हे पण्डित ! वीतराग भगवान ने ये चार प्रकार के ध्यान कहे हैं । (१) पिण्डस्थ अर्थात् शरीर में रहे हुये आत्मा का ध्यान करना । (२) पदस्थ अर्थात् पांच पद में हुये पंच-परमेष्ठी का विचार करके अन्दर का ध्यान करना । (३) रूपस्थ अर्थात् अरिहंत



परमात्मा का ध्यान करना । (४) रूपातीत अर्थात् रूप से रहित सिद्ध भगवान का विचार करके अन्दर में जाना । इन चार प्रकार के ध्यान द्वारा स्वरूप में एकाग्र होने वाला जीव अल्पकाल में ही सिद्ध हो जाता है । परमात्म पद प्राप्त करने की यह कला है।

तत्त्वानुशासन में कहा है कि जिस भाव से जिस प्रकार से आत्मज्ञानी आत्मा को ध्याता है, वह उसमें उस भाव से उस रूप से तन्मय हो जाता है आत्मा त्रिकाल पूर्णज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप है । ऐसे आत्मा का ध्यान करता है वह दशा में भी आनन्द मय हो जाता है ।

### सामायिक चारित्र कथन

सब्वे जीवा णाणमया जो सम-भाव मुणेई ।  
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेई ॥६६॥

'जीव हैं सब ज्ञानमय'—इस रूप जो समभाव हो ।  
है वही सामायिक कहें जिनदेव इसमें शक न हो ॥६६॥

अर्थ : सर्व ही जीव ज्ञान स्वरूपी हैं ऐसा जो कोई समभाव को मनन करता है, उसी के प्रगटपने सामायिक जानों, ऐसा श्री जिनेन्द्र कहते हैं ।

आचार्य महाराज कहते हैं—“सर्व जीव हैं ज्ञानमय” सर्वजीव ज्ञानमय हैं ऐसी श्रद्धा करते ही समभाव प्रगट होता है ।

स्वयं ज्ञानमय है ऐसा देखते ही वीतरागता प्रगट होती है । अन्य सभी जीव भी ज्ञानमय हैं ऐसा देखने से इष्टानिष्ट बुद्धि रहती ही नहीं । कर्मों के वश हुई अनेक पर्यायों से रहित देखने से इष्टानिष्ट बुद्धि का अभाव हो जाता है । ज्ञानावरणी के निमित्त से ज्ञान हीनाधिक होता है । दर्शनावरण के निमित्त से दर्शन का क्षयोपशम हीनाधिक होता है । मोहनीय के निमित्त से मिथ्याभ्रान्ति और रागादि होते हैं । अन्तराय के निमित्त से निज में स्वरूप की रचना करने रूप वीर्यादि की कमी होती है । आयु कर्म के निमित्त से हीन या अधिक आयु होती है । नाम कर्म के निमित्त से सुन्दर या असुन्दर शरीर होता है । गोत्र कर्म के निमित्त से ऊंच-नीच दशा होती है । वेदनीय के निमित्त से अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलते हैं परन्तु ये सभी पर्यायें हैं । ये मात्र जानने लायक हैं ।

कोई को यह सेठ है और यह गरीब है ऐसा यह देखना यह तो वेदनीय कर्म के निमित्त से मिले संयोगों की बात है। ऐसी संयोगाधीन दृष्टि न करके स्वभाव दृष्टि से सबको ज्ञानमय देखने वाले ज्ञानी को राग-द्वेष होते नहीं।

आ हा हा ! “सर्वजीव हैं ज्ञानमय” इसमें आचार्य ने बहुत भर दिया है। सभी जीव निश्चय से अनादि सत्, प्रभु तथा ज्ञानमय हैं। उनमें हीनाधिक-पने की बात भी नहीं, मैं भी ज्ञानमय हूँ चैतन्य बिम्ब स्वरूप हूँ। ऐसी दृष्टि होते ही उसे अन्दर के आश्रय से वीतरागता की ही उत्पत्ति होती है। उसे ही सामायिक और समभाव कहने में आता है।

समयसार ११वीं गाथा में श्री कुंदकुंदाचार्य ने कहा है कि भूतार्थ अर्थात् ज्ञानमय आत्मा का आश्रय ही सम्यग्दर्शन है और उसी के आश्रय से समभाव चारित्र प्रगट होता है। ज्ञानमय वस्तु अर्थात् वीतरागमय अर्थात् निर्विकल्प समरसीभाव, एकरूप स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं और शुक्लध्यान एवं केवलज्ञान भी उसी के आश्रय से होते हैं। श्री समयसार में भी शास्त्रों के बीज पड़े हैं।

व्यवहार और पर्याय दृष्टि से देखने की आंख बंद करके सत्स्वभावी वस्तु के कायमी/असली स्वभाव की दृष्टि से देख, तो स्वयं तथा अन्य समस्त जीव ज्ञानमय ही दिखाई देंगे।

श्री योगीन्द्र देव इस सामायिक अर्थात् समभाव की व्याख्या करते हैं और भगवान का आधार देते हैं कि जिनेन्द्र देव ने ऐसा कहा है।

ज्ञानी जीव अपने पुरुषार्थ से निज और पर जीवों को “ज्ञानमय” ही देखता है। कर्म के वश से अनेक विषम पर्यायों होने पर भी द्रव्य दृष्टि से सब आत्मार्यें ज्ञानमय भगवान हैं; ऐसे श्रद्धान से पर्याय में समभाव प्रगट होता है।

समभाव अर्थात् सामायिक में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं। ज्ञान के अलावा अन्य गुणों का अस्तित्व भी है, परन्तु वे स्वयं को या अन्य गुणों को जानते नहीं हैं इसलिये उन्हें निर्विकल्प कहा है। ज्ञान निज को तो जानता ही है परन्तु अन्य दूसरे गुणों को भी जानता है। इसलिये उसे सविकल्प कहा है और साकार भी कहा है। यह ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है।

ज्ञान को सविकल्प कहा इसका अर्थ स्व-पर को जाने वह सविकल्प ऐसा है । सविकल्प कहने से उसमें राग है ऐसा नहीं । स्व-पर को जानने की अपेक्षा से केवलज्ञान को भी सविकल्प कहा है ।

भगवान सर्वज्ञ हैं इसलिये सर्व को जानते हैं । पर द्रव्यों को जानना यह कहीं विकल्प नहीं है । यह तो ज्ञान की वीतरागी दशा है । सर्व को जानते हैं इसलिये व्यवहार हो गया या राग हो गया, ऐसा नहीं । आत्मज्ञानमय सर्वज्ञत्व शक्ति वाला है । आत्मज्ञानमय होकर पर को जानता है इसमें पर की अपेक्षा नहीं । इसलिये सबको जानने में राग, विकल्प या उपचार आता है ऐसी बात ही नहीं । स्व-पर को पूरा जानना-देखना ही ऐसी ही सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व शक्ति है ।

निश्चय से मैं ज्ञानमय हूँ और परजीव भी ज्ञानमय हैं ऐसा जानते ही समभाव प्रगट होता है । पर द्रव्य की या राग की अपेक्षा बिना, स्व के सामर्थ्य से जो यह ज्ञान होता है वह समभाव है । समभाव वही सच्ची सामायिक है ।

आठ कर्मों के वश होने से जीव की ज्ञानादि की जो हीनाधिक अवस्था होती है वह तो पर्याय दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) का विषय है । उसे यहां निश्चय दृष्टि (निश्चयनय) में गौण किया है । भेद, राग और अल्पज्ञता के व्यवहार का अभाव करके नहीं । अभेद, एकरूप ज्ञान आनन्दमय स्वभाव को मुख्य करके दृष्टि करने से पर्याय में समभाव प्रगट होता है ।

मेरा स्वभाव ज्ञानमय, आनन्दमय और स्वभावमय है ऐसा जानकर जो आत्मस्थ होता है उसे समभाव प्राप्त होता है । वह जीव आत्मानुभव में आजाता है । तब ही परम निर्जरा का कारणरूप सामायिक चारित्र का प्रकाश होता है ।

अनेकों ने अनेक सामायिक की होगी, परन्तु यह तो कोई अलग जाति की सामायिक की बात है । यह एक समय की सामायिक, भव के अभाव का फल देती है।

स्वभाव और स्वभाव की अभेदता जिसने दृष्टि में ली, ज्ञान में जानी और उसी में लीन हुआ उसे भव होते ही नहीं, कारण कि ज्ञानमय वस्तु में भव और भव के भाव ही नहीं ।

भाई ! ये तो आचार्यों के शब्द हैं, इनमें अतिगूढ़ गम्भीरता भरी है । एक-एक शब्द में अति गहरे भाव भरे हैं ।

आ हा हा ! द्रव्य में भव कैसे ? और जिस पर्याय ने द्रव्य-गुण का निर्णय किया उसमें भी भव कैसे ? भगवान आत्मा का स्वभाव ही भव के अभावस्वरूप है । इसलिये द्रव्य-गुण-पर्याय में भव नहीं । द्रव्य में भव का अभाव, गुण में भव का अभाव और उसके आश्रय से प्रगट हुई समभाव रूप पर्याय में भी भव का अभाव है । जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा ही भगवान ने कहा है ।

विकल्प रहित भाव में रहना वही सामायिक है, वही मुनिपद है और वही रत्नत्रय की एकता रूप मोक्षमार्ग है । उसमें कमजोरी के कारण बीच में रागादि के विकल्प होते हैं, न हों ऐसा नहीं, परन्तु वह जीव का त्रिकाली स्वरूप नहीं । पर सन्मुखता के कारण उत्पन्न होने वाले रागादि भाव पर्यायार्थिक नय का विषय हैं । मात्र जानने लायक है, आदरने लायक नहीं आदरणीय तो एक भव के अभाव स्वरूप निज ज्ञान स्वभाव है ।

अहो ! मुनिराजों की तो क्या बात करनी ? एक विकल्प आया शास्त्र रचने का, थोड़े में ही बहुत भर दिया । फिर भी कहते हैं कि वाणी और लिखने की क्रिया तो जड़ की है । लिखने का विकल्प उठा वह भी मेरा स्वभाव नहीं । वह तो पर्यायार्थिक नय का विषय है । निश्चय से तो मैं ज्ञानमय हूँ और सभी आत्मायें भी ज्ञानमय हैं । सभी की सत्ता भिन्न है । सिद्धों की भी प्रत्येक की सत्ता अलग-अलग है, क्योंकि मोक्ष होने पर वहां सत्ता का अभाव नहीं हो जाता । विकार का अभाव होता, इसलिये मोक्ष में ज्योति में ज्योति मिल जाती है ऐसी अन्यमतियों की बात झूठी है । एक क्षेत्र में रहने पर भी प्रत्येक सिद्ध की सत्ता न्यारी-न्यारी है । प्रत्येक का अस्तित्व गुण ही ऐसा है कि जिसके कारण प्रत्येक का अनादि-अनन्त स्वतंत्र अस्तित्व टिका रहता है । किसी में भी किसी का अस्तित्व मिल नहीं जाता ।

सामायिक आत्म स्वभाव की दृष्टि पूर्वक होती है । जो सब जीवों को ज्ञानमय देखता है उसे सामायिक होती है वह निजशुद्धात्मा स्वरूप के आश्रय से होती है ।

जो अपने राग और भेद को गौण करके स्वभाव से अपने को देखता है, वह अन्य को भी राग-द्वेष और भेद को गौण करके ज्ञानमय स्वभाव से देखता है, उसे समभाव प्रगट होता है और विषमदृष्टि छूट जाती है । यह परमात्मा है इसलिये उसके प्रति राग करना और यह जैनदर्शन का विरोधी है इसलिये उससे द्वेष करना, यह बात ही स्वभावदृष्टि में नहीं ।

श्री योगीन्द्र देव कृत अमृताशीति में कहा है कि—“ज्ञानी शुद्ध, पूर्ण, निर्विकल्प निरंजन, निर्मोह, निज आत्मसमाधि में सुखामृत लक्षणरूप गिरिगुफा में स्थिर होता है। निज आत्मा की दृष्टि करके स्थिर हो वह गिरिगुफा है। बाकी तो बाहर की गिरिगुफा में बैठे उससे क्या ?”

आचार्य देव की कितनी करुणा दृष्टि है कि शिष्य को “मित्र” संबोधन करते हैं। हे मित्र ! साम्यभाव की गिरिगुफा में बैठकर निर्दोषपद में, समाधि लगाकर निज परमात्मा का ध्यान कर, जिससे तू सच्चे सुख का अनुभव कर सकेगा।

*राग-द्वेष का त्याग सामायिक है*

**राय-रोस बे परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ ।  
सो सामइउ जाणि फुडु केवलि एम भणेई ॥१००॥**

जो राग एवं द्वेष के परिहार से समभाव हो ।

है वही सामायिक कहें जिनदेव इसमें शक न हो ॥१००॥

**अर्थ :** जो कोई राग-द्वेष का त्याग करके समभाव की भावना करता है, उसको प्रगटपने सामायिक जानो, ऐसा केवली भगवान ने कहा है ।

जो जीव राग-द्वेष का त्याग कर अर्थात् एक रूप शुद्धात्मा की दृष्टिपूर्वक विषमता को त्याग कर समताभाव को धारण करता है उसे प्रगटरूप से सामायिक है ऐसा जिनवर देव कहते हैं ।

अपना उद्धार करने का उपाय अपने में ही है, कहीं बाहर नहीं । परन्तु बाहर की चीज के माहात्म्य के सामने आत्मा कोई चीज ही नहीं ऐसा अज्ञानी को हो गया है । पर वस्तु, शुभभाव, या क्षयोपशम ज्ञान की महिमा की आड़ में अज्ञानी पूरे चैतन्य देव की महिमा को चूक जाता है । मिथ्यादृष्टि संयोगों में, विकार में, अल्पज्ञ आदि पर्यायों में ही अपना अस्तित्व स्वीकार लेता है । इसलिये उसकी असत दृष्टि में राग-द्वेष ही बसा हुआ है । स्वयं की पर्याय दृष्टि है तो दूसरे जीवों को भी पर्यायदृष्टि से देखकर राग-द्वेष किया करता है । मिथ्यादृष्टि का उल्लसित वीर्य पर में ही रुक गया है । वहां ही सुख मानता है । और जिसने भगवान आत्मा का अनुभव किया है वह छयानवे हजार रानियों के वृंद में भी सुख नहीं मानता है । यह उसकी दृष्टि की महिमा है । दृष्टि स्वभाव की ओर झुक गई है इसलिये उसे बाहर में कहीं सुख भासता ही नहीं ।

पर ज्ञेय में दो भाग करने वाला मिथ्यादृष्टि है। यह इष्ट और यह अनिष्ट ऐसी बुद्धि मिथ्यादृष्टि को ही होती है। ज्ञानी को ऐसी बुद्धि नहीं होती। अस्थिरता के कारण इष्ट अनिष्ट की वृत्ति उठती है परन्तु वह पर के कारण नहीं और स्वभाव के कारण भी नहीं। मात्र एक चारित्र के दोष के कारण कमजोरी है, इसलिये ऐसी वृत्ति उठती है, परन्तु वह ज्ञेयों के दो भाग नहीं करती।

धर्मी जीव की दृष्टि मिथ्यादृष्टि से भिन्न हो गई है। मिथ्यादृष्टि, पर-द्रव्य मुझे लाभ-हानि करते हैं ऐसा मानकर उनसे राग-द्वेष करता है, जबकि ज्ञानी ऐसा मानता है कि कोई पर-द्रव्य मुझे लाभ हानि कर सकता नहीं। ऐसी दृढ़ श्रद्धा और ज्ञान के कारण पर-द्रव्यों के प्रति राग-द्वेष बुद्धि होती ही नहीं।

अपने स्वभाव को ज्ञाता-दृष्टा रूप मानता-जानता हुआ धर्मी जीव अन्य जीवों के जीवन-मरण सुख-दुःख को कोई अन्य जीव करता है, ऐसा मानता नहीं। जगत के प्रत्येक कार्य निज-निज अन्तरंग उपादान के कारण होते हैं, ऐसा धर्मी मानता है।

जैसे सूर्य स्वयं के कारण उगता है और अपने ही कारण डूबता है। उसमें किसी को ऐसा विकल्प नहीं आता कि जल्दी उगे या जल्दी डूबे तो अच्छा। उसी प्रकार धर्मी जीव को जगत के प्रत्येक कार्य अपने-अपने कारण से होते हैं, उनमें मैं फेरफार करूं ऐसी बुद्धि नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ अपने क्रम में परिणमते हुये अपने कार्य को करते हैं, उनमें अनुकूल निमित्त जो होते हैं, वे होते ही हैं ऐसा जानने वाले ज्ञानी को पर के कार्य, मैंने किये, ऐसा अहंकार नहीं होता और अन्य मेरा कार्य कर दे ऐसी अपेक्षा नहीं रहती।

जगत का कौनसा द्रव्य निकम्मा है ? अर्थात् कौनसा द्रव्य कार्य बिना का है ? कोई भी द्रव्य कार्य-पर्याय बिना का नहीं। पर्याय अर्थात् द्रव्य का कार्य और द्रव्य उसका कारण। कार्य बिना का कारण नहीं होता और कारण बिना कार्य नहीं होता। ऐसा जानने वाले ज्ञानी को पर द्रव्यों के प्रति विषमता उत्पन्न नहीं होती, समभाव रहता है। गृहस्थाश्रम में ज्ञानी को श्रद्धा-ज्ञान में ऐसा समभाव वर्तता है तथा चारित्र की कमजोरी-वश अल्प राग-द्वेष होते हैं उन्हें ज्ञानी अपने स्वभाव में स्वीकारते नहीं।

श्री योगीन्द्र देव समयसार के बंध अधिकार के १७६ वें कलश का आधार देते हैं—सम्यग्ज्ञानी स्वयं अपने और सभी पर-द्रव्यों के स्वभाव को जैसा है वैसा जानता है। और उसकी पर्याय में होने वाले कार्य को भी व्यवहार रूप से जानता है। द्रव्य वह

निश्चय है और पर्याय वह व्यवहार है। द्रव्य बिना की पर्याय नहीं होती, निश्चय बिना का व्यवहार नहीं होता। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी, अपनी पर्याय में होने वाले राग को स्वभाव रूप से नहीं मानता।

मैं ज्ञान स्वभावी हूँ और पर्याय में विषम भाव होता है वह मेरा स्वभाव नहीं, ऐसा दोनों के बीच भेद-ज्ञान करना, वह समभाव है। इस अपेक्षा से ज्ञानी राग-द्वेष नहीं करता ऐसा कहा जाता है। चारित्र की कमजोरी से राग-द्वेष होता है, उसकी यहां गौणता है।

### छेदोपस्थापना चारित्र

**हिंसादिउ-परिहारु करि जो अप्पा हू हवेई ।  
सो वियऊ चारित्तु मुणि जो पंचम-गइ णेई ॥१०१॥**

**हिंसादि के परिहार से जो आत्म-स्थिरता बढ़े ।  
यह दूसरा चारित्र है जो मुक्ति का कारण कहा ॥१०२॥**

**अर्थ :** जो कोई हिंसा आदि पापों का त्याग करके आत्मा को स्थिर करता है सो दूसरे चारित्र का धारी है ऐसा जानों, यह चारित्र पंचमगति को ले जाता है।

जो कोई जीव हिंसा आदि पाप के परिणामों के अभाव स्वभाव स्वरूप आत्मा में स्थिरता करता है, उसे दूसरा चारित्र होता है जो कि पंचमगति का कारण है। विकार का छेद करके आत्मा को आत्मा में स्थापित करता है उसे छेदोपस्थापना नामका द्वितीय चारित्र होता है। वैसे तो सामायिक में बैठे हैं, बीच में कोई विकल्प आ जावे, दोष लगे उसका छेदन करके आत्मा में स्थिर हो, उसे छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। परन्तु यहां तो योगीन्द्रदेव ने आध्यात्मिक छेदोपस्थापना का स्वरूप कहा है।

मोक्ष का साक्षात् कारण तो स्वरूप लीनता रूप चारित्र है। इसलिये धर्म को ही चारित्र कहा है, परन्तु वह चारित्र दर्शन-ज्ञान बिना नहीं होता।

स्थिर-बिम्ब भगवान आत्मा में स्थिरता का अभ्यास पूर्ण होने के बाद हमेशा के लिये स्थिरता-ध्रुवदशा-पंचमगति प्रगट हो जाती है। पंचास्तिकाय में केवलज्ञान को भी एक नय से कूटस्थ कहा है। वैसे ही मोक्ष में एक समान धारा प्रवाह स्थिरता होने से उसे भी ध्रुव कहा है। स्थिरता (की पर्याय) पलटती है परन्तु एक जैसी वैसी की वैसी होती रहती है, इसलिये उसे ध्रुव कहा है।

### परिहार विशुद्धि चारित्र

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मदंसण-सुद्धि ।  
सो परिहार विसुद्धि मुणि लहु पावहि सिवसिद्ध ॥१०२॥

जो बढे दर्शनशुद्धि मिथ्यात्वादि के परिहार से ।  
परिहारशुद्धी चरित जानो सिद्धि के उपहार से ॥१०२॥

अर्थ : जो मिथ्यात्वादि का त्याग करके सम्यग्दर्शन को शुद्धि प्राप्त करना वह परिहार विशुद्धि संयम जानो जिससे शीघ्र मोक्ष की सिद्धि मिलती है ।

इसमें मुनिराज ने अध्यात्म से परिहार विशुद्धि की व्याख्या की है । जिसने मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि का परिहार करके सम्यग्दर्शन की शुद्धि प्रगट की है उसे परिहार विशुद्धि कहते हैं ।

अनादि से जो स्वभाव का अनादर करता था और पुण्य-पाप आदि का ही एकान्त रूप से आदर करता था उसे छोड़कर अब जो परमानन्द स्वरूप निज आत्म स्वभाव का आदर-सत्कार करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन की शुद्धि प्रगट करता है, उसे परिहार विशुद्धि कहते हैं ।

अष्ट पाहुड़ में सम्यग्दर्शन की महिमा समझाते हुए एक गाथा आती है । “समकित रूप परिणमित हुआ (आत्मा) आठ कर्मों का नाश करता है, पूर्ण स्वरूप की श्रद्धा होने पर और उसकी ओर झुकाव होने पर वैसा का वैसा परिणमन चलते चलते आठों कर्मों का नाश हो जाता है ।”

यहां कहते हैं कि भगवान परमानंद स्वरूप में—अनन्त गुणों के गोदाम में छलांग लगाकर जब स्वरूप का आदर प्रगट करता है तब अन्य सभी भावों का परिहार हो जाता है । मिथ्यात्व के परिहार के उपरान्त राग-द्वेष का भी परिहार हुआ अर्थात् त्याग हुआ, अभाव हुआ और स्वरूप की प्रतीति ज्ञान और स्थिरता प्रगट हुई उसे यहां “परिहारविशुद्धि” नाम का चारित्र कहा है । यहां भी सम्यग्दर्शन पर अधिक जोर दिया है क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना धर्म में एक कदम भी आगे नहीं चल सकते ।

जिसे दृष्टि में निज परमात्म स्वरूप का स्वीकार हुआ, उसे वास्तव में श्रद्धा-ज्ञान में परमात्मा का साक्षात्कार होता है ।



दिगम्बर सन्तों ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न विधि से आत्मा के गीत गाये हैं। यहां अध्यात्म की अपेक्षा 'परिहारविशुद्धि' का शब्दार्थ किया है। वास्तव में तो परिहार-विशुद्धि संयम मुनिराज को ही होता है। परन्तु यहां सम्यग्दर्शन की शुद्धि और मिथ्यात्व का परिहार को 'परिहारविशुद्धि' कहा है।

सम्यग्ज्ञानी को परिहारविशुद्धि इस प्रकार है कि स्वभाव के आदर में बाहर के पदार्थों की यथार्थ स्थिति के ज्ञान के कारण उसे किसी भी पदार्थ में विस्मयता या खेद नहीं होता। इसलिये वह छहों द्रव्यों के गुण और पर्याय के स्वरूप को केवलज्ञानी के समान शंका रहित यथार्थ जानता है। ज्ञानी को श्रुतज्ञान है इसलिये परोक्षज्ञान है, परन्तु वह परोक्ष-पने भी, केवलज्ञानी जितना और जैसा जानता है, उतना और वैसा ही जानता है। परन्तु कहीं विस्मयता नहीं लगती है।

आ हा हा हा ! आत्मा के ज्ञान गुण की एक पर्याय की इतनी सामर्थ्य है कि एक समय में सर्व द्रव्यों को उनके अनन्त गुण-पर्यायों सहित जान लेता है। श्रद्धा गुण की एक पर्याय ऐसी है कि वह श्रद्धा सबकी कर लेती है। ऐसी तो एक पर्याय की ताकत है तो आत्मा की कितनी ताकत ? ऐसे आत्मा को जानता है उसने ही परमार्थ से आत्मा जाना कहलाता है। ज्ञानी ऐसा आत्मा को केवलज्ञानी के सामन निशंक जानता है।

ऐसे दृढ़ज्ञान और वैराग्यधारी सम्यग्दृष्टि यद्यपि पूर्वकर्म के उदय से गृहस्थाश्रम के सभी कार्य करता हुआ दिखने पर भी वह इन कार्यों को आसक्ति भाव से नहीं करता। राग को रोग जानता है, मेरे पुरुषार्थ की गति मंद है, इसलिये राग होता है ऐसा जानता है। यह राग मेरे स्वभाव की जाति का नहीं; इसी प्रकार कर्म भी मुझे राग कराता नहीं।

ज्ञानी जानता है कि यह मुझे सत् की स्थापना करने का, नय द्वारा गौण करने का विकल्प उठता है यह भी राग है, प्रशस्त कषाय का अंश है। वीतराग अमृतरस में यह (कषाय) अंश मुझे सुहाता नहीं। आंख में कदाचित कण समा भी जाय, परन्तु मेरे वीतराग रस में राग का अंश पुसाता नहीं-समाता नहीं।

सम्यग्दर्शन की शुद्धि ही मोक्ष के उपाय का मूल है। सम्यग्दर्शन में समस्वभावी आत्मा की सम्यक् प्रतीति का इतना जोर है कि वही वीतराग यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान और मोक्ष का कारण बनता है।

गगन मंडल में गौआ वियाणी, वसुधा दूध जमाया ।  
माखण था सो विरला पाया, छाछ जगत भरमाया ॥

कहते हैं मक्खन तो विरला ज्ञानी पाता है और सारा जगत में छाछ भरमाया है। इस स्तुति ऊपर से सेठियाजी ने एक लाइन लिखी है कि :

आत्म गगन में ज्ञान की गंगा, जामें अमृत वासा ।  
सम्यग्दृष्टि भर भर पीवे, मिथ्यादृष्टि जावे प्यासा ॥

ऐसे स्वरूप में लीन ज्ञानी को कभी पर पदार्थ में इष्ट अनिष्ट पने का राग आ जाता है, उसका परिहार करके वह पुनः स्वरूप में लीन होता है। उसका नाम परिहार विशुद्धि है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार में कहा है—“जहां प्राणियों के घात का विशेष रूप से त्याग हो और चारित्र की विशुद्धि हो, उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं।”

*यथाख्यात चारित्र*

सुहुमहँ लोहहँ जो विलउ सो सुहुमु वि परिणामु ।  
सो सुहुमु वि चारित्त मुणि सो सासय-सुह धामु ॥१०३॥

लोभ सूक्ष्म जब गले तब सूक्ष्म सुध-उपयोग से ।  
है सूक्ष्मसाम्पराय जिसमें सदा सुख का भोग हो ॥१०३॥

अर्थ : सूक्ष्म लोभ का क्षय होकर जो कोई सूक्ष्म वीतराग भाव होता है उसे सूक्ष्म या यथाख्यात चारित्र जानो, वही अविनाशी सुख का स्थान है।

यथाख्यात चारित्र अर्थात् पूर्ण चारित्र, उत्कृष्ट चारित्र। यथाख्यात अर्थात् जैसा अन्तर स्वभाव में अकषाय-अविकारी, वीतराग समभाव स्वरूप चारित्र है वैसा ही पर्याय में यथार्थ प्रसिद्ध होना, उसे यथाख्यात नाम का वीतराग चारित्र कहते हैं और यह चारित्र ही अविनाशी सुख का स्थान है।

दसवें गुणस्थान में जो सूक्ष्मलोभ है उसका भी नाश होकर जो वीतरागी परिणाम उत्पन्न होता है, उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं। यही यथाख्यात चारित्र मोक्ष का साक्षात् कारण है।

चारित्र की शुरुआत हुए बाद समय-समय शुद्धि की वृद्धि होती जाती है; उसीको सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात-चारित्र आदि नामों से कहा जाता है।

ये तो सभी आत्मा राम में रमने की बाते हैं। निजपद रमे सो “राम” कहिये। कर्म कसे सो कृष्ण कहिये। यहां कहते हैं—भगवान आत्मा अपने आत्म बाग में रमे, उसे यथाख्यात चारित्र होता है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व की तीनों प्रकृतियां और अनन्तानुबंधी कषाय की चारों प्रकृतियों का नाश होकर स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हो जाता है। इस चारित्र की पूर्णता तो यथाख्यात चारित्र से होती है। परन्तु चौथे गुणस्थान में उसकी कणिका न जागे तो वह आगे बढ़ ही नहीं सकता।

अरे ! यह तो तत्व निर्णय का विषय है। उसमें समभाव से, शांति से वीतरागी चर्चा करके निर्णय करना चाहिये। उसमें एक दूसरों को असत्य सिद्ध करने की भावना नहीं होनी चाहिये। किसी की भूल हो तो उसे समझा कर कहना चाहिये। उससे द्वेष करके उसे विरोधी कहना-मानना सज्जनता नहीं है। यह तो वीतराग मार्ग है भाई ! उसमें तो शांति से, न्याय से जैसा है वैसा निर्णय करना चाहिये और जो सत्य निकले उसे स्वीकारना चाहिये। इसमें कोई पक्ष की बात नहीं।

चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र होता है, यह बात तो टोडरमलजी, गोपालदासजी बरैया, राजमलजी, वगैरह सभी के शास्त्रों में आती है। तथा कदाचित् सीधे शब्दों में न निकले तो भी न्याय से तो समझना चाहिये न भाई ! “सर्व गुणांश ते सम्यक्त्व” कहने पर उसमें चारित्र का अंश भी आ ही जाता है।

मिथ्यादृष्टि को अपने ज्ञायक स्वरूप का भान नहीं था, इसलिये शरीरादि और राग-द्वेषादि भावों में अपनेपन की श्रद्धा-ज्ञान और लीनता थी। जहां श्रद्धा ने गुलांट खाई, निज परमात्मा का अवलोकन हुआ तो वह अपने में थर हुये बिना कैसे रहेगा ? वह तो स्थिर होता ही है इसी का नाम भगवान स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। अनन्तानुबंधी का नाश हुआ तो कुछ चारित्र होगा या नहीं ? भले वह देश चारित्र या सकलचारित्र नहीं है, परन्तु स्वरूपाचरण चारित्र है। स्वभाव के स्वाद बिना श्रद्धा कहां से होगी ? यह स्वभाव का स्वाद, वही स्वरूपाचारण चारित्र है। इससे आगे बढ़कर पूर्ण चारित्र हो उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं। तथा तेरहवें गुणस्थान में चारित्र के साथ अनंत आनन्द प्रगट होता है, तब परमयथाख्यात चारित्र कहलाता है। यह चारित्र ही साक्षात् मोक्ष का कारण है।

आत्मा ही पंच परमेष्ठी है

अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि ।  
सो उवझायउ सो जि मुणि णिच्छइँ अप्पा जाणि ॥१०४॥

अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठी पण ।  
सब आत्मा ही हैं श्री जिनदेव का निश्चय कथन ॥१०४॥

अर्थ : निश्चय नय से आत्मा ही अरहंत है ऐसा जानो, वही आत्मा प्रगटपने सिद्ध है उसी को आचार्य जानो वही उपाध्याय है वही आत्मा ही साधु है ।

निश्चयदृष्टि अर्थात् यथार्थ दृष्टि से देखो तो आत्मा ही अरहंत है ऐसा जानो । अरहंत, सिद्ध, आचार्य आदि पर्यायें आत्मा के ध्रुवपद में-अन्दर शक्ति रूप हैं ।

आत्मा की वर्तमान दशा में अल्पज्ञान, अल्पदर्शन और राग-द्वेष की विपरीतता है, यह तो क्षणिक अवस्था है, परन्तु अन्तर में तो अर्हत जैसा अनन्त चतुष्टय त्रिकाल है ।

प्रवचन-सार की ८० वीं गाथा में आता है कि अर्हत को द्रव्य अर्थात् शक्तिवान, उसके गुण अर्थात् शक्ति और पर्याय अर्थात् वर्तमान अवस्था को जो जानता है, वह अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है । मेरे स्वभाव में अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख आदि हैं, वे प्रगट होंगे । जो है वही प्रगट होता है । न हो तो कहाँ से आयेगा ? आ हा हा ! राग रहित निर्विकल्प श्रद्धा द्वारा ही मैं अरहंत जैसा ही हूँ, ऐसी प्रतीति हो सकती है ।

भगवान आत्मा अर्थात् कारण परमात्मा में अरहंत पद का कारण पड़ा है, वह प्रगट होता है । प्यास लगी हो और पानी हो तो प्यास बुझे । पानी न हो तो तृषा कहाँ से बुझे ? ऐसे ही अन्दर अरहंत पद न हो तो कहाँ से प्रगट होगा ?

योगसार के इस दोहे में जो बात आई है, यही मोक्षपाहुड की गाथा १०४ म भी है ।

ऐसे तत्व का भरोसा भी किसे हो ? भाई ! तेरी दशा में भले अल्पज्ञान-दर्शन-वीर्य आदि हों, परन्तु स्वभाव में तो तू सर्वज्ञ, सर्वदर्शित्व, अनन्तवीर्य का धाम है । पर्याय में राग-द्वेष की विपरीतता होने पर भी आत्मा आनन्द का कंद है । भाई ! तू छोटा नहीं, तू महान है । तू स्वयं अरहंत स्वरूप से बिराजमान है, विश्वास कर ।

आत्म दरबार में अनन्त....अनन्त गुण सदा ही शक्तिरूप से बिराजमान हैं। उन एक-एक गुण की अनन्त पर्यायें हैं, परन्तु उस गुण की शक्ति भी अनन्त है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। कहीं कल्पना से बढ़ाकर तुझे नहीं कह रहे। वस्तु जैसी है वैसी ही तुझे समझाते हैं।

मुनिराज कहते हैं कि सिद्ध का ध्यान कर। अर्थात् तेरे सिद्ध स्वरूप का ध्यान कर। उसमें एकाग्रता कर, अर्थात् सम्यक श्रद्धा-ज्ञान-चरित्र प्रगट कर।

तू आचार्य का ध्यान कर। अन्दर में पंचाचार का पालन करना वह आचार्यपना है। बाहर में शिष्यों को शिक्षा-दीक्षा देने का भाव आवे, वह आचार्यपना नहीं, वह तो राग है। आचार्य अर्थात् वीतराग पर्याय से परिणत पद है। ऐसी पर्यायें तेरे में भी अन्दर हैं। इसलिये तू आचार्य का सच्चा स्वरूप पहचान कर उसमें लीन हो जा जिससे तू स्वयं आचार्य बन जावेगा। उपाध्याय स्वरूप भी तू ही है। भाई ! वीतरागी द्रव्य, वीतरागी गुण और गुणस्थानप्रमाण में प्रगट जितनी वीतरागी पर्याय सहित का द्रव्य वह उपाध्याय है। ऐसे उपाध्याय स्वरूप आत्मा का ध्यान करना।

जो पूर्ण स्वभाव को साधता है वह साधु है। २८ मूलगुणों के पालन करने का भाव राग है। परन्तु वह राग स्वभाव को नहीं साधता। स्वभाव को साधे ऐसी वीतरागी पर्याय प्रगट कर।

केवली किसका ध्यान करते हैं ? केवली को मोह नहीं, और पदार्थों का पूरा ज्ञान है तो ध्यान किसका करें ? भाई ! वे तो अतीन्द्रिय आनन्द को अनुभवते हैं ना ! यही उनका ध्यान कहो या अनुभव कहो एक ही है। प्रवचनसार की अंतिम गाथाओं में भी यही बात आई है।

यह सभी सत् वस्तु की बात है कल्पना नहीं। षट्खंडागम में पहले यही बात लिखी है “सतपद प्ररूपणा” जो है-सत् पदार्थ हैं, उसका वाणी में कथन करते हैं।

भगवान आत्मा अकषाय/वीतरागरस से भरपूर है। इसलिये उसकी प्राप्ति भी वीतराग दशा द्वारा ही होती है। राग से वीतराग स्वभाव प्राप्त नहीं होता। आत्मा पंचपरमेष्ठी स्वरूप है। इसलिये आत्मा का ध्यान करने से उसमें पाँचों परमेष्ठी का ध्यान हो जाता है।

अरहंत का लक्ष्य करने से समवशरण और वाणी आदि को गौण करके वीतराग पर्याय रूप परिणमित अरहंत का द्रव्य लक्ष में लेना चाहिये । सिद्ध तो परिपूर्ण जैसा द्रव्य है वैसी ही शुद्ध पर्याय रूप परिणमित हुये हैं, उनका लक्ष करना चाहिये । आचार्य का लक्ष करते समय उनके विकल्प, वाणी और राग से रंजित परिणाम को लक्ष में न लेकर, उनका आत्मा जो वीतराग पर्याय से परिणत है उसे लक्ष लेना में चाहिये । इसी प्रकार उपाध्याय और साधु की बाह्य क्रिया को लक्ष में न लेकर मात्र उनका जो वीतरागी पर्याय से परिणमित आत्मा है, उसे ही लक्ष में लेना चाहिये ।

समयसार कलश में कहा है कि आत्मा का स्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र मय एकरूप है । वही एक निर्विकल्प मोक्षमार्ग है । मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है, परन्तु निश्चय मोक्षमार्ग एक ही है । इसलिये मोक्ष के अर्थी हैं उचित है कि इस एक स्वानुभवरूप मोक्षमार्ग का सेवन करे ।

अज्ञानी को जब तक यथार्थ दृष्टि से भगवान आत्मा लक्ष में न आवे तब तक रमणता किसमें करनी उसकी खबर ही नहीं पड़ती । सम्यग्दृष्टि की जो यथार्थ दृष्टि है उसके द्वारा ही भगवान आत्मा की श्रद्धा होती है, तब रमणता कहाँ करनी उसका भान होता है । अमृतचन्द्राचार्य प्रवचनसार में कहते हैं कि प्रमाद रूपी चोर मेरी सम्पदा लूट न ले जावे इसलिये मैं सावधान रहता हूँ । प्रमाद छोड़कर कमरकस कर बैठा हूँ।

भाई ! वीतरागदेव त्रिलोकीनाथ की वाणी में यह तत्व आया है । केवली द्वारा प्ररूपित धर्म ही मंगल, उत्तम और शरण है । यह सभी शरण तेरे आत्मा में पड़ा है । भाई ! भगवान को याद करना वह तो राग है । परन्तु रागरहित निजस्वरूप शरण लेगा तब सच्चा अरहंत, और सिद्ध का शरण लिया कहलायेगा ।

*आत्मा ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश है*

**सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद वि सो बुद्धु ।  
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु ॥१०५॥**

**वह आतमा ही विष्णु है जिन रुद्र शिव शंकर वही ।  
बुद्ध ब्रह्मा सिद्ध ईश्वर है वही भगवन्त भी ॥१०५॥**

**अर्थ :** वही शिव है, वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, ईश्वर है, वही ब्रह्मा है, वही अनन्त है, वही सिद्ध है ।

आत्मा....आत्मा....की बातें तो बहुत करते हैं। परन्तु यहाँ जो कहा जा रहा है....“आत्मा” एक असंख्यात प्रदेशी वस्तु है। जिसमें आकाश के अनन्तानन्त प्रदेशों से भी अनंत गुणे गुण हैं और उतनी ही उसकी पर्यायें हैं—ऐसा आत्मा वेदांत आदि किसी भी मत में नहीं कहा। अज्ञानियों ने तो अपूर्ण को पूर्ण माना है। यहाँ तो पूर्ण वस्तु जैसी है वैसी ही कही जा रही है। ऐसा जो आत्मा है, वह जब अरहंत रूप परिणमता है, उसे ही यहाँ, ब्रह्मा-विष्णु और महेश कहा है।

आगे की गाथा में जिस आत्मा को ध्याने योग्य कहा वह आत्मा ही ब्रह्मा, शिव, शंकर, विष्णु, रुद्र, बुद्ध, ईश्वर, जिन और अनन्त है। इसके अलावा अन्य कोई ब्रह्मा आदि नहीं। अरे भाई ! यह तो वस्तु की स्थिति है। भगवान ने देखा कुछ और कहा कुछ हो ऐसा नहीं। छह प्रकार के द्रव्य जैसे देखे वैसे ही भगवान ने कहे हैं।

आत्मा ही शिव है, क्योंकि आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और ध्यान करने से कल्याण होता है। भगवान आत्मा आनन्द देने वाला है, इसलिये आत्मा ही शंकर है। आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण, इसलिये आत्मा लोकालोक प्रमाण है अर्थात् क्षेत्र की अपेक्षा नहीं, केवलज्ञान की अपेक्षा से आत्मा लोकालोक व्यापक है, इसलिये आत्मा ही विष्णु है।

आत्मा ही रुद्र है क्योंकि रुद्र अन्य का नाश करता है, वैसे ही आत्मा आठ कर्मों का नाश करता है। आत्मा ही बुद्ध है क्योंकि एक समय में पूर्णानन्द का नाथ आत्मा पूर्ण ज्ञान रूप परिणमता है और ऐसी अनन्त शक्तियाँ आत्मा में विद्यमान हैं इसलिये आत्मा को ही बुद्ध कहा जाता है। ऐसे आत्मा को जो मानता नहीं और क्षणिक पर्याय को ही आत्मा मानता है, उसकी मान्यता सर्वथा विपरीत है, अज्ञान भाव है, संसार भाव है।

जो परम कृतकृत्य सर्व प्रकार की इच्छा से रहित और अविनाशी शक्ति के धारक हैं वे परमात्मा ही सच्चे ब्रह्मा हैं। वे अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप में लीन हैं और निज स्वरूप के कर्ता हैं इसलिये ब्रह्मा है। जगत का कर्ता कोई ब्रह्मा है नहीं।

साराश यह है कि आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा लक्ष में लेकर ध्यान करना उसका नाम सच्चा ध्यान है और वही सँवर-निर्जरा का कारण है।

जैसे निर्मल क्षीरसमुद्र में निर्मल ही तरंग उठती है वैसे ही शुद्धात्मा का सर्व प्रवर्तन शुद्ध ही होता है। भगवान् आत्मा शुद्ध गुण स्वरूप है तो उसका परिणमन भी शुद्ध ही होता है। जैसे गुण हैं वैसी ही पूर्ण निर्मल पर्यायें प्रगट हों तब उसे बुद्ध, जिन, ईश्वर आदि नाम दिये जाते हैं।

*परमात्म देव अपने देह में भी है*

**एक हि लक्खण-लक्खियु जो परु णिक्क लु देउ ।  
देहहँ मज्झहिं सो वसइ तासु ण विज्जइ भेउ ॥१०६॥**

इन लक्षणों से विशद लक्षित देव जो निर्देह है ।  
कोई अन्तर है नहीं जो देह-देवल में रहे ॥१०६॥

**अर्थ :** इस प्रकार ऊपर कहे लक्षणों से लक्षित जो परमात्मा निरंजन देव है तथा जो अपने शरीर में बसने वाला आत्मा है उन दोनों में कोई भेद नहीं है ।

पिछली गाथा में जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शंकर आदि लक्षणों से परमात्मा का स्वरूप कहा उनके समान ही आत्म देव इस देह में बसता है। परमात्मा और देह दे-वालय में बिराजमान आत्मदेव में वास्तविक कोई अन्तर नहीं ।

परमात्मा का जैसा स्वरूप कहा है वैसा ही स्वरूप प्रत्येक आत्मा का है। पर्याय अपेक्षा से भले परमात्मा और तेरे में अन्तर हो, परन्तु वस्तुदृष्टि से तेरे देह स्थित आत्म-देव और निरंजन परमात्मा में कोई अन्तर नहीं ।

एक वीतरागी भगवान् के सिवाय अन्य कौन ऐसा कहे ? “मेरे ओर का लक्ष छोड़ और तू तेरा लक्ष कर, तो तू परमात्मा होगा।” तू हमारा लक्ष करेगा तो राग होगा, तू अपना लक्ष कर। हमारी भक्ति से तुम्हारा कल्याण नहीं होगा, तू अपना आश्रय कर तो तेरा कल्याण होगा ।

आत्मा में कर्म के निमित्त से विविधता-विचित्रता पर्याय में है। तथापि उस को गौण करके चैतन्य बिम्ब आत्मा ही परमात्मा है ऐसी साधक जीव को निश्चयदृष्टि करनी चाहिये ।

व्यवहार नय से जीव की पर्याय, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जो अनेक प्रकार के भेद हैं उनका ज्ञान करना। ये भेद पर्याय में भी नहीं, ऐसा नहीं है। परन्तु द्रव्यस्वभाव में कोई भी भेद नहीं। द्रव्य स्वभाव से आत्मा परमात्मा ही है ऐसा निश्चय करना ।



व्यवहार के सभी भेदों का अभाव करके नहीं, परन्तु उन्हें गौण करके जैसे साधक जीव अपने स्वभाव को शुद्ध देखता है वैसे ही प्रत्येक जीवों को शुद्ध, परिपूर्ण, परमात्मा रूप देखना चाहिये। कारण कि, समभाव ही मोक्ष का उपाय है। वस्तु एक ज्ञानघन शुद्ध ही है, ऐसा अन्दर में देखना, जानना और अनुभवना वह मोक्ष का उपाय है।

जो जीव ज्ञाता-दृष्टा, शुद्ध आनंदकंद की दृष्टि छोड़कर वर्तमान अल्पज्ञ परिणाम और पुण्य-पाप परिणामों में आत्म-बुद्धि करता है, वह स्वरूप से भ्रष्ट होता है और मिथ्यात्व, कषायादि को ग्रहण करता है।

“मैं असंख्यात प्रदेशी हूँ” ऐसा लक्ष करना यह भी भेद है, विकल्प है। इसलिये ही पंचास्तिकाय में कहा है कि मैं असंख्यात प्रदेशी एकरूप वस्तु हूँ। असंख्यात प्रदेश होने पर भी वस्तु अभेद है। परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं कि आत्मा व्यवहार से असंख्यात प्रदेशी कहा गया है। असंख्यात प्रदेशी तो निश्चय से है, परन्तु उसका भेद से विचार करना व्यवहार है। सैंतालीस शक्तियों में एक “नियत प्रदेशत्व” शक्ति है अर्थात् असंख्यात प्रदेश नियत हैं। परन्तु अभेद दृष्टि में भेद दिखता नहीं। अभेद में भेद नहीं, ऐसा नहीं, परन्तु अभेद दृष्टि में भेद का लक्ष करे तो विकल्प उठते हैं और राग होता है तो अभेददृष्टि ही रहती नहीं।

एक-एक बात का स्पष्टीकरण करके आचार्य देव ने सत् वस्तु को बहुत स्पष्ट किया है। असंख्यात प्रदेशों में आत्मा के अनन्त गुण व्यापक हैं, तथापि एक प्रदेश में दूसरे का अभाव है। व्यवहार को भूल जाना नहीं, परन्तु गौण करके स्वभाव की दृष्टि करना है। व्यवहार का अभाव करेगा तो वस्तु ही नहीं रहेगी। वीतराग शासन ऐसा है भाई !

*आत्मा का दर्शन ही सिद्ध होने का उपाय है*

**जो सिद्धा जे सिज्झिहिहिं जे सिज्झ हि जिण-उत्तु ।  
अप्पा-दंसवि ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु ॥१०७॥**

जो होयंगे या हो रहे या सिद्ध अब तक जो हुए ।

यह बात है निर्भान्त वे सब आत्मदर्शन से हुए ॥१०७॥

**अर्थ :** श्री जिनेन्द्र ने कहा है जो सिद्ध हो चुके हैं, जो सिद्ध होंगे, जो सिद्ध हो रहे हैं वे सब प्रगटपने आत्मा के दर्शन से हैं इस बात को सन्देह रहित जानो ।

जो कोई सिद्ध हो गये, भविष्य में होंगे और वर्तमान में महाविदेह से सिद्ध हो रहे हैं वे सब आत्म-दर्शन से ही मुक्त हुये हैं और इसी से मुक्त होंगे। मुनिराज ने तीन काल की बात ले ली है। तीनोंकाल में एक ही मार्ग है, यह बात इसमें आ गई है। “एक होय त्रण काल मा परमार्थ नो पंथ” इस बात को संदेह रहित तू मान।

प्रत्येक आत्मा मोक्ष स्वभावी हैं और उसका श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवन वह मोक्षमार्ग है। और मोक्षमार्ग वह उसी स्वभाव कहा भी है—

**अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।**

**अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्ष स्वरूप ॥**

वस्तु त्रिकाल मुक्त स्वरूप ही है, उसे बंध कैसा और आवरण कैसा ? ऐसे मुक्तस्वरूप का शरण लेने पर जो अनुभव होता है वह मोक्षमार्ग है।

आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधक है। उपादान कारण कार्यरूप हो जाता है। अर्थात् शुद्ध उपादान स्वभाव स्वयं ही परिणम कर पूर्णानन्द की प्राप्ति रूपी कार्य को पाता है। वज्रवृषभ नाराच संहनन और मनुष्यपना नहीं केवलज्ञान के कार्य रूप परिणमते नहीं। आत्मा स्वयं ही अन्तर में एकाकार होकर पूर्ण कार्यरूप परिणम जाता है।

पंचास्तिकाय में सुवर्ण का दृष्टान्त दिया है कि सुवर्ण को शुद्ध होने में अग्नि तो निमित्त है, परन्तु सुवर्ण स्वयं ही शुद्ध होते-होते सो टंची सुवर्ण हो जाता है। मोक्ष के लिये आत्मा की श्रद्धा ज्ञान और अनुभव ही मोक्षमार्ग है। उपादान स्वयं ही कार्य रूप परिणमता है। साथ में निमित्त-व्यवहार होता है, उसका नकार नहीं; परन्तु निमित्त का लक्ष और आश्रय छोड़ेगा तब ही मोक्षमार्ग होगा।

आत्मा का दर्शन अथवा आत्मा का अनुभव ही मोक्ष की सीधी सड़क है। जैसे सीमंधर भगवान कहाँ बिराजते हैं ? इस (पूर्व दिशा में) सीधे भगवान बिराजते हैं। सिद्धपने की पर्याय की सीधी सड़क रत्नत्रय है। मोक्षमहल के पूर्ण कार्य तक कारण चला जाता है। साक्षात् परमात्मा की भक्ति भी मोक्षमहल में पहुँचाती नहीं।

**प्रश्न :** तो फिर भगवान की भक्ति करे कौन ?

**उत्तर :** जब तक पूर्ण वीतराग नहीं होता तब तक पूर्णानन्द के आश्रय से शुद्ध परिणति होने पर भी अशुभ से बचने के लिये भक्ति आदि शुभभाव आये बिना नहीं रहते, ऐसी ही वस्तु स्थिति है।

द्रव्य अनन्त गुणों का पिंड है। उन गुणों का परिणमन वह पर्याय है। द्रव्यदृष्टि से देखो तो द्रव्य परमपारिणामिक त्रिकाल ध्रुव है, कूटस्थ है। और पर्याय दृष्टि से देखें तो उत्पाद व्यय वह ध्रुव का परिणमन है। द्रव्य से द्रव्य परिणमता नहीं, इस कारण ही उसे सदृश कहा है अर्थात् जैसा है वैसा ही त्रिकाल रहता है। परिणमे वह तो पर्याय है। द्रव्य तो अपरिणामी है, अनित्य पर्याय द्वारा ध्रुव का लक्ष किया जाता है।

निश्चय से द्रव्य का स्वरूप ही परमपारिणामिक अर्थात् ध्रुव है। उत्पाद-व्यय है वह सब व्यवहार का विषय है। पारिणामिक स्वभाव है वह तो त्रिकाल एक रूप है और उसमें कुछ हीनाधिक या विशेष नहीं, भेद नहीं और परिणमन भी नहीं। परन्तु उसका लक्ष पर्याय से होता है। लक्ष करने वाली पर्याय है और लक्ष द्रव्य का है। इस प्रकार सदृश वस्तु वह निश्चयनय का विषय और विसदृश ऐसे उत्पाद-व्यय वे व्यवहार नय का विषय हैं और दोनों साथ में हों वह प्रमाण का विषय है।

द्वितीया के चन्द्रमा के समान चौथे गुणस्थान में आंशिक अनुभव होता है। वह बढ़ता-बढ़ता पूर्ण चन्द्रमा के समान पूर्ण अनुभव को प्राप्त होता है। ऐसा मोक्षमार्ग साधक को वर्तमान में आनन्ददायक है और भविष्य में अनन्त सुख का कारण है।

*ग्रन्थकर्ता की अन्तिम भावना*

**संसारह भय-भीयण जोगिचन्द्र-मुणिएण ।**

**अप्पा-संवोहण कया दोहा इक्क-मणेण ॥१०८॥**

**भवदुखों से भयभीत योगीचन्द्र मुनिवरदेव ने ।**

**ये एकमन से रचे दोहे स्वयं को संबोधने ॥१०८॥**

**अर्थ :** संसार के भ्रमण से भयभीत योगिचन्द्राचार्य मुनि ने आत्मा को समझाने के लिए एकाग्र चित्त से इन दोहों की रचना की है।

आचार्यदेव ने ग्रन्थारम्भ में कहा था कि मेरे आत्मसंबोधन के लिये यह रचना की है। हे आत्मन् ! तू परमानन्द की मूर्ति है, उसी में स्थिर हो। दृष्टि और ज्ञान तो हुआ है परन्तु अब उसी में पूर्ण रूप से स्थिर हो ऐसे संबोधन के लिये यह शास्त्र रचा है।

जिसे चार गति रूप संसार का भय लगा हो, उसके लिये यह रचना है।

आत्मा के आनन्द से बाहर निकलते ही जो शुभाशुभ भाव होते हैं, उनका फल संसार है। समस्त संसार दुःख रूप है। सर्वार्थसिद्धि के भव का भाव भी दुःख रूप है।

योगीन्द्र देव ने निजसंबोधन के लिये इन दोहों की रचना की है, यह निमित्त का कथन है। दोहों के रजकणों के स्कंध की क्रिया तो स्वतंत्र हुई है। उसके कर्ता मुनिराज नहीं, ऐसा मुनिराज स्वयं पुकार कर कहते हैं, परन्तु जब दोहे रचे गये तब मेरा विकल्प निमित्त था, ऐसा यहां कहा है। वास्तवमें तो इन विकल्पों में भी मैं नहीं। मुझे तो उनका मात्र ज्ञान हुआ है। स्वपर के कथन करने की सामर्थ्य शब्दों में है, मेरे भगवान आत्मा के भाव तो उसे छूते भी नहीं।

तीनकाल तीनलोक में भगवान आत्मा एक रूप है। स्वभाव में विकार करने का गुण नहीं है। राग और पर का आत्मा अकर्ता और अभोक्ता है उसमें अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व नाम का गुण है। यदि राग को करने और भोगने का आत्मा में गुण हो तो तीनकाल में भी आत्मा की मुक्ति नहीं होगी।

योगीन्द्र देव मुनिराज कहते हैं मुझे भवभ्रमण का भय है। देखो ! पहले के संत भी भवभीरु थे। तीन ज्ञान के धारी तीर्थंकर जैसे भी संसार की ओर पीठ करके भागे। जैसे पीछे बाघ आता है तो मनुष्य जैसे भागता है, वैसे ही संत भवभ्रमण के दुःख से डर कर संसार से भागते हैं।

संयोग अनुकूल हो तो सुख, प्रतिकूल हो तो दुःख, शुभभावों से लाभ, ऐसी मान्यता वह मिथ्यात्व है ऐसा जीव अपने अतीन्द्रिय सुख को पहचान सकता नहीं और इन्द्रिय सुख का ही लोलुपी बना रहता है। उसका इन्द्रिय विषयों की अनुकूल सामग्री में से राग और प्रतिकूल सामग्री में द्वेष नहीं छूटता। मिथ्यादृष्टि ज्ञेयों के दो भाग करके राग-द्वेष करता है, जाननहार रहता नहीं, इस कारण दुःखी है।

बाहर की अनुकूलता में उल्लसित वीर्य है वह आत्मा का रोग है। उस रोग को टालने का उपाय आत्मा का शरण है। आचार्य कहते हैं मुझे, संसार का भय है, मुझे राग-द्वेष विकार का भय है। मैं उनमें पड़ना नहीं चाहता। मैं तो राग-द्वेष रहित स्वभाव में रहना चाहता हूँ।

आत्मिक आनन्द का ही भोग करने जैसा है। निराकुल अतीन्द्रिय सुख ही भोगने लायक है। ऐसी शुद्धात्म की भावना करके आचार्यों ने अपना हित किया है। तथा

शब्दों में भावों की स्थापना करके जो दोहों की रचना की है, वह पाठकों के अति उपकार का निमित्त है ।

मंगलमय अरहंत को, मंगल सिद्ध महान,  
आचारज, पाठक, यति, नमं नमं सुखदान ।  
परमभाव परकास का कारण आत्म विचार,  
जिंह निमित्त से होय, सो वंदनीक बारंबार ।

इति आचार्य श्री योगीन्दुदेव रचित योगसार ग्रंथ पर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन सम्पूर्ण ।

